यज्ञ और योग

आचार्य अभयदेव

सम्पादक :
डा० सुरेशचन्द्र त्यागी
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
एम० एस० कालेज, सहारनपुर

प्रकाशक :
श्री अरविन्द निकेतन
चरथावल–251311

वितरक :
आशिर प्रकाशन
रामजीवन नगर, चिलकाना रोड
सहारनपुर–247001

मुद्रक :
नवयुगान्तर प्रेस
पो० बा० 333
शारदा रोड, मेरठ–250002

प्र० सं० अक्तूबर, 1984
मूल्य चालीस रुपये

□ YAJNA AUR YOGA
□ ACHARAYA ABHAY DEV
□ OCTOBER 1984
□ Rs. FORTY ONLY

दिशा

दिशा बोध

आचार्य अभयदेव (सन् 1896–1970 ई०) उन व्यक्तियों में से थे जो कीर्ति की परवाह किये बिना अपने मिशन पर बढ़ते रहते हैं। उन्होंने अपनी अधूरी आत्म-कथा में स्वयं को योगयात्री या योगमार्ग का पथिक कहा है। उनकी यात्रा का आरंभ बचपन में ही हो गया था और अन्तिम सांस तक वह अनवरत और अनथक रूप से आगे-आगे बढ़ते रहे। इस यात्रा के दौरान वह अनेक गुरुओं (लाला मुरारीलाल जी, अच्युत मुनि जी, कृष्णानन्द जी, सियाराम जी और स्वामी सत्यानन्द जी महाराज) के सम्पर्क में आये, अनेक योग-पद्धतियों की साधना की ओर अनेक उतार-चढ़ाव देखे। योग-यात्रा की वह कथा रोचक और प्रेरक तो है ही, आन्तरिक लोकों की विलक्षण झांकियाँ भी उसमें हैं। लेकिन योग केवल बन्द कमरे में आसन और प्राणायाम करना नहीं, केवल अन्तर्मुख होकर निष्क्रिय बैठ जाना नहीं, जीवन-समर में उत्साहपूर्वक लड़ना और समाज के बीच रहकर चेतना—अपनी और समाज की—का रूपान्तर करना भी योग है। बल्कि वही सच्चा योग है।

अपने सामाजिक, राजनैतिक एवं आध्यात्मिक चिन्तन में आचार्य अभयदेव जिन महापुरुषों से अत्यधिक प्रभावित हुए, वे हैं—स्वामी श्रद्धानन्द, महात्मा गांधी और श्री अरविन्द। इन सबसे आचार्य जी का व्यक्तिगत और निकट का सम्पर्क रहा। स्वामी श्रद्धानन्द के श्री चरणों में बैठकर गुरुकुल कांगड़ी की सेवा और आर्य समाज का प्रचार-प्रसार, महात्मा गांधी के निर्देशन में असहयोग आन्दोलन में सक्रिय रहकर गाँव-गाँव जाकर जन-जागरण का कार्य और जेल-यात्रा तथा श्री अरविन्द के चरणों में विनत होकर त्याग और समर्पण का आदर्श प्रस्तुत करना आचार्य अभयदेव के व्यक्तित्व के ऐसे पहलू हैं जिन पर अलग-अलग बहुत कुछ कहा जा सकता है। यहाँ केवल संकेत करना चाहता हूँ।

स्वामी श्रद्धानन्द का आचार्य जी पर अपूर्व स्नेह था। स्वामी श्रद्धानन्द उन्हें आर्य समाज के शिमला उत्सव में साथ ले गये थे, यद्यपि तब आचार्य जी गुरुकुल कांगड़ी के छोटे विद्यार्थी ही थे। सन् 1921 में स्वामी श्रद्धानन्द जी के आदेश से ही अभयदेव गुरुकुल कांगड़ी में वैदिक तत्त्व शोधन के कार्य में प्रवृत्त हुए थे। अपनी 'श्रद्धा' पत्रिका में स्वामी श्रद्धानन्द ने 'विचार तरंग' स्तम्भ के अन्तर्गत आचार्य जी के अनेक लेख छापे थे जो उनकी विद्यार्थी-काल की रचनाएँ हैं। लगभग चौदह वर्ष तक गुरुकुल कांगड़ी की सेवा के बारे में आचार्य जी ने लिखा है कि "वह स्वामी श्रद्धानन्द जी की सेवार्थ थी, यह कहा जा सकता है क्योंकि वह गुरुकुल-सेवा वस्तुतः उनके वैयक्तिक प्रेम के प्रत्युत्तर रूप थी, यही कह सकता हूँ।" स्नातक होने के बाद आचार्य

जी ने अपने गाँव चरथावल में राजनैतिक सम्मेलन किया तो स्वामी श्रद्धानन्द अपने शिष्य के प्रति स्नेहवश ही उसमें सम्मिलित होने पहुंचे थे। आचार्य जी ने अपनी प्रथम प्रकाशित पुस्तक 'वैदिक उपदेश माला' स्वामी श्रद्धानन्द के चरणों में समर्पित की थी। उन्होंने एक जगह लिखा है कि "मेरे जीवन में जो गुरुकुल और आर्यसमाज की भावना तथा देशसेवा की उमंग और आध्यात्मिक उन्नति की अभीप्सा का मिश्रण था, वह उनकी शिक्षा का फल था।" आचार्य अभयदेव द्वारा सम्पादित 'अलंकार' (लाहौर) मासिक का श्रद्धानन्द विशेषांक (जनवरी 1935) आज भी पठनीय है।

यद्यपि 'यंग इंडिया' और 'नवजीवन' के लेखों के माध्यम से आचार्य जी महात्मा गांधी के भक्त हो चुके थे और तीन-चार बार दूर से दर्शन भी कर चुके थे लेकिन प्रथम भेंट 2 जनवरी 1928 को साबरमती आश्रम में हुई। गुरुकुल कांगड़ी की रजत जयन्ती के अवसर पर महात्मा गांधी पधारे थे तो उन्हें बतलाया गया था कि आचार्य देवशर्मा (तब 'अभयदेव' नाम नहीं था) छुट्टी लेकर एकान्त में योग-साधना करने गये हुए हैं। प्रथम भेंट में महात्मा गांधी ने एकान्तवास की आध्यात्मिक अनुभूतियों के बारे में बातचीत की। महात्मा गांधी की आज्ञा से आचार्य जी एक माह तक साबरमती आश्रम में रहे। इसी बीच महात्मा गाँधी अस्वस्थ हुए तो ऐसे आदमी की आवश्यकता हुई जो उनकी व्यक्तिगत सेवा में रहे, जो अनावश्यक बातचीत से दूसरों को रोके और जो स्वयं भी मौन रह सके। जमनालाल जी ने आचार्य जी को वहाँ तैनात कर दिया और कहा कि आप यह कार्य करें। इस बीच महात्मा गांधी और पूज्या बा को निकट से देखने-समझने का अवसर अनायास मिल गया। गांधी जी प्रातः सायं जो प्रवचन करते थे, वह गुजराती में होता था। बहुत से लोग उसे समझ नहीं पाते थे। आचार्य जी ने एक दिन सभा में कहा कि बापू यदि हिन्दी में बोलें तो सबका लाभ होगा। गांधी जी ने इस आग्रह को मानकर एक समय हिन्दी और दूसरे समय गुजराती में प्रवचन करने का निर्णय किया। एक माह के बाद साबरमती से लौटते समय आचार्य जी ने महात्मा गांधी से कहा—"देश की सेवा के लिए, सत्य और अहिंसा द्वारा स्वराज्य प्राप्त करने के लिए आप मुझे भी अपना एक सिपाही स्वीकार कर लें। मैं आपका आज्ञानुवर्त्ती रहूँगा।" कहना न होगा कि आचार्य अभयदेव महात्मा गांधी के एक निडर सिपाही बने और दूसरों के लिए भी अनुकरणीय हो गये। दोनों के बीच का पत्राचार अब उपलब्ध नहीं है क्योंकि आचार्य जी को पत्र सुरक्षित रखने की आदत नहीं थी। फिर भी कुछ पत्र उनके कागजों में मिले हैं। आचार्य जी की पुस्तक 'ब्राह्मण की गौ' महात्मा गांधी ने डांडी मार्च में पढ़ी थी। गांधी जी के ही प्रभाव से आचार्य जी ने हरिद्वार में गांधी सेवा आश्रम की स्थापना की थी जिसके उद्घाटन समारोह में पं० गोविन्दवल्लभ पंत और पं० सुन्दरलाल पधारे थे।

जिन दिनों श्रीनगर (गढ़वाल) के निकट आचार्य अभयदेव अज्ञातवास में योग-साधना कर रहे थे, उन दिनों श्री तारादत्त गैरोला (गढ़वाल के एक वकील) ने उन्हें

फटी पुरानी दशा में श्री अरविन्द की 'एसेज ऑन द गीता' पुस्तक लाकर दी। उसे पढ़ते हुए 1 जून 1927 को आचार्य जी को एक अपूर्व अनुभूति हुई—'ओह, मैंने देख लिया, पा लिया।' सात बार पृथ्वी पर गिरकर उसे प्रणाम किया और अश्रुपात होने लगा। तब सोचा कि जिसकी वाणी में, लेखनी में ऐसी शक्ति है, वह स्वयं कैसा होगा ? यह जिज्ञासा फरवरी 1935 में शांत हुई, जब आचार्य जी ने पांडिचेरी जाकर श्री अरविन्द के दर्शन किये। उन्होंने एक लेख में लिखा है कि "जब मैं सोचता हूँ कि मैं जन्म का आर्यसमाजी और फिर कट्टर गांधी भक्त श्री अरविन्द का इतना उपासक कैसे हो गया तो मैं यहीं पाता हूँ कि श्री अरविन्द के साहित्य ने मुझे बुरी तरह खींच लिया है। मैं सदा और निरन्तर यह अनुभव करता हूँ कि श्री अरविन्द का कुछ भी लेख (श्री माताजी का लेख भी उसमें समाविष्ट है) जब मैं पढ़ता हूँ तो तुरन्त मैं ऊँची चेतना में उठ जाता हूँ। उनकी वाणी के स्पर्श का मेरे मन व आत्मा पर ऐसा प्रभाव पड़ता है कि मेरी चेतना ऊपर उठ जाती है। यह अनुभव सतत है और सुस्पष्ट है। ऐसा अनुभव होता है कि उनकी वाणी का एक-एक शब्द एक ऐसे ऊँचे प्रकाश से भरा हुआ है, जगमगा रहा है जो प्रकाश मेरी आत्मा को बड़ा प्रिय है, मेरी बुभुक्षित आत्मा की भूख को मिटाता सा है, उसे भोजन देता है, बड़ी तृप्ति प्रदान करता है।" श्री अरविन्द के सर्वांगीण योग के साधक होकर आचार्य अभयदेव को जो आन्तरिक अनुभव हुए, उन्हें वे लिख नहीं सके। इसीलिए उनकी आत्मकथा अधूरी है। मैंने श्री अरविन्द सोसाइटी के उत्तर प्रदेशीय सम्मेलन की स्मारिका 'अभीप्सा' में श्री अरविंद एवं श्रीमां और आचार्य जी के बीच हुआ पत्राचार छापा था जो आचार्य जी की यौगिक अनुभूतियों और गुरुद्वय के मार्ग-निर्देशन का साक्षी है।

'यज्ञ और योग' के सन्दर्भ में उपर्युक्त तीन महापुरुषों का स्मरण मुझे इसलिये उपयुक्त लगा कि इस संकलन में प्रकाशित लेखों पर इनकी छाप देखी जा सकती है। वैदिक धर्म, गुरुकुल, अदिति, वेदसुधा आदि में प्रकाशित इन लेखों को एकत्र करने में जो कठिनाई हुई, उसका उल्लेख अनिवार्य नहीं है। यह अवश्य कथनीय है कि पुस्तकों, पत्र-पत्रिकाओं के रख-रखाव की ओर पढ़े-लिखे व्यक्ति भी रुचि नहीं रखते और न पुस्तकालय ही इस ओर ध्यान देते हैं। इन लेखों में देखा जा सकता है कि राष्ट्रीय विचार धारा के प्रचार-प्रसार में आचार्य अभयदेव अपनी लेखनी और वाणी का कैसा उपयोग कर रहे थे। उनका प्रत्येक लेख राष्ट्रीय चेतना से अनुप्राणित है। 'भारतवर्ष में यज्ञ की कमी' एक लघु प्रबन्ध ही है जो श्रीपाद दामोदर सातवलेकर के सम्पादन में प्रकाशित 'वैदिक धर्म' (सन् 1925-26) में छपा था। यज्ञ का ऐसा विस्तृत और गम्भीर राष्ट्रीयता से परिपूर्ण विवेचन आज भी प्रेरक लगता है। इस लेख के अन्त में यदि वह कामना करते हैं कि 'हम ऐसे बनें कि हमारे देश में यज्ञ प्रजापति की जय हो।' तो दूसरे निबन्ध 'योग मार्ग से अरुचि या भय के कारण' में परमात्मा से प्रार्थना करते हैं कि यह भारत देश फिर से योगियों की लीलाभूमि बने। उनका विचार है कि "योगी जितना भारी परोपकार

तथा सच्चा कर्म कर सकता है और करता है, उतना अयोगी कभी नहीं कर सकता।' 'योग चिकित्सा' श्री अरविन्द निकेतन, चरथावल में शुरू किये गये आतुरालय के उद्घाटन अवसर पर लिखी गई पुस्तिका है। छोटी सी पुस्तिका के रूप में प्रकाशित 'मन नहीं टिकता क्या करें ?' को भी मैंने इसी संकलन में शामिल कर लिया है क्योंकि इसमें योग-साधना से सम्बन्धित जिज्ञासाओं के अनुभव जन्य समाधान हैं। 'अदिति' में धारावाहिक रूप में 'जिज्ञासुओं की सेवा में' स्तंभ निकलता था जिसके अन्तर्गत आचार्य जी पाठकों के प्रश्नों के उत्तर देते थे। व्यावहारिक योग-साधना में साधक सदैव इन प्रश्नों का सामना करता है। वर्णों के बारे में आचार्य जी की विचार धारा कई लेखों में व्यक्त हुई है। ये लेख 'गुरुकुल' में छपे थे। 'काश्मीर का शैववाद' जैसे लेख इस क्षेत्र में आचार्य जी की बहुज्ञता के प्रमाण हैं! 'सच्ची शिक्षा' और 'दीक्षित जीवन' शिक्षा से सम्बन्धित लेख हैं जिनमें आचार्य जी की शैक्षिक विचार धारा पर प्रकाश पड़ता है। 'आचार्य का संन्यास' पं० केशवदेव ज्ञानी का लेख है जो 13 मई 1938 के 'गुरुकुल' में छपा था। यह इसलिए शामिल किया गया है क्योंकि आचार्य जी द्वारा संन्यास ग्रहण करने की घटना का यह प्रत्यक्ष प्रामाणिक दस्तावेज है।

मुझे आशा है कि आचार्य अभयदेव के इधर-उधर बिखरे कुछ लेखों का यह संकलन उनके परिचय-वृत्त में आने वाले महानुभावों को ही हर्षित नहीं करेगा बल्कि उन्हें भी प्रसन्न करेगा जो योग-साधना करने के इच्छुक हैं या योग-मार्ग पर बढ़ रहे हैं।

2 अक्तूबर 1984 **सुरेश चन्द्र त्यागी**
सहारनपुर (उ० प्र०)

आचार्य अभयदेव



2 जुलाई 1896 — 9 जनवरी 1970

फोटो—विद्याव्रत, श्री अरविन्द आश्रम, पांडिचेरी

भारतवर्ष में यज्ञ की कमी

आचार्य जी का यह लम्बा लेख 'वैदिक धर्म' में नवम्बर 1925 (कार्तिक सवत् 1982, वर्ष 6 अंक 11) से मई 1926 (वैशाख सम्वत् 1983, वर्ष 7 अंक 5) तक प्रकाशित हुआ था। 'वैदिक धर्म' के सम्पादक थे श्रीपाद दामोदर सातवलेकर और यह स्वाध्याय मण्डल, औंध (जिला सतारा) से छपता था। 'वैदिक धर्म' में यह लेख 45 प्रकरणों में अलग अलग शीर्षक देकर छपा था। यहां प्रकरण संख्या और शीर्षक हटा दिये गये हैं। शेष ज्यों का त्यों है।

—सम्पादक

इस देश में होने वाले किसी भी सार्वजनिक कार्य की गति को देखते हुए यह अनुभव हुए बिना नहीं रहता कि हम लोग 'यज्ञ' को नहीं समझते। 'यज्ञ' शब्द का उच्चारण बेशक हम लोग ही करते हैं परन्तु जो यज्ञ-वस्तु है, उसे हम ही सबसे कम समझते हैं। संसार के अन्य उन्नत देशों में 'यज्ञ' शब्द तो बोला नहीं जाता (क्यों कि उनकी भाषाएँ हमसे भिन्न हैं) परन्तु यज्ञवस्तु का अनुष्ठान हमारी अपेक्षा वे बहुत अधिक करते हैं, इसीलिये वे उन्नत और सुखी हैं।

हमारे लिये यज्ञ शब्द मुर्दा हो गया है। वेदों और शास्त्रों में, सब प्राचीन संस्कृत साहित्य में हम 'यज्ञ' शब्द बार बार पढ़ते हुए भी किसी सजीव वस्तु का बोध नहीं प्राप्त करते हैं। हमारा सब साहित्य ही मृतप्राय है। यह बहुत थोड़ों के लिए जीवित रूप में है। शब्द जीवित तब होते हैं, जब उनके अर्थों का किसी जन सम्प्रदाय में मनुष्य जीवन के साथ सम्बन्ध होता है। जिन शब्दों का केवल उच्चारण शेष रह जाता है और उनके अर्थों से जीवन का कुछ सम्बन्ध नहीं रहता, वे शब्द मर जाते हैं और उनसे बने साहित्य भी मर जाते हैं। तो स्पष्ट है कि हम वैदिक धर्मावलम्बियों का क्या कर्तव्य है जो कि वैदिक साहित्य को पुनरुज्जीवित करना चाहते हैं? वैदिक साहित्य में वर्णित बातों को अपने दैनंदिन व्यवहार में लाना चाहिये। इसके बिना कभी भी वैदिक साहित्य जीवित नहीं हो सकता। यहां तो 'यज्ञ' का प्रकरण चल रहा है हमें अपने जीवनों को 'यज्ञीय' बनाने का यत्न करना है चाहिये। जितना जितना हम यज्ञवस्तु को अपने दैनिक जीवन में बरतेंगे उतना उतना ही यज्ञ का तत्त्व, यज्ञ का रहस्य, यज्ञ का वास्तविक अर्थ प्रगट होता जाएगा

और धीरे-धीरे इसी प्रकार हमें यज्ञ का असली तत्त्व स्पष्टतया प्रकाशित हो जाएगा, तथा हमारे बहुत से भ्रम दूर हो जायेंगे । हमारे शास्त्रों में जो यज्ञ के बड़े बड़े आश्चर्य कारी फल बतलाए हैं, तब हम उन्हें न केवल सत्य समझेंगे बल्कि उन्हें साक्षात् प्राप्त किया करेंगे । तब हमारे शास्त्रों को कौन मुर्दा कह सकेगा ? यज्ञ जैसे एक महत्त्व के विषय को पुनरुज्जीवित करना हमारी बहुत ही भारी सफलता होगी ।

वैदिक साहित्य में यज्ञ का बड़ा भारी माहात्म्य है, यह बात तो इसी से प्रगट है कि इस सभी साहित्य में—इस साहित्य की प्रत्येक पुस्तक में—यज्ञ चर्चा भरी पड़ी है ।

प्राचीन वैदिक साहित्य में से यदि सब यज्ञ सम्बन्धी स्थलों का उद्धरण मात्र किया जाय तो एक बड़ा भारी पोथा बन जाएगा । बहुत से लोग तो मानते हैं कि वेद में केवल यज्ञ का ही विषय है । हम भी इसे ठीक समझते हैं परन्तु केवल भेद इतना है कि हम यज्ञ का अर्थ बहुत विस्तृत समझते हैं । 'याज्ञिक' कहलाने वाले लोग जिस वस्तु को यज्ञ कहते हैं, हमारा यज्ञ उससे बहुत विशाल है, व्यापक है । बल्कि हम तो कहते हैं कि चारों वेद पैदा ही यज्ञ से हुए हैं—

तस्माद्य ज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।

इत्यादि ! अस्तु । हम यहां तो यह कह रहे हैं कि वैदिक साहित्य में सर्वत्र यज्ञ का वर्णन है । वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, गीता (महाभारत) आदि सब ग्रंथों में जो यज्ञ का बहुत बहुत व्याख्यान है, वह बतलाता है कि वैदिक धर्म में यज्ञ का माहात्म्य कितना अधिक है और वह हमारा स्वभावतः ध्यान खींचता है कि हम ऐसी अद्भुत वस्तु को जानें कि यज्ञ क्या है ।

इस यज्ञ माहात्म्य के प्रकरण में निम्नलिखित वेद मन्त्र ध्यान देने योग्य हैं—

अयं यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिः ।

ऋ० 1/164.35 यजु० 23/62 अथ० 9/10/14

अर्थात् 'यह यज्ञ सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की नाभि है, बान्धने वाला है ।' यह मन्त्र ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद तीनों में आता है । इससे पहिले मन्त्र में प्रश्न किया गया है—

पृच्छामि विश्वस्य भुवनस्य नाभिम्

ऋ० 1/164/35, यजु० 23/61, अथ० 9/10/13

इस मन्त्र के चारों पादों में चार ही प्रश्न हैं और अगले मन्त्र में क्रमशः इन चारों के उत्तर हैं । शेष तीन प्रश्नों का यहां प्रसंग न होने से उन्हें छोड़ दिया है और यहां एक एक पाद ही दोनों मन्त्रों का उद्धृत किया है । प्रश्न यह है कि—'मैं तुझ से पूछता हूँ कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को बांधने वाली वस्तु कौन है ? इसका उत्तर दिया है कि यह यज्ञ इस संसार को बांधने वाला है—

अयं यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिः

तो फिर यह जानना चाहिये कि यह यज्ञ क्या है, कहां है जिससे कि सब संसार बंधा हुआ है ?

'भारतवर्ष में यज्ञ की कमी' यह शीर्षक देखकर कई लोग समझेंगे कि शायद मैं इस लेखक द्वारा इस बात पर जोर देने लगा हूं कि भारतवर्ष में प्रत्येक घर में प्रातः और सायं अग्निहोत्र होना चाहिये । परन्तु यह बात तो दूर है । अन्य उन्नत देशों की अपेक्षा तो इस बात की भारत में कमी भी नहीं है । यज्ञ और अग्निहोत्र में भेद है । अग्निहोत्र भी एक प्रकार का यज्ञ है अर्थात् यज्ञ अग्निहोत्र से एक बहुत व्यापक वस्तु है । यज्ञ वह है जिससे कि सब ब्रह्माण्ड बंधा हुआ है, बिखरता नहीं । अग्निहोत्र तो गृहस्थाश्रमियों के नैत्यिक कर्मों में से एक कर्म है । परन्तु यह कर्म भी वृथा है जब तक कि हम यज्ञ के असली अर्थ को नहीं समझते । वह असली अर्थ क्या है ? इसे प्रकट करने के लिए मैं निम्नलिखित शब्दों को प्रयोग करूंगा—

'मेल, मिलना, जुड़ना, सम्बन्ध रखना, ठीक तरह जुड़ना, ठीक तरह सम्बन्ध स्थापित रखना ।'

इन शब्दों का स्पष्टीकरण आगे इसी लेख में आता जायगा । यहां केवल यह अभीष्ट है कि पाठकों को पता लगे कि यज्ञ के अर्थ में मुख्य बात 'संगतिकरण' है या वेद के भावानुसार कहा जाय तो 'बांधे रखना' (नाभि) यज्ञ का मुख्य चिह्न है । परन्तु यज्ञ का एक अर्थ क्या हुआ ? यज्ञ का लक्षण क्या है ? यदि यह मुझसे पूछा जाय तो मैं कहूँगा कि मिल कर किये जाने वाले शुभ कर्म का नाम यज्ञ है ।

यही यज्ञ का लक्षण । है यही यज्ञ का मुख्य अर्थ है । इसी अर्थ में वेद शास्त्रों में यह शब्द मुख्यतया कहा गया है । यह मेरी स्थापना है । इस स्थापना के आधार पर ही मेरा अन्य सब कथन है । अतः इसे बिना सिद्ध किये आगे चलना कठिन है । उपर्युक्त लक्षण ही यज्ञ का मुख्यार्थ है । यदि इस पर पाठकों का विश्वास न हुआ तो मेरा यह लेख लिखने का श्रम ही व्यर्थ जायेगा । अतः पहिले इस स्थापना को पुष्ट, प्रमाणित और स्पष्ट करके हम आगे चलेंगे । आशा है पाठक धैर्य रखेंगे यदि इसके कारण भारत वर्ष में यज्ञ की कमी कैसे है, यह दिखलाने में कुछ विलम्ब हो जाय ।

यज्ञ का स्वरूप समझना और समझाना अवश्य बड़ा कठिन है । परन्तु सत्यान्वेषण के लिये हमें यह दुःसाहस या सुसाहस ही करना चाहिये । चाहे पीछे से कोई साहस दुःसाहस साबित हो, परन्तु सत्यान्वेषण में वह भी सहायक होता है । अस्तु । प्राचीन साहित्य में, 'यज्ञ' शब्द बहुत से भिन्न भिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है अतः स्वभावतः स्वाध्यायकर्त्ता विचलित हो जाता है कि फिर यज्ञ का मतलब क्या हुआ ? परन्तु हमारी समझ में उन सब यज्ञ के अर्थों में एक सूत्र होना चाहिये और है । उस सूत्र को जहां तक मैंने पहिचाना है, मैं इसी निश्चय पर पहुँचा हूं कि वह सूत्र वह है जिसे कि ऊपर मैंने 'मेल, मिलना, जुड़ना, ठीक तरह संबन्ध स्थापित

रखना' इन शब्दों से प्रकट करना चाहा है। इस सूत्र को सर्वत्र गया हुआ दिखलाने के लिए 'यज्ञ' शब्द के जो जो वाच्य प्राचीन साहित्य में हुए हैं, उन्हें एक क्रम से रखता हूं। आशा है पाठक गण इनकी व्याख्या पढ़ते हुए इस सूत्र को सुगमता से इनमें देखते जायेंगे। पहिले इन यज्ञ वाच्य अर्थों को केवल गिनाता हूँ—

(1) परमात्मा यज्ञ है।

(2) यह संसार यज्ञ है।

(3) संगठित मनुष्य समुदाय यज्ञ है।

(4) मनुष्य जीवन यज्ञ है।

(5) मनुष्य का प्रत्येक श्रेष्ठ कर्तव्य कर्म भी यज्ञ वाच्य है।

इन अर्थों के अतिरिक्त यदि कोई अन्य यज्ञ वाच्य रह गये हुए पाठकों को प्रतीत होंगे तो वे आगे देखेंगे कि इन पांच या पांच प्रकार के अर्थों की व्याख्या में वे संभवतः आ जायेंगे। अस्तु। पाठकों को ध्यान होगा कि इन पांच अर्थों में तीसरा अर्थ ही मुझे मुख्य अभिप्रेत है। यही दिखलाता हुआ कि यह तीसरा अर्थ ही यज्ञ का मुख्यार्थ है, मैं क्रमशः इन पांचों का स्पष्टीकरण करता हूँ।

(1) सबसे पहिले परमात्मा का नाम यज्ञ है। उसने इस सब संसार को पूर्णतया ठीक ठीक जोड़ा है अर्थात् उसने अपने यज्ञ रूप से इस संसार को रचा है। अतएव पुरुष सूक्त में इस परमात्म पुरुष को बार बार यज्ञ नाम से पुकारा है। परमात्मा में यज्ञ की भी पराकाष्ठा है—

यज्ञो यत्र पराक्रान्तः।

अतएव मनुष्य के किये हुए सब यज्ञों का अन्तिम एकमात्र विषय वही है। वह यज्ञरूप है। इसलिये उसे यज्ञ शब्द से पुकारा जाता है।

परन्तु परमात्मा तो सब कुछ है अतः यज्ञ भी है। वह सब का मूल है, अतः संसार व्यापक यज्ञ का मूल भी वही होने से उसका नाम यज्ञ भी हो गया। जैसे अग्नि वायु आदि उसके सैंकड़ों नाम हैं वैसे ही यज्ञ भी एक उसका नाम है यज्ञ उसका मुख्य नाम नहीं है।

(2) यह संसार यज्ञ है। वेद में बहुत जगह इस संसार को यज्ञ कहा है। यह असल में यज्ञ है। यज्ञ का अर्थ इसीमें स्पष्टतया दीखता है। परमात्मा तो इसमें भी यज्ञत्व का देने वाला होने के कारण यज्ञ कहलाया है। यह संसार बड़ी अच्छी तरह ठीक ठीक जुड़ा हुआ है, इसमें सब कार्य ठीक-ठीक अटल नियमों द्वारा इस तरह हो रहे हैं कि यहां सर्वदा सब वस्तुएं ठीक-ठीक स्थानपर ठीक-ठीक सम्बन्ध में विद्यमान रहती हैं। यह संसार ठीक तरह बंधा हुआ है। ऐसा बंधा हुआ है कि मिलकर एक वस्तु बना हुआ है, इतनी अच्छी तरह बंधा हुआ है कि यह सब मिलकर पूर्ण है—

'पूणात्पूर्णमुदचति'

यह संसार यज्ञ है।

परन्तु इस पूर्ण यज्ञका कर्ता है परमात्मा। इसी लिए यह यज्ञ पूर्णतया सदा

बिना त्रुटिके चल रहा है। हम अल्पज्ञ, अल्पशक्ति जीवों में से कोई इस यज्ञ को नहीं कर सकता है। अतः हमारे लिये यह यज्ञ भी गौण है। इसे हमने नहीं करना है। यह परमात्मा का यज्ञ है। हमें तो वह यज्ञ जानना है जो कि हम मनुष्यों ने करना है। वह इन दोनों में से कोई नहीं है।

(3) इन दो यज्ञों के बाद जो शेष तीसरा, चौथा, पांचवाँ यज्ञ रह गये हैं वे हम मनुष्यों ने करने हैं, ऐसा कहा जा सकता है। परन्तु इनमें भी चौथे के विषय में वास्तव में ऐसा नहीं कहा जा सकता है जैसा कि चौथे की व्याख्या में बतलाया जायेगा तथा पांचवें को यज्ञांग होने से ही यज्ञ कहा जाता है, यह भी वहीं दिखलाया जायेगा। अतः यह तीसरा अर्थात् 'मनुष्यों का संगठित समुदाय' ही मुख्य यज्ञ है जो कि मनुष्य ने करना है। इसी वास्तविक यज्ञ की भारतवर्ष में बहुत कमी है। क्यों कि पीछे इस सब लेख में इसी असली यज्ञ की व्याख्या होनी है अतः यहाँ इस पर कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं है। केवल इतना कह देना आवश्यक है कि सब सभा, समिति, संग्राम इसी यज्ञ में आते हैं अर्थात् सब संगठन, सब संघ, सब संस्थायें इसी में समाविष्ट हैं, कर्म काण्ड के प्रसिद्ध बड़े-बड़े (आज कल यज्ञ शब्द इन्हीं में बहुत ·युक्त होता है) राजसूय विश्वजित् आदि यज्ञ इसी तीसरे प्रकार के अर्थ में आते हैं।

(4) फिर मनुष्य जीवन यज्ञ है। ऊपर संसार को यज्ञ कहा है जिस का कि कर्ता परमात्मा है। मनुष्य भी संसार की एक छोटी सी प्रतिमा है। यह मनुष्य जीवन भी एक यज्ञ है जिसे कि जीवात्मा (इन्द्र) शतक्रतु बनकर सौ वर्ष तक चलाता है। मनुष्य-जीवन यज्ञ है इसका बड़ा सुन्दर वर्णन छांदोग्योपनिषद् में हुआ है। पर मनुष्य जीवन क्या है? अपने अन्दर की सब वस्तुओं को ठीक जोड़े रखना, उनका सम्बन्ध बिगड़ने न देना और साथ ही संसार के साथ सम्बन्ध न बिगाड़ना। संबन्ध बिगड़ते ही यज्ञ विध्वंस हो जाता है। रोग या कोई अन्य कष्ट आते हैं। इस पवित्र यज्ञ को बड़ी सावधानी से चलाना चाहिये।

परन्तु पाठकों को देखना चाहिए कि यह यज्ञ मनुष्य का प्रारंभ किया हुआ नहीं है। यह प्रारम्भ तो परमात्मा का किया हुआ है। मनुष्य ने तो इसे ठीक तरह चलाना है या (ऐसा कहना अधिक ठीक है) चलते रखना है। परमात्मा के यज्ञ का, संसार का मनुष्य भी एक अवयव है। अतः यह भी एक तरह उसी का यज्ञ है, परन्तु उसने इसे चलाने का काम अपनी आधीनता में जीव को सौंप रखा है। मनुष्य की दृष्टि यही होनी चाहिये कि यह मेरा जीवन परमात्मा की वस्तु है, उसके यज्ञ का एक अंग है, इसे बिगड़ने न देना तथा संसार यज्ञ में काम आने के लिए इसे ठीक तरह चलाना ही उसका कर्तव्य है। अस्तु। तात्पर्य यह है कि यह यज्ञ भी वह नहीं है जिसे कि मनुष्य ने स्वयं रचना है, चलाना है और पूर्ण करके लाभ प्राप्त करना है। ऐसा यज्ञ तो उपर्युक्त 'मनुष्य संगठन' ही है। इस मनुष्य यज्ञ को तो मनुष्य ने संसार यज्ञ के आधीन चलते रखना है। बस यही कर्तव्य है परन्तु इस कर्त्तव्य के लिए जो उसने स्वयं यज्ञ रचने हैं और चलाने है वे नाना प्रकार के मनुष्य संगठन रूप यज्ञ है।

इस बात को और स्पष्टतया देखने के लिए यों विचारना चाहिये कि यज्ञ एक पुरुष है। यज्ञ पुरुष का वर्णन हमारे साहित्य में प्रायः पाया जाता है। यहाँ पुरुष का अर्थ है 'अवयववान् शरीर' या 'संगठन' (Organized Body या Organization)। संसार और मनुष्य ये दोनों यह 'पुरुष' हैं (Organism हैं)। संसार भी पुरुष है, विराट् शरीर प्रसिद्ध है। मनुष्य तो पुरुष (Organization) है ही। परन्तु ये दोनों (संसार और मनुष्य) पुरुष (Organization) पहिले से बने हुए हैं। मनुष्य ने जो पुरुष बनाना है, अवयववान् शरीर बनाना है, वह अपने आपसे बनाना है अर्थात् मनुष्यों के सामुदायिक संगठन रूप में बनाना है। यह राष्ट्र पुरुष है या समाज पुरुष है एवं अन्य पुरुष हैं। यही (पुरुष) यज्ञ है जो कि मनुष्य ने करना है। इसलिए मैं कहता हूं कि मनुष्य ने जो यज्ञ करना है वह 'मिलकर किये जाने वाले किसी संगठित कार्य, के रूप में है। यही हमारे यज्ञ का अर्थ है। अस्तु। यहां तो इतना ही अभिप्रेत था कि मनुष्य जीवन यज्ञ भी वह यज्ञ नहीं है, जो कि मनुष्य ने करना है।

(5) यज्ञ का अन्तिम वाच्य अर्थ मनुष्य के प्रत्येक उस कर्म का है जिस से कि उसका इस (परमात्मा के) संसार के साथ ठीक सम्बन्ध जुड़ा रहता है। इस प्रकार प्रत्येक श्रेष्ठ कर्म का नाम, प्रत्येक कर्त्तव्य का नाम यज्ञ है क्यों कि उचित अर्थात् प्रकृति नियमों के अनुकूल कर्म से यह संसार संगत रहता है, जुड़ता है। हमारे प्रत्येक बुरे, नियमों के विपरीत कार्य से संसार बिगड़ता है, बिखरता है, हमारा जगत् से सम्बन्ध उखड़ता है और फलतः हमें क्लेश पहुंचता है। ये सब अयज्ञ कर्म हैं। भगवद्गीता में कहा है—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ॥

भ० गी० 3/9

'इस लोक में वे ही कर्म बन्धन होते हैं जो कि यज्ञार्थ के अतिरिक्त किये जाते हैं।' इसका अर्थ यह हुआ कि यज्ञार्थ कर्म ही हमें करने चाहिये क्योंकि यज्ञ के लिए, संसार यज्ञ को ठीक तरह चलने के लिए जो कर्म किये जाते हैं (वे निष्काम स्वयमेव ही होंगे) उनके करने से बन्धन कभी नहीं होता। अन्यत्र गीता में कहा है कि यज्ञ, दान और तप ये कर्म करने चाहिये। यदि यज्ञ का उपर्युक्त अर्थ लें तो दान और तप भी इसी में आ जायेंगे। इस प्रकार गीता का कहना है कि यज्ञ के अतिरिक्त और कुछ कर्म नहीं करना चाहिये अथवा हमारा प्रत्येक कर्म यज्ञ होना चाहिए। यज्ञ के इस अर्थ में बहुत से यज्ञ आजाते हैं। भगवद्गीता में चौथे अध्याय के 25 से 32 श्लोकों में जो बहुत से यज्ञों का वर्णन है, वहां यज्ञ इसी अर्थ में हैं।

'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि।'

यहां भी इसी अर्थ में यज्ञ शब्द है। सन्ध्या और अग्निहोत्र को यज्ञ इसी अर्थ में कहते हैं। पांचों महा यज्ञ प्रसिद्ध हैं। गीता में स्वधर्म पालन को ही यज्ञ कहा है। ये सब बातें यज्ञ के इसी अर्थ में संगत हैं। यदि प्रातः से सायं तक हमारा प्रत्येक

कर्म 'वह मेरा कर्म जगत्—यज्ञ के चलाने के लिए है', 'यह कर्म भगवान के लिए है' इस भावना से किया जाय तो हमारा प्रत्येक कर्म यज्ञ ही हो जायेगा और हम जीवन्मुक्ति का आनन्द लेंगे। परन्तु यज्ञ का यह अर्थ मेरी समझ में लाक्षणिक अर्थ है, मुख्य अर्थ नहीं। यहां यज्ञ के एक अंग कर्म को यज्ञ कहा जाता है या भगवद् गीता के शब्दों में 'यज्ञार्थ कर्म' को यज्ञ कह दिया जाता है। ये कर्म मुख्य अर्थ में यज्ञ नहीं है किन्तु संसार यज्ञ के या मनुष्य जीवन यज्ञ के या अन्य मनुष्यकृत संगठन यज्ञ के अंग होने से यज्ञ कहलाते हैं। उदाहरणार्थ राष्ट्रीय महासभा का चर्खा संगठन एक यज्ञ है जो कि प्रत्येक राष्ट्र सभासद के चर्खा चलाने से बना है। परन्तु व्यक्ति के चर्खा चलाने के कर्म के लिये भी यज्ञ शब्द का प्रयोग किया जा सकता है। तात्पर्य यह है कि यज्ञ के एक कर्म को भी यज्ञ कहा जाता है। इसे खूब ध्यान रखना चाहिए कि इस अर्थ में साहित्य में यज्ञ का बहुत बहुत प्रयोग हुआ है। यह ठीक भी है क्योंकि यज्ञ का एक कर्म अर्थात् सामाजिक यज्ञ में एक व्यक्ति का कर्म बड़े महत्व का है। मैं इसे 'वैयक्तिक यज्ञ' के नाम से कह सकता हूं। यद्यपि यह मुख्य यज्ञ नहीं है तो भी क्योंकि इनके बिना मुख्य सामाजिक यज्ञ नहीं बन सकता इसलिये इन यज्ञों की वैदिक साहित्य में इतनी चर्चा है तथा इन्हें यज्ञ नाम से ही पुकारा गया है। इनका विशेष वर्णन अन्त में किया जायेगा।

इन पांचों यज्ञार्थों की व्याख्या से यह स्पष्ट हो गया होगा कि पहला, दूसरा और चौथा यज्ञ ऐसा है जो कि स्वयं हो रहा है। इसे मनुष्य ने नहीं रचना है और पांचवा वास्तव में यज्ञ नहीं है किन्तु यज्ञार्थ कर्म है। इसलिये तीसरा ही वास्तविक यज्ञ है। हमारी यह स्थापना प्रमाणित हुई कि यज्ञ का मुख्य अर्थ है 'मिलकर किये जाने वाला संगठित शुभ कार्य।' इस सब विवेचन का एक वाक्य में अर्थ यह हुआ कि यह संसार यज्ञ स्वरूप परमातमा का चलाया हुआ एक बड़ा भारी महायज्ञ है। इस महायज्ञ के अन्तर्गत उसी के नियन्त्रण में मनुष्यों के जीवन रूपी बहुत से छोटे-छोटे यज्ञ भी चल रहे हैं इसलिए कल्याण चाहने वाले मनुष्य को न केवल यह चाहिए कि वह सब ऐसे ही कर्म करे जो कि इस महायज्ञ के अनुकूल हों—सहायक हों अर्थात् यज्ञार्थ कर्म ही करें, अपितु उसे स्वयं भी ऐसे यज्ञ (जो कि मनुष्य संगठन का नाम है) करने चाहियें जो कि इस महायज्ञ के अनुरूप हों अर्थात् हमारे यज्ञ — सब संगठन—ऐसे ठीक होने चाहिये जैसे कि यह संसार है या ऐसे सुसंगठित (well organised) होने चाहिये जैसे कि यह शरीर है।

संक्षेप में इस का अर्थ यह है कि जैसे आधिदैविक यज्ञ संसार में हो रहा है और आध्यात्मिक यज्ञ शरीर में हो रहा है उसी तरह मनुष्य को भी यज्ञ करना चाहिए अर्थात् आधिभौतिक संगठित शरीर बना कर कार्य करना चाहिए। यही यज्ञ का वास्तविक अर्थ है। इसीलिए शायद (निरुक्त के पढ़ने वाले जानते हैं) निरुक्त-कार ने मन्त्रों के आधिदैविक अर्थ किये हैं और आध्यात्मिक अर्थ भी किये हैं, परन्तु उस में आधिभौतिक अर्थ नहीं दिखाई देते। उसकी जगह 'अधियज्ञ' अर्थ विद्यमान

है। इसका तात्पर्य यह समझ में आता है कि उन के समय में आधिभौतिक और यज्ञ बिल्कुल समानार्थक हो गये थे। इससे भी स्पष्ट है कि यज्ञ का असली अर्थ आधिभौतिक है, सामाजिक है, आध्यात्मिक व वैयक्तिक नहीं।

अब हम इसी वास्तविक यज्ञ की, मनुष्यों के संगठित होकर किये जाने वाले कार्यों की ही अच्छी तरह व्याख्या करेंगे और पीछे से वैयक्तिक यज्ञों की अर्थात् यज्ञार्थ कर्मों की भी व्याख्या करेंगे।

इस यज्ञ की व्याख्या पढ़ने से पूर्व पाठकों को इस बात से परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है कि यह संगठन रूप यज्ञ हमारे सामने किन-किन रूपों में आता है और इस परिचय को पाने के लिए पाठकों को अपने मन से यज्ञ विषयक अन्य सब अशुद्ध संस्कार निकाल डालने चाहिए। अभी तक 'यज्ञ' शब्द सुनने से या तो हमें हवन अग्निहोत्र का ध्यान आता है या किन्हीं कथाओं में सुने अज्ञात गोमेध, नरमेध, अश्वमेध, राजसूय, पुत्रेष्टि आदि का अपना-अपना मन: कल्पित चित्र सामने आता है। पर मैं जानता हूं कि अब इतने विवेचन के बाद आपके सामने यज्ञ शब्द 'किसी संगठित मनुष्य समुदाय द्वारा किये जाते हुए शुभ कार्य का ही चित्र आने लगे, अधिक से अधिक अपने नैत्यिक पवित्र वैयक्तिक कर्त्तव्यों को भी यज्ञांग होने के कारण आप यज्ञ कह सकते हैं। परन्तु इसके अतिरिक्त और सब यज्ञ विषयक कल्पनाएं अपने मन से निकाल दीजिये! तभी आप यज्ञ को यथार्थ रूप में समझ सकेंगे। इस प्रकार समाज का चातुर्वर्ण्य और आश्रम व्यवस्था का संगठन एक महायज्ञ है। राष्ट्र एक यज्ञ है। स्वराज्य संगठन (Government) एक यज्ञ होता है। संग्राम—बुराई के नाश के लिए किया गया संग्राम—यज्ञ है। वर्तमान समय में भारत में राष्ट्रीय महा सभा (National Congress) एक यज्ञ है। आर्य समाज एक उच्च यज्ञ है। गुरुकुल आदि शिक्षा-संस्थाएं यज्ञ हैं। हमारी प्रतिनिधि सभाएं यज्ञ हैं। राष्ट्रीय महासमितियां यज्ञ हैं। सेवा समितियां पवित्र यज्ञ हैं। दलितोद्धार सभा यज्ञ है। सम्मेलन और सभाओं का प्रत्येक अधिवेशन यज्ञ है। व्यापार संगठन (जो कि गरीबों का नाश नहीं करता) यज्ञ है। प्राचीन भारत के एक पेशे वालों के ये संगठन यज्ञ होते थे। एक गृहस्थ परिवार यज्ञ है। तात्पर्य यह है कि सब छोटे बड़े संगठन जो कि कल्याण के लिए किये गये हैं, यज्ञ हैं। इनमें हमारी यज्ञ भावना होनी चाहिए। यदि हम इनमें महत्व देखेंगे और इन यज्ञों का अनुष्ठान करेंगे तभी हम इस योग्य भी होंगे कि हमारे शास्त्रों में जो अन्य सूक्ष्म यज्ञ प्रतिपादित हैं, उन्हें भी समझ सकें। इसलिए हमें ऐसा अभ्यास डालना चाहिए कि हम इन उपर्युक्त संगठनों में यज्ञ-दृष्टि रखें। ये ही रूप हैं जिन रूपों में यज्ञ प्रतिदिन हमारे सामने रहता है। इन्हीं यज्ञों को ठीक तरह करना हमारा पहला कर्त्तव्य है। इन्हीं को पूरा करने से हमारा कल्याण हो सकता है और इन्हें बिना पूरा किये हम आगे नहीं बढ़ सकते। इसके लिए हमें यह पता लग जाना चाहिए कि उपर्युक्त संगठन यज्ञ हैं और ये ही अवश्य कर्त्तव्य यज्ञ हैं।

यह तो लिखने की आवश्यकता नहीं कि प्रत्येक प्रकार का संगठन (अर्थात् अशुभ के लिए किया गया संगठन भी) यज्ञ नहीं होता। यह बात आगे विस्तार से लिखी जाएगी पर यहां इतना संकेत कर देना आवश्यक है कि परपीड़न के लिए, गरीबों को सताने के लिए, दूसरों का खून चूसने के लिए भी संगठन—बड़े भारी संगठन किये जा सकते हैं पर वे इतने भी बड़े भारी पाप-पुँज होते हैं, यज्ञ नहीं। दुर्लक्ष्य सामने आते ही संगठन में से यज्ञ की देवता निकल जाती है और उस पर असुरों का कब्जा हो जाता है। जब लोग यज्ञ करना सीख जाते हैं तो यह भी सबसे बड़ा खतरा है जिससे कि यज्ञ को प्रतिक्षण बचाना होता है। शक्ति पाने पर उसके दुरुपयोग का प्रलोभन स्वभावतः आता है। यज्ञ एक महाशक्ति है अतः इसे भी इस शत्रु से बचाना आवश्यक है। ऋषि लोग सब यज्ञों को लगातार असुरों के आक्रमण से बचाया करते थे। अस्तु। भारतवासियों ने तो अभी यज्ञ-कला सीखी ही नहीं अतः इन्हें अभी इस बात पर जोर देने की आवश्यकता नहीं।

यदि पाठक यह जान गये कि यज्ञ मिलकर काम करने का नाम है तो वे अब जरा गीता में कहे भगवान कृष्ण के निम्न श्लोक का मनन करें —

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्तिवष्ट कामधुक् ॥

अर्थात् प्रजापति ने यज्ञ के सहित प्रजाओं को बनाकर (प्रजाओं से) कहा कि (तुम) इस (यज्ञ) से (जो कुछ चाहो) उत्पन्न करो यह (यज्ञ) तुम्हारी सब अभिलषित इच्छाओं का पूरा करने वाला होवे।

इस श्लोक में दो बातें कही हैं—(1) प्रजाओं के साथ-साथ ही यज्ञ को भी प्रजापति ने पैदा किया। (2) यज्ञ प्रजाओं की सब इच्छा पूरी करने वाला होता है। पहली बात को समझने के लिए यह ढूँढ़ना चाहिए कि मनुष्य के साथ ही पैदा होने वाला यज्ञ कौन सा है। वेद में भी मनुष्य में स्थित इस यज्ञ का वर्णन पाया जाता है। उदाहरणार्थ अथर्ववेद के केन वार्ष्णी सूक्त (10—2) में जहां मनुष्य के अंग-अंग के उत्पादक को पूछा गया है वहां यह भी पूछा है कि—'को अस्मिन्यज्ञ मदधादे को देवोऽधि पुरुषे।' अथर्व० 10-2-14

अर्थात् किस एक देव ने मनुष्य के अन्दर यज्ञ को रखा है? ऐसे अन्य भी कई स्थल हैं जहां कि यज्ञ को परमातमा द्वारा मनुष्य के अन्दर रखा हुआ बताया गया है। वह यज्ञ क्या है? यह है मनुष्य का मिलने का, मिलकर काम करने का स्वभाव। मनुष्य स्वभावतः मिलन-स्वभाव है, यज्ञशील है। प्रायः लोग कहा करते हैं कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है। (Man is a social being) यहां मूल यज्ञ को यज्ञ कहा है। मनुष्य में जो यज्ञ का बीज है, उसे यज्ञ कहा है। यह है यज्ञ जो कि मनुष्य के साथ ही मनुष्य के हृदय में प्रजापति ने पैदा किया है क्योंकि स्वभावतः ही प्रजापति परमातमा ने मनुष्य को मिलनसार बनाया है। यह मिलनस्वभावता

का बीज ही—यह मनुष्य के साथ पैदा हुआ यज्ञ ही—बढ़ता हुआ सब सामाजिक संगठनों को बनाता है। अथर्ववेद के 8—10—1 सूक्त में इस बीज का गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, आहवनीय, सभा, समिति आदि रूप में विकास दिखाया गया है। इस लिए यहां तथा अन्य ऐसे स्थलों पर यज्ञ का अर्थ है मनुष्य का मिलने का स्वभाव जो कि बाहर यज्ञ (संगठन) के रूप में प्रकट होता है। अस्तु। हम प्रजाओं के पालने वाले ने हममें उत्पत्ति के साथ इस यज्ञ को पैदा कर अर्थात हमें मिलन-स्वभाव बनाकर ही मानों कह दिया है कि तुम इस यज्ञ से जो चाहो पैदा कर लो। यह दूसरी बात सब जानते है कि संगठन, मिलना 'इष्टकामधुक्' है। संघ शक्ति से जो चाहो प्राप्त कर लो। कम से कम बातें करने के लिए हम भी यह जानते हैं। हम इस पर व्याख्यान दे सकते हैं, मेरे जैसे इस पर लेख लिख सकते हैं। परन्तु इस यज्ञ को करना, इससे अपनी कामनाएं पूरी करना जरा विश्वास की अपेक्षा रखता है। जिसे विश्वास है कि संघशक्ति के बिना ये काम पूरे नहीं हो सकते, वह इस योग को अवश्य करता है। उसी के विषय में कहा जा सकता है कि वह इस तत्व को जानता है, चाहे उसने भगवद्गीता को कभी न पढ़ा हो।

इस तत्त्व को जानते हैं हालैंड निवासी जो कि मुट्टी भर लोग समुद्र को अपने बांधों से बांधते हुए अपनी सत्ता रखते हैं, अपनी स्वतंत्र, उन्नतिशील और स्वाभिमान सत्ता रखते हैं, क्या अपनी यह इच्छा पूरी करना साधारण बात है? इस तत्त्व को जानते हैं वे थोड़े से इंगलैंड निवासी जो कि सात समुद्र पार एक छोटे से टापू में रहते हुए तीस करोड़ हिन्दुस्थानियों को भेडों की तरह जिधर चाहते हैं, हांकते हैं। इससे अधिक और असंभव इच्छा क्या हो सकती है? पर यज्ञ—संघ शक्ति उनकी यह इच्छा भी पूरी करती है। इसमें किसी का क्या है? भगवान कृष्ण के शब्दों में कोई यज्ञ का अनुष्ठान करेगा तो यज्ञ उसके सामने कामधेनु होकर खड़ा हो जायेगा और कहेगा कि मुझसे जो चाहो दुह लो। भले ही यह लेख हिन्दुस्थानियों की धर्म-पुस्तक में लिखा है पर जो इसे करेगा, फल तो उसे ही मिलेगा। यज्ञ के बिना हिन्दुस्थानियों की स्वराज्य (अपना राज्य) होने की परम स्वाभाविक इच्छा भी पूरी नहीं हो सकी और न पूरी होगी, जब तक कि हम ठीक ठीक यज्ञ करना न सीखेंगे। हमारी हालत तो यह है कि वह यज्ञ जिससे कि स्वराज्य की इच्छा पूरी हो, वह तो दूर रहा, हमारे अभी छोटे छोटे मिलकर किये जाने के कार्य भी नहीं चलते हैं। छोटा सा यज्ञ भी हमसे निबाहा नहीं जाता है। हमारी चाहे कैसी हालत हो पर यह सत्य तो सूर्य की तरह चमक रहा है और सदा चमकता रहेगा (हम इसे देखें या न देखें) कि यज्ञ से जो चाहो, दुह लो।

हर एक विचारशील भारतवासी के मन में अंततः आता है कि यज्ञ के बिना हमारा विस्तार नहीं पर फिर भी हम मिलकर कार्य करने में असमर्थ रहते हैं। क्यों? इसके दो कारण हैं—यज्ञ में अविश्वास और यज्ञ के नियमों का अज्ञान। हमारा इस यज्ञ में विश्वास तो तब हो यदि हम पहले इन्हें यज्ञ तो समझें। मुझे यह

फिर दोहराना पड़ता है कि हमारी इन कार्यों में यह भावना होनी चाहिये । यदि कोई हमारा पवित्र संगठन टूटता है या हमारी कोई संस्था बिगड़ती है तो हमें कोई विशेष बात नहीं अनुभव होती । हम यह नहीं समझते कि यज्ञ-ध्वंस हो गया, एक बड़ा पाप हो गया । यह इसलिए होता है क्योंकि हम इस श्रेष्ठ संगठन में कार्य करते हुए अपना स्वाभिमान नहीं अनुभव करते कि 'मैं यज्ञ में सम्मिलित हूँ ।' राष्ट्रीय महासभा के एक सभ्य को तथा प्रतिनिधि सभा के अधिकारी को, गुरुकुल के एक कर्मचारी को अपने अपने संगठन के कर्त्तव्य को करते हुए यह भाव सदा जागृत रखना चाहिये कि मैं यज्ञ कर रहा हूं । इस यज्ञ-भावना के बिना यज्ञ में श्रद्धा कैसे हो सकती है ? जो कि परम आवश्यक है । यह यज्ञ-भावना ही हमें बहुत ऊँचा उठा देगी और हमारे कार्य में, कर्त्तव्य पालन में तेज बल, और सौंदर्य ला देगी । इसके साथ फिर यज्ञ की सफलता में श्रद्धा होनी चाहिए । चाहे जितनी विपरीत अवस्थाएं हों, यज्ञ का सहारा न छोड़ना चाहिए और विश्वास स्थिर रखना चाहिये कि यज्ञ से अवश्य विजय मिलेगी इष्ट काम अवश्य पूरा होगा । वेदों और उपनिषदों को मानने वालों को चाहिये कि वे यज्ञ की ही शरण लें तो उनके दुःख निश्चय से ही निवृत्त होंगे । यह ठीक है कि हमारे संगठन जल्दी जल्दी बिगड़ जाते हैं और बिगड़ेंगे भी रहेंगे पर हमें घबरा कर यज्ञ को न छोड़ देना चाहिए । यह तो अमोघ अस्त्र है । केवल इसमें श्रद्धा और तज्जनित धैर्य चाहिए ।

दूसरी बात है यज्ञ के नियमों का न जानना । यह एक घोर सचाई है कि हम भारतवासी यज्ञों के चलाने के नियमों को—मिलकर काम करने के सिद्धान्तों को—कुछ भी नहीं जानते हैं कारण स्पष्ट है कि हमने संगठन बनाये ही नहीं, इन्हें यज्ञ समझना भूल गये अतः इनके नियमों का हमारे समाज में विकास नहीं हुआ पाश्चात्य देशों में (यद्यपि वे यज्ञ शब्द का प्रयोग नहीं करते) इन यज्ञों का बड़ा प्रचार हुआ और वे मिल कर काम करने की विद्या के नियमों को बहुत जान गये अस्तु अभी इस लेख में इन्हीं नियमों को कुछ बतलाने का यत्न किया जाएगा परन्तु असल में नियम व्यवहार में आने से ही समझ में आते हैं, किताबों में लिखे रहने से कुछ नहीं होता । अतः विचारशील पाठकों से निवेदन है कि वे आगे लिखे यज्ञ के मोटे मोटे नियमों का ही पालन करें—व्यवहार में लाकर देखें (तब अन्य नियम इन्हें अपने आप दीखने लगेंगे) तो इनके संगठन अच्छी तरह चलने लगेंगे । हमें पूरा विश्वास है कि अपने पवित्र संगठनों को यज्ञ समझते हुए यदि हम इन नियमों का पालन करेंगे तो हमारी स्वराज्य की इच्छा ही नहीं पूरी होगी किन्तु हम भी सचमुच यज्ञरूपी कामधेनु वाले हो जायेंगे और अपनी अतीव असंभव दीखने वाली इच्छाओं को भी पूर्ण कर सकेंगे ।

यज्ञ के नियमों को जानने के लिये मेरी समझ में यज्ञ के धात्वर्थ को ही समझ लेना बहुत है । 'यज्ञ' शब्द में ही सब कुछ विद्यमान है संस्कृत की धातुओं में कितनी उत्तमता है और पूर्णता है, इसका शायद सर्वश्रेष्ठ उदाहरण 'यज्' धातु में देखने को

मिलता है। एक बार धातु पाठ के रचयिता ऋषि के आगे सिर झुक जाता है और हृदय में उनके लिये सम्मान का पद स्थिर हो जाता है। अस्तु। 'यज्' धातु का अर्थ है—'देवपूजा संगतिकरण दानेषु'। 'यज्' धातु के ये तीन अर्थ हैं –

1. देव पूजा = देव की पूजा
2. सगतिकरण = मिलना, मिले रहना
3. दान = देना

मैं पहले बतला चुका हूँ कि यज्ञ का मुख्य अर्थ बीच के अर्थ में अर्थात् संगतिकरण में है। यज्ञ अपने मध्य के अर्थ में केन्द्रित है। इसीलिए यज्ञ का स्वरूप मैंने बतलाया है - मिलना, सम्बन्ध रखना, ठीक सम्बन्ध रखना आदि परन्तु यह मिलना या सम्बन्ध तीन प्रकार से हो सकता है अतः यज् धातु के तदनुसार ऋषि ने तीन ही उपर्युक्त अर्थ रखे हैं। मनुष्य का मनुष्य के साथ निम्नलिखित तीन प्रकार का सम्बन्ध हो सकता है—

1. अपने से बड़े के साथ सम्बन्ध जुड़े रहना
2. अपने से बराबर वाले के साथ सम्बन्ध जुड़े रहना
3. अपने से छोटे के साथ सम्बन्ध जुड़े रहना।

यह तीन प्रकार का सम्बन्ध क्रमशः देव पूजा, संगतिकरण और दान का होना चाहिये। स्पष्ट है कि इस प्रकार प्रत्येक संगठन के तीन विभाग हो सकते हैं। ये ही यज्ञ के तीन अंग हैं। तात्पर्य यह हुआ कि अपने से बड़े के साथ, अपने बराबर वाले के साथ, अपने से छोटे के साथ क्रमशः देव पूजा के सम्बन्ध से, संगतिकरण के संबंध से, दान के सम्बन्ध से जुड़े रहने का नाम यज्ञ है। और स्पष्ट कहा जाये तो प्रत्येक संगठन में अपने से बड़ों के साथ देववत् पूजा का सम्बन्ध रहना चाहिए, अपने साथियों के साथ सदा मिला रहना चाहिए और अपने से छोटों को देते रहना चाहिए, तब प्रत्येक संगठन ठीक तरह चलता रहेगा। बड़ों की पूजा हो, सेवा हो, उनका आज्ञा पालन हो, इसी से हम बड़ों के साथ जुडे रह सकते हैं। इसमें त्रुटि होने से यज्ञ ऊपर से भंग हो जाता है। बराबर वालों के साथ परस्पर मेल रहना चाहिये प्रेम का आकर्षण होना चाहिए, मैत्री-स्नेह रहना चाहिये नहीं तो यज्ञ मध्य से टूट जाएगा। अपने से छोटों को सब कुछ देना चाहिये, कमी पूरी करते रहना चाहिए नहीं तो यज्ञ नीचे से गिर पड़ेगा। इस प्रकार इन तीन नियमों में ही सब कुछ आ गया है। इसे विस्तार से समझने के लिए पाठक आगे के कोष्ठक को ध्यान से देखें और आगे जो दूर तक इसकी व्याख्या की गई है, उसे पढ़ कर इस कोष्ठक को अच्छी तरह हृदयंगम कर लें तो वे यज्ञ के रहस्य को समझ जायेंगे।

यज्ञ पुरुष

यज्ञ के तीन अंग		अंगों का रस	अंगों की चेष्टा कर्म	एक-एक अंग के रक्षक देव	एक-एक अंग के नाशक असुर	यज्ञ का प्राण	यज्ञ का चालक शत्रु
अंग उत्तमांग सिर	नाम बड़ों की देव पूजा	भक्ति	आज्ञा पालन अनुसरण	श्रद्धा ऋ० 10-151 विश्वासी	अज्ञान अभिमान, संदेह काम आदि	बलिदान	स्वार्थ
मध्यमांग धड	बराबर वालों से संगतिकरण	प्रेम	एकोद्देश्य से तत्परता सद्उद्योग	सांमनस अथ० 3-30 परस्पर मैत्री	ईर्ष्या, द्वेष क्रोध, द्रोह आदि	बलिदान	स्वार्थ
आधारांग नाभि से नीचे का भाग	छोटों को दान	करुणा	सहायता देना रक्षा करना	सोम औषधि ऋ० 1(-97 सहानुभूति	क्रूरता, अन्याय लोभ, मद आदि	बलिदान	स्वार्थ

संसार में दो प्रकार की शक्तियां काम कर रही हैं। एक शक्ति मिलाने वाली है, दूसरी जुदा करने वाली है। एक जोड़ने वाली, इकट्ठा करने वाली है और दूसरी अलग-अलग करने वाली, फाड़ने वाली है। इनका नाम भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न है। पर मानवी संसार में मिलाने वाली शक्ति का नाम प्रेम है, और जुदा करने वाली का नाम घृणा। इनमें पहली शक्ति यज्ञीय है और दूसरी अयज्ञीय है। जिन्हें यज्ञ करना है, मिलना है, मिलाना है, वे प्रेम को अपनायेंगे। जिन्हें यज्ञ भंग करना है, लोगों को फाड़ना है, एक दूसरे को जुदा करना है, वे घृणा की पूजा करेंगे। अतः यज्ञ चाहने वाले भारतवासियों को प्रेम की उपासना करनी चाहिए। प्रेम ही यज्ञ शरीर में 'अंगिरस' है, यज्ञ के अंगों में बहने वाला रस है। प्रेम के ह्रास होने से यज्ञ सूखकर नष्ट हो जाता है। इस प्रेम-रस के सूखने पर यज्ञ का प्राण (जो पाठक आगे देखेंगे) निकल जाता है। प्रेम के रस से यज्ञ का एक-एक अणु परस्पर जुड़ा रहता है। प्रेम मिलाने वाली शक्ति है और मिले हुए संगठन का नाम यज्ञ है। इसलिए प्रेम यज्ञ का जीवन-रस है।

पं० भगवानदास जी ने अपनी (The Science of the Emotions) नामक पुस्तक में सब भावों (Emotions) के दो विभाग किये हैं—प्रेम मूलक भाव और घृणा मूलक भाव। फिर प्रत्येक के तीन-तीन विभाग किये हैं। उसे यहां यज्ञ की व्याख्या में अवश्य स्मरण करना चाहिए। यज्ञ-शरीर में बहने वाले रस का नाम प्रेम है परन्तु वह रस भिन्न-भिन्न अवयवों में भिन्न-भिन्न नाम से पुकारा जाता है। उत्तमांग में वह भक्ति है, मध्य शरीर में प्रेम है और तृतीय भाग में करुणा है अर्थात् अपने से बड़े में प्रेम का नाम भक्ति है, अपने से बराबर वाले में प्रेम-प्रेम शब्द से ही कहा जाता है और छोटे से प्रेम करना करुणा कहलाता है।

इस प्रकार एक ही प्रेम रस यज्ञ-शरीर के तीन अंगों में इन तीन रूप से बहता है और यज्ञ को सजीव रखता है।

यज्ञ का उत्तमांग अर्थात् देवपूजा तभी ठीक तरह काम करेगा यदि उसमें भक्ति रस द्वारा हम अपने बड़ों का आदर-सत्कार करते रहेंगे। यज्ञ का मध्य अर्थात् संगतिकरण तभी ठीक तरह काम करेगा यदि प्रेम का रस बराबर वालों में मेल बनाए रखेगा। यज्ञ का आधारांग अर्थात् दान तभी ठीक तरह काम करता रहेगा यदि करुणा रस से आर्द्र रह कर हम अपने छोटों को सदा देते रहने में तत्पर रहेंगे।

परन्तु केवल (भक्ति आदि) भावों से काम नहीं चलेगा जब तक कि भाव से प्रेरित होकर कर्म न निकलेंगे, भाव कर्म के रूप में न प्रकट होंगे। इसलिए यज्ञ मे कर्म की मुख्यता है। शरीर के अपने कर्म को व्यापार व चेष्टा कहते हैं। इन भक्ति, प्रेम और करुणा द्वारा क्रमशः तीनों अंगों में जो कर्म होने चाहिये—जो व्यापार होने चाहिये—उन्हें कोष्ठक के तीसरे स्तम्भ में लिखा हुआ पाठक देखेंगे।

भक्ति प्रेरित हो यज्ञ के उत्तमांग में बड़ों का आज्ञा पालन तथा उनका अनुसरण (नेतृत्व-स्वीकार) यह चेष्टा होनी चाहिए । प्रेम-प्रेरित हो यज्ञ के मध्य भाग में एकोद्देश्य से मिलकर काम करना, सहोद्योग यह चेष्टा उत्पन्न होनी चाहिए तथा करुणा प्रेरित हो यज्ञ के तृतीयांग में दान द्वारा छोटों की सब प्रकार से सहायता करना, उनकी रक्षा करना—यह चेष्टा व कर्म होता रहना चाहिए ।

देवपूजा का अर्थ वाचिक या मानसिक ही नहीं है । यज्ञ में तो कर्म मुख्य है । इसलिये वड़ों की पूजा जब भी की जायेगी, बड़ों की पूजा क्रिया में आयेगी । तब वह उनका आज्ञापालन, उनकी शिक्षा मानना, अनुसरण करना—इन रूपों में ही प्रकट होगी । क्रियात्मक संगतिकरण एकोद्देश्यता से चलने, परस्पर मिलकर सहोद्योग के रूप में ही प्रकट होगा दान का अर्थ कुछ भी दे देना नहीं है किन्तु छोटों को उनकी आवश्यकता जानकर उसकी पूर्ति के लिए देना, छोटों की कष्टों से रक्षा करने की चिन्ता रखना और सदा सहायता देते रहना है । यज्ञ का दान अंग इसी रूप में अपना काम करता हुआ प्रकट होगा ।

यह यज्ञ के तीन अंगों के तीन व्यापार हैं जो कि स्वस्थ यज्ञ शरीर में होते रहने चाहिए । यदि ये व्यापार होते ही नहीं या ठीक तरह न होकर विपरीत प्रकार से होते हैं तो समझना चाहिए कि यज्ञशरीर में कोई रोग है इन रोगों का इलाज करना चाहिए जिससे कि शरीर के ये तीनों अंग उपरिनिर्दिष्ट अपने अपने व्यापार (Function) ठीक प्रकार करते रहें ।

यज्ञांगों में बहने वाला रस जान लेने के बाद तथा यज्ञ के प्रत्येक अंग का व्यापार समझ लेने के बाद अब यह सुगमता से जाना जा सकता है कि हम भारत वासियों के यज्ञ क्यों नहीं चलते । इसका कारण यज्ञ के किसी अंग के कार्य में त्रुटि होना है । ये रोग हमें हटाने पड़ेंगे । यदि हम भारत में यज्ञों को चलाना चाहते हैं ।

पहले यज्ञ के प्रथम अंग देव पूजा की त्रुटियां देखिये । या तो अपने संगठनों के बड़ों में हमारी भक्ति नहीं होती (हम उन्हें यों ही स्वीकार कर लेते हैं) या हमारी भक्ति बीमार होती है जो कि आज्ञा पालन के रूप में प्रकट नहीं होती । महात्मा गांधी के (जो कि राष्ट्र महासभा के यज्ञ में देववत् पूज्य हैं) दर्शन करने के लिए सहस्रां लोग आते हैं, उन्हें रात को नींद भी नहीं लेने देते परन्तु वे न तो खद्दर पहनते हैं और न उनकी अन्य आज्ञाओं का पालन करते हैं । इसका नाम देव पूजा नहीं है । यह तो घोर देव निंदा है । पर हम लोगों की अक्ल में यह बात नहीं आती है । नेता के आज्ञा पालन तथा अनुसरण में जिस नियन्त्रण, तंत्र-निष्ठा की जरुरत है, उसका क ख भी हमने अभी नहीं सीखा है । यदि गत वर्षों के स्वराज्य आन्दोलन में (और अब भी) हम राष्ट्र महासभा की केवल खद्दर-धारण और खद्दर की उत्पत्ति की आज्ञा का जी जान से पालन करते तो अब तक बहुत कृतकार्य हो चुके होते, न जाने कहां पहुंचे होते । पर यहां तो काम शुरू नहीं हुआ । देवपूजा की जगह हम अपना मनमाना करते रहे । एक वक्ता ने बहुत सच कहा था ।

कि लायड जार्ज जैसे मिथ्याचारी, मिथ्यावादी पुरुष के नेतृत्व में इंगलैंड ने महासभा में विजय पा ली परन्तु महात्मा गांधी जैसे सच्चे दिव्य-पुरुष को पाकर भी भारतवासी कृतकार्य न हो सके, इसका कारण है संगठन (Organizations) का अभाव। परन्तु वैदिक शब्दों में मैं कहूंगा कि इसका कारण है—यज्ञ का अभाव, यज्ञ में भी देवपूजा अंग का अभाव। बिल्कुल सैनिकों की तरह आज्ञा-पालन को न करते हुए अपने को देवपूजक समझना कोरी मूर्खता है जो कि जितनी शीघ्र हट जाए, उतना ही अच्छा है। घोर युद्ध के अवसर पर भोजन की कमी पूरी करने के लिए अंग्रेज लोगों को कहा गया कि अपने घरों के छोटे-छोटे आंगनों में आलू बो दो। उन्होंने बोये और यह मूर्खतापूर्ण प्रश्न न उठाया कि आंगन की जरा-सी भूमि के थोड़े से आलुओं से क्या लाभ होगा? परन्तु भारतवासी पूछते हैं कि चरखे के जरा से सूत से क्या होगा? केवल पूछते ही नहीं किन्तु कार्य करना भी नहीं शुरू करते। यह है भेद हममें और यज्ञ का महत्व समझने वाले अंग्रेजों में। वहां बचपन से आज्ञापालन सिखाया जाता है। वहां के लोगों ने आत्मार्पण करते हुए 'आज्ञा पालन' अंग की साधना की है। वहां कैसे बियेन्का जैसे बालक पैदा होते हैं? आज्ञा के न मिलने के कारण जल मरना तो दूर रहा, हम तो अपने संगठन की आज्ञा को थोड़े से स्वार्थ के लिए तोड़ देते हैं और तोड़ने का कारण प्रायः धार्मिक बताते हैं। बहुतों को जरा सी बात में अन्तः करण (Conscience) बोलते लगता है। ऐसे कार्य करते हुए हम सचमुच समझते हैं कि हम धर्म कर रहे हैं जब कि असल में हम यज्ञ-भंग का भारी पाप कर रहे होते हैं। यदि हमने अपनी वर्तमान अवस्था से उठना है तो हमें यज्ञ-धर्म को समझना होगा और अपने अन्तः करणों को विशाल बनाना होगा। मतभेद होने के कारण आज्ञा भंग का अधिकार प्राप्त कर लेना वहां का धर्म है। वेद में तो संग्राम वाचक शब्द तथा यज्ञवाचक शब्द बहुत कुछ एक ही हैं। इसका एक अर्थ यह समझा जा सकता है कि यज्ञ में संग्राम जैसा नियन्त्रण (Discipline) होना चाहिए। संग्राम यज्ञ में यदि सेनापति देव की आज्ञापालन द्वारा पूजा न की जाए तो यह यज्ञ कैसे चल सकता है। राष्ट्र यज्ञ में यदि राजा की आज्ञाओं का पालन न हो तो राष्ट्र कैसे जीवन्त रह सकता है? परन्तु गुलाम भारतवासियों को सैनिकों की तरह बिना 'कथं किमर्थम' के आज्ञापालन करने में गौरव की जगह बन्धन दिखाई देता है और वह भी अपने बनाये नेता के, अपने राजा के आज्ञापालन में। हमें यह सैनिकीय आज्ञापालन भेड़चाल दिखाई देता है इसीलिए हम पराये राजा द्वारा भेड़ों की तरह हांके जाते हैं। यदि हम अपने बनाये राजा का आज्ञा पालन सीख जायें तो हम ही सैनिक हो जायें। ग्रामों में जहां पुरानी पंचायतों का रिवाज बिगड़ा नहीं है वहां तो अब भी (जो कि बहुत ही बिरले उदाहरण हैं) 'पंचों में परमेश्वर' मानकर लोग पंचायत की कठोर से कठोर आज्ञा का भी पालन कर देते हैं परन्तु साधारणतया आजकल की सभाओं और सम्मेलनों को देखा जाता है कि सभापति वक्ता को बोलने से बन्द करते हैं।

पर वक्ता बोला जाता है। सभापति चुप होने को कहता है पर लोग शोर करते रहते हैं बल्कि कई लोग रोके जाने के कारण सभापति से नाराज हो जाते हैं। भला वहाँ नाराजगी का क्या काम ? इस सबका कारण यह है कि हम सभ्य, साम्मित्य नहीं हुये हैं, यज्ञार्ह नहीं हैं, घड़े हुए नहीं हैं। हमें घड़कर अपने आपको यज्ञार्ह बनाना चाहिये। पहले ही अपने सभापति को खूब सोच-विचारकर चुनना चाहिये पर जब वह सभापति चुना गया और जब तक है तब तक यदि उस देवपूज्य का आज्ञापालन न हो तो काम कैसे चल सकता है ? यह तो आत्महत्या हो गई। यह तो अपने यज्ञ का अपने आप नाश करना है। कुटुम्ब यज्ञ में बालक माता-पिता के आदेशों को न मानें, गुरु-शिष्य यज्ञ में शिष्य गुरु-वचनों को न मानें तो इन यज्ञों का क्या हाल होगा ? तात्पर्य यह है कि प्रत्येक यज्ञ में आज्ञापालन आवश्यक है। इसके बिना यज्ञ का पहला ही अंग नहीं चल सकता। यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिये कि अपने नेता का आज्ञापालन अर्थात् भक्ति से, सच्चे दिल से उसके पीछे चलना ही देवपूजा है, यज्ञ के प्रथम अंग का कर्म है।

अब भारतवर्ष के यज्ञों में मध्यांग की अवस्था सुनिये। यज्ञ का यह मध्यभाग प्रायः सभी संगठनों में बड़ा होता है क्योंकि उनमें बड़े तथा प्रायः छोटे भी थोड़े होते हैं और बराबर वाले बहुत होते हैं तथा क्योंकि प्रायः सभी संगठनों में बड़े और छोटे का सम्बन्ध विशेष अवसरों पर होता है और बराबर का सम्बन्ध प्रायः सदा रहता है। उत्तमांग से तो यह अवश्य ही बड़ा होता है। अतः इसे ठीक रखना बहुत आवश्यक है। यह ठीक रहे, फिर यदि ऊपर-नीचे का भाग कुछ बिगड़ जावे तो वह शीघ्र ही सुधर सकता है। यह मध्य अंग का महत्त्व है अतः मध्य अंग के स्वास्थ्य के लिये संगठन में के सब सभ्यों को परस्पर प्रेम से जुड़े रहना चाहिये और एकोद्देश्य में तत्पर रहना चाहिये। उन सबको जोड़ने वाली एक वस्तु संगठन का उद्देश्य होता है। जैसे कि भारतीय राष्ट्रसभा के सभ्यों को जोड़ने वाला देश प्रेम है, आर्यसमाज सभासदों को जोड़ने वाला वैदिक धर्म है, एक संग्राम के सैनिकों को जोड़ने वाला शत्रु पर विजय पाने का उनका उद्देश्य है एवं एक शिक्षणालय के छात्रों को परस्पर जोड़ने वाली उस शिक्षणालय का विशेष शिक्षण या विद्या होती है। इस जोड़ने वाले एकोद्देश्य को जब कोई सभ्य भूलता है या इसे गौण कर देता है तभी वह अपने कर्म द्वारा यज्ञ को हानि पहुंचाता है। इस संयोजक वस्तु को वेद में 'यज्ञ तन्तु' कहा गया है। यह यज्ञतन्तु कभी नहीं टूटना चाहिये। इस तन्तु से यज्ञ के सब सभ्य जुड़े होते हैं। परन्तु हमारा यह यज्ञतन्तु इतना ढीला होता है कि अन्य छोटी-छोटी बातें इसके ऊपर हो जाती हैं और यज्ञ का लोप कर देती हैं। हिन्दू और मुसलमान आपस में लड़ते हैं क्योंकि देश प्रेम के तन्तु से अपने आपको नहीं जोड़ते, इस यज्ञ तन्तु के सामने अन्य गौण बातों को मुख्यता दे देते हैं और इसीलिये राष्ट्रीय महासभा का यज्ञ छिन्न हो जाता है। दो आर्यसमाजी सभासद आपस में लड़ते हैं,

वैदिक धर्म का तन्तु उन्हें जोड़ने में असमर्थ रहता है क्योंकि वे अन्य वैयक्तिक बातों को मुख्यता दे देते हैं और फलतः आर्यसमाज के यज्ञ को हानि पहुँचती है। यज्ञ के लिये सब सभ्यों को एकोद्देश्य में तत्पर रहकर सहयोग करना चाहिये परन्तु हम सहोद्योग तब तक नहीं कर सकते जब तक पहले हम एकोद्देश्य से जुड़कर एकत्र हो जायें। इसीलिये अथर्ववेद के सांमनस्य (3·30) सूक्त में जहां 'सम्यंचः सव्रता भूत्वा' होने को कहा गया है वहाँ कहा है कि 'समाने योक्तरे सह वो युनज्मि' अर्थात् मैं तुझे एक जुए में जोड़ता हूँ। इस सूक्त में तथा ऋग्वेद के प्रसिद्ध 'संगच्छध्वं संवदध्वं' वाले सूक्त में यज्ञ के मध्यांग का कार्य बहुत ही अच्छी तरह बताया गया है। भारत-वासियों को यह उपदेश न जाने कब तक समझ में नहीं आवेगा ? 'सहस्रबाहू पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्' (अथर्व० 20-6-1) यह यदि यज्ञ-पुरुष का ही वर्णन नहो है तो यज्ञपुरुष का भी तो है ही। क्या ही सुन्दर दृश्य हो जबकि सहस्रों बाहुएं मिलकर एक ही उद्योग कर रही हों। राष्ट्रपति की आज्ञा से यदि राष्ट्र-शरीर के सहस्रों हाथ सूत्र निकालने में ही लग जायें तो क्या हम अपना एक कार्य क्रम पूरा नहीं कर सकते ? भारत राष्ट्र-पुरुष के तो साठ करोड़ हाथ हैं। पर रोना यही है कि हमारी धर्म-पुस्तक मे चाहे कुछ लिखा पड़ा हो पर उसका करना और बात है। हमसे यह बनता नहीं कि किसी उच्च प्रेम से प्रेरित हो मिलकर किसी रूप मे जुड़ जाये। यदि कहीं-कहीं जुड़ते हैं और यज्ञ मे 'संगतिकरण' अंग को बनाते है तो यह अंग इतना निर्बल या रुग्ण होता है कि इससे सहोद्योग कांपते हुए नहीं बराबर निकालता है। फूट नाना प्रकार के भेद ही सर्वत्र दिखाई देते हैं। इन भेदों को भी जोड़ने वाला यज्ञ-तन्तु कहीं कहीं ही टूटा-फूटा दिखाई देता है। नानामत तो यूरोप में भी पाश्चात्य लोगों में भी हैं। वहां तो पति और पत्नी भी भिन्न-भिन्न गिरजों में जाते हैं। वहाँ के (यथा इंगलैंड में) राष्ट्र कार्य में भी बहुत से दल हैं। पर वे राष्ट्र कार्य को सदा ऐकमत्य से ही करते हैं और बातों में चाहे जितना मतभेद रहे पर वे राष्ट्र-कार्य के लिये सब एक हैं। अतः उनका अपना-अपना राष्ट्र पुरुष संसार म एक बलवती सत्ता रखता है। उनका देश-प्रेम का तन्तु अन्य बातों से नहीं टूटता। गत महायुद्ध मे इंगलैंड-वासियों ने कितना मिलकर काम किया, उसकी कथा हमारे लिये आश्चर्यकर है परन्तु जर्मन लोगों का सहोद्योग इनसे भी बढ़कर था। उन्होंने तो माना अक्षरशः 'संगच्छध्वं संवदध्वं' का पालन किया था। फिर भी उनकी हार क्यों हुई, यह और बात है। इसका भी वर्णन आगे आ जायेगा। यह तो स्पष्ट है कि हममें तो इतने जोर से लड़ने की भी सामर्थ्य नहीं है। उनको पुरुष बनाने वाली और सामर्थ्य देने वाली सम्मेलन शक्ति हमारे लिये सदा ही अनुकरणीय है। अस्तु। सारांश यह है कि यज्ञ का मध्य अंग (जो कि बहुत बड़ा भाग होता है) तभी ठीक तरह चल सकता है जबकि उसके सब सभ्य एकोद्देश्यता में तत्पर होकर सहयोग करते रहें। यही इस अंग के स्वास्थ्य का चिह्न है।

इसी प्रकार यज्ञ का 'दान' अंग जो कि आधार अंग है, मुर्दा हो जायेगा यदि हम अपने संगठन में निर्बलों को, छोटे भाइयों को सदा सहायताप्रदान न करते रहेंगे। छोटों के साथ अपना सम्बन्ध ठीक रखने के लिये, उन्हें अपने साथ जुड़ा रखने के लिये, यह आवश्यक है कि हम उन्हें धन देकर, बल देकर, ज्ञान देकर जो उनकी कमी हो, उसे पूरा करते रहें। संगठन के, यज्ञ के ऊंचे लोग जब घमण्ड में आकर, अपनी शक्ति के नशे में मस्त होकर अपने छोटे हीन भाइयों को भूल जाते हैं और यज्ञ-शरीर में करुणा के जीवन-रस का प्रवाह बन्द हो जाता है तो आधार से ही यज्ञ का भंग हो जाता है। क्या हम नहीं देखते कि भारत के पददलित अछूतों के कारण भारत का राष्ट्रीय यज्ञ बीच में ही पड़ा हुआ है? इन बेचारों की दशा किन्हीं स्वामीहीन पालतू पशुओं से भी अधिक शोचनीय है परन्तु भारतीय हिन्दुओं के हृदय इस पर भी नहीं पिघलते। देश और जाति के इन आधारों को जब तक हम अपने सर्वविध दान-कर्म से तृप्त न कर लेंगे तब तक हमारा हिन्दू संगठन और देश-संगठन का यज्ञ आगे नहीं बढ़ सकता। इसी प्रकार हमारे देश में ज्ञान में जो छोटे पुरुष बहुत हैं, हममें अक्षर ज्ञान भी बहुत थोड़ा है। जहाँ अन्य देशों में 95 या 99 प्रतिशत तक शिक्षित होते हैं वहाँ इस देश में पाँच प्रतिशत तक कहे जाते जा सकते हैं। इस ज्ञान-दान की कमी के कारण हमें कितनी कठिनाइयाँ हैं, यह सब भारत के यज्ञप्रिय पुरुष अनुभव करते हैं। परन्तु इससे भी पहले तो धन का दान आवश्यक है क्योंकि इस देश में निर्धनता के कारण भूखे मरने वालों की संख्या हृदय-विदारक है। भूखे को ज्ञान और उपदेश तो पीछे चाहिये, पहले भोजन चाहिये। इस देश में दस लाख मनुष्य प्राणी ऐसे हैं जिन्हे कि एक बार ही सूखी रोटी नसीब होती है और एक दुर्भिक्ष में लाखों आदमी मर जाते हैं। बहुतों को वास्तव में इन संख्याओं पर विश्वास नहीं होता है अतएव वे निश्चिन्त रहते हैं। परन्तु करुणा मूर्त्ति महात्मा गाँधी इसी चिन्ता से चरखे पर पागल हुए, हुए हैं और चरखे के प्रचार की इतनी आवश्यकता अनुभव करते हैं। चर्खाप्रचार अपना अन्य फल पीछे लायेगा, पहले यज्ञ के तीसरे 'दान' आधारांग को चलता करने के लिये इसमें प्राण डालेगा। अस्तु अभिप्राय यह है कि प्रत्येक संगठन में जो जिस बात में बड़ा हो, उसका कर्त्तव्य है कि अपने से छोटों को वह वस्तु देने के लिये न केवल सदा तत्पर रहे किन्तु उसकी कमी को स्वयं यत्न से जानकर पूरा करता रहे। एवं ज्ञानियों को अपना ज्ञान देना चाहिये और बलवानों को अपने बल से निर्बलों की सहायता करनी चाहिये। धनियों को अपना धन छोड़ना चाहिये और शूद्रों को शारीरिक श्रम की, अपनी सेवा का दान करना चाहिये। ठीक तरह काम करते हुए यज्ञ के आधारांग का यही स्वरूप है।

यह यज्ञ का आधार अंग है। जिस संगठन में छोटे आवश्यक दान पाकर तैयार नहीं होते रहते वह संगठन समझना चाहिए कि जड़ से सूख रहा है। भारत ने छोटों की उपेक्षा की अतः छोटे बढ़ते गये और सामूहिक रूप से सारा देश ही हर

एक बात में छोटा रह गया है। पाश्चात्यों के राष्ट्र यज्ञ में यदि कोई त्रुटि है तो वह आधारांग में ही है। वहां सब बातों में नहीं तो धन में तो बड़ों ने छोटों की उपेक्षा की है। वहां धनियों और निर्धनों का बहुत फर्क है। अतएव वहां सोशलिज्म, बोल्शेविज्म आदि रोग अथवा रोग को दूर करने की स्वाभाविक चेष्टाएं (जो कि वास्तव में सब रोग होते है) उत्पन्न हुई और उनसे सारे राष्ट्र-शरीर को दुःख भोगना पड़ा। गत महासमर में रूस को इसी विपत्ति के कारण युद्ध से जुदा होना पड़ा तथा जर्मनी शिथिल पड़ जाने के कारण भी उसके अन्दर साम्यवादियों (socialists) का जोर हो जाना था। अतः इस आधारांग का हमें विशेष ध्यान रखना चाहिए, विशेषतया हममें से उन भाइयों को जो हर बात में पाश्चात्यों का अनुसरण करना लाभदायक समझते हैं। अस्तु।

आशा है अब पाठक बहुत कुछ समझ गये होंगे कि हमारे यज्ञ किन-किन त्रुटियों के कारण असफल रह जाते हैं।

परन्तु ये त्रुटियां क्यों होती हैं और इनको हटाया कैसे जा सकता है? इसका उत्तर है कि यज्ञ के देवों और असुरों में सदा यह होता रहता है कि जब असुरों का पलड़ा भारी होता है तब यज्ञ में उतनी त्रुटि रह जाती है और जब देवों की विजय होती रहती है तब यज्ञ पूरा-पूरा चलता है अतः त्रुटियों के हटाने का उपाय है कि देवों की ही लगातार विजय रखी जाये। ये देव असुर कहीं बाहर नहीं हैं, वे अन्दर हैं और हमारे हृदय के अन्दर हैं। देवासुर संग्राम की रणस्थली यज्ञ कर्त्ता मनुष्य का हृदय ही है। यदि यह बात पाठकों को कुछ विचित्र लगती हो तो उन्हें भगवद्गीता के सोलहवें अध्याय में दैव और आसुर सम्पदों का वर्णन पढ़ लेना चाहिए। अस्तु। इस यज्ञ में देव कौन हैं जिनसे कि यज्ञ बढ़ता है और असुर कौन हैं जिनसे कि यज्ञ की रक्षा करनी चाहिए, यह पाठक कोष्ठक के चौथे पांचवें स्तम्भ में देखेंगे।

यज्ञ के उत्तमांग में 'श्रद्धा' देवता है और इसके विरोधी असुर हैं अज्ञान, अभिमान, सन्देह, काम आदि। देव पूजा अंग को निर्विघ्न चलाने के लिए हमें अपने हृदयों में श्रद्धा को आसनारूढ़ करना होगा। यज्ञ के बड़ों में, नेता में यदि हमें श्रद्धा नहीं तो उसका पूजना, उसका आज्ञापालन आदि कर्म कैसे हो सकता है। जहां नेता को चुनना हमारे हाथ में है, तब अवश्य हमें ऐसा ही पुरुष चुनना चाहिए जिसमें हमारी श्रद्धा हो। दुर्भाग्य से किसी समाज में यदि कोई भी पुरुष श्रद्धनीय नहीं है तो वहां यज्ञ बन ही नहीं सकता। प्रत्येक दशा में अपने बड़ों में श्रद्धा आवश्यक है। नेता लोग कई बार ऐसे काम करेंगे जो कि हमें अच्छी तरह समझ में न आवे तो उनमें एकदम श्रद्धा छोड़ देना बड़ी मूर्खता होगी। गुरु-शिष्य यज्ञ में शिष्यों को या गृहस्थ यज्ञ में पुत्रों को बहुत बार अपने स्वाभाविक अज्ञान के कारण अपने आचार्य या माता-पिता की बातें बुरी और अहितकर लगती हैं परन्तु यदि वे इससे उनमें श्रद्धा छोड़कर मनमाना करें तो कितना अनर्थ होगा। ऐसी अवस्था में उन्हें यही उचित होता है कि वे अपने बड़ों के पास जावें और

नम्र होकर अपना अज्ञान दूर करने का प्रयत्न करें, न कि 'श्रद्धा' देवता की शरण छोड़ दें। 'श्रद्धा' ही बालकों, अज्ञानियों, निर्बलों, असहायों अर्थात् सब छोटों की एकमात्र रक्षिका देवता है परन्तु इस देवता को पदच्युत कर अपना राज्य स्थापित करने के लिए अज्ञानादि असुर सदा जोर करते रहते हैं। श्रद्धा को स्थिर रखने की इच्छा वाले यज्ञप्रिय को सदा इससे लगातार लड़ना पड़ता है। अज्ञान ऐसा भ्रमाता है कि छोटे को अपना हित अहित दिखाई देने लगता है। सन्देह आकर आज्ञापालन नहीं करने देता। 'अभिमान' के वश हो जाता है तो कहता है कि 'क्या यही सब कुछ जानता है?' या 'यह बात तो स्पष्ट हानिकारक है। अभिमान का रंग और चढ़ता है तो वह पूजा की जगह देव का तिरस्कार करने में नहीं झिझकता। 'काम' अर्थात् अपने विषय की तीव्र इच्छा उसे और भी कर्त्तव्या-, कर्त्तव्य विचार के अयोग्य बना देती है।

इस प्रकार श्रद्धा का आसन डोल जाता है। इसे स्थिर रखना ही यज्ञकर्ता की वीरता है। जिस पुरुष की हृदयस्थली पर इस युद्ध में सदा 'श्रद्धा' देवता की ही विजय रहती है वही पुरुष यज्ञ के उत्तमांग में सम्मिलित होने के योग्य है।

यज्ञ के मध्यमांग में 'साम्मनस' देवता है जो कि इस अंग में सम्मिलित सब पुरुषों को अपने हृदयों में बिठलानी चाहिए। परन्तु इसकी जगह छीनने के लिए ईर्ष्या आदि असुर चारों तरफ सदा चक्कर लगाते रहते हैं। इनसे सावधान रहना चाहिए। यदि 'ईर्ष्या' को हृदय राज्य में थोड़ा सा भी स्थान मिल गया तो वह हमारी आंख ऐसी फेर देती है कि हमें अपने भाई की बढ़ती देखकर आनन्द की जगह दुःख होने लगता है। अब प्रेम की जगह 'द्वेष' असुर ले लेता है। जहां इन दो असुरों का प्रवेश हुआ तो 'क्रोध' महासुर की विकराल मूर्ति अपना काम दिखलाने लगती है और भारतमाता के दो पुत्र आपस में एक दूसरे का सिर फोड़ने लगते हैं क्योंकि वे हिन्दू और मुसलमान हैं। धीरे-धीरे इतनी आसुरी माया छा जाती है कि वे भाई एक दूसरे को धोखा दे देकर नाश करना चाहते हैं और 'द्रोह' की फौजें आ खड़ी होती है। इस प्रकार यज्ञ नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। पाठक अपने-अपने संगठनों में स्वयं इस देवासुर संग्राम को अनुभव करें। यहां तो यही कहना है कि युद्ध में 'साम्मनस' देवता की ही विजय होनी चाहिए। कोई चाहे कितना यत्न करे, अपने साथियों को कभी न छोड़ना चाहिए। अपना साथी चाहे रूखा प्रतीत हो, प्रेम न रखे, हानि भी पहुँचाये तो भी उससे मन मिलाये रखना चाहिए वैयक्तिक हानि चाहे कितनी हो पर यज्ञ तन्तु को न टूटने देना चाहिये। अन्त में निश्चय से 'साम्मनस' देव की ही विजय होगी। यदि हम विचारेंगे कि 'इसकी वृद्धि में तो मुझे प्रसन्न होना चाहिये, यह तुझे कष्ट दे तो वह भी मैं सह लूँगा, अन्ततः वह मेरा भाई ही है।' तो इन भावनाओं द्वारा हमारे पवित्र उद्देश्य प्रेम के तेज से ईर्ष्या, द्वेष आदि सब असुर भस्मीभूत हो जायेंगे औरयज्ञ निर्विघ्न चलता हुआ बढ़ता जाएगा।

एवं यज्ञ के तीसरे अंग के देवता का नाम 'ओषधी या सोम' कहा जा सकता है। इसका अर्थ है दूसरों के कष्ट निवारण करने या दूसरों की कमी पूरी करके तृप्त करने वाली देवता। इसका तात्पर्य है हृदय में सहानुभूति का राज्य होना। परन्तु इस राज्य के मुकाबले में विरोध का झण्डा खड़ा करने वाले क्रूरता आदि राक्षस भी विद्यमान हैं। क्रूरता राक्षसी जब आती है तो हृदय में से दयास्रोत निकलना बन्द हो जाता है। इसीलिये हिन्दू चमारों को ऊपर से गालियाँ देते हैं, इसकी जगह कि उन्हें गड्ढ़ों का सड़ा पानी पीते देखकर तरस खावें। इस क्रूरता राक्षसी को और पोषण मिलता है जबकि अन्याय साथ मिल जाता है क्योंकि अन्यायासुर हमें देखने ही नहीं देता कि हमारे छोटे भाइयों की बुरी दशा है। देश में विरले ही पुरुष हैं जोकि अपने देश की गरीबी आदि कमियों को अनुभव करते हैं। मद' भी आ जाये तब तो कहना ही क्या? तब तो पड़ौसी घर का आर्त्तनाद भी सुनाई नहीं देता और पैरों तले रौंदे जाते अपने भाई की चीखें निकलवाना उनका मनोविनोद होता है। ऐसे 'मद' मस्तों की भी हमारे देश में कमी नहीं है। परन्तु 'लोभासुर' के वश होने वाले तो इस देश में बहुत से भले आदमी हैं जोकि अपने छोटों को कुछ देने की जगह उनसे रिश्वतें लेते हैं, बेगार लेते हैं और न जाने क्या छीना झपटी करते हैं। इस प्रकार हमारे हृदयों में से 'सोम' देवता का राज्य लगभग सब छीना जा चुका है जिसे कि हमने फिर स्थापित करना है, यदि हम अपने देश के यज्ञों का समूल नाश नहीं कर देना चाहते हैं। हमें इस देवता की विशेष आराधना करनी चाहिये और अपने में करुणा, दया का पूर्णतया उदय करना चाहिये जिससे कि क्रूरता, अन्याय, लोभ, मद आदि असुरों की सर्वथा पराजय होकर हृदय में सहानुभूति का राज्य जम जाये। तभी यज्ञ के आधारांग की रक्षा हो सकती है।

इस प्रकार अब तक हम यह समझ गये होंगे कि यदि यज्ञ के इन तीनों अंगों में उपर्युक्त तीनों देवताओं का निर्विघ्न राज्य रखा जाये तो यज्ञ स्वयमेव ठीक-ठीक चलता रहेगा परन्तु इन देवताओं का राज्य स्थिर करने का उपाय क्या है, यह भी बात हमें जान लेनी चाहिये।

यज्ञ की सबसे आवश्यक वस्तु का वर्णन तो अभी रहता ही है। यज्ञ के इन बाधक असुरों का निरन्तर हनन करने वाला अस्त्र क्या है? अथवा यज्ञ के देवपूजादि अंगों को निरन्तर जीवित रखने वाली वस्तु क्या है? यह है आत्मबलिदान (Sacrifice) स्वार्थ त्याग। यह यज्ञ का प्राण है। जैसे प्राण शरीर में सबसे बड़ा देवता है, वैसे ही यज्ञ-शरीर में सब देवों का महादेव यही 'बलिदान' है। इसलिये उसके उत्क्रान्त होने से श्रद्धा आदि सब देव उत्क्रान्त हो जाते हैं और इसके स्थापित होने से स्थापित हो जाते हैं। इसे यज्ञ की आत्मा भी कह सकते हैं। यह यज्ञ का सब कुछ है क्योंकि इसके बिना यज्ञ केवल मृतवत् है, लाश है। इसीलिये कई विद्वान् 'यज्ञ' शब्द का अर्थ ही बलिदान किया करते हैं। यह बहुत हद तक ठीक है क्योंकि बलिदान के बिना यज्ञ कुछ देर भी जीवित नहीं रह सकता। जैसे कि जीवित पुरुष में प्राण

श्वास-प्रश्वास के रूप में निरन्तर चलता रहता है और पुरुष को जीवित रखता है एवं यज्ञ के जीवन के लिए भी यह आवश्यक है कि उसमें बलिदान निरन्तर चलता रहे। इसलिए बाहर के अग्निहोत्र आदि यज्ञ में भी एक-एक मन्त्र पढ़कर स्वाहा-स्वाहा करते हुए ही यज्ञ चलाना होता है। यह 'स्वाहा' ही यज्ञ की जान है।

यज्ञांगों की इतनी मीमांसा पूर्व प्रकरणों में हो जाने के बाद अब पाठकगण प्रत्येक अंग में बलिदान के प्राणत्व को स्वयं सुगमता से देख सकते हैं। उत्तमांग में जब आज्ञापालन तथा अनुसरण का व्यापार होता है, तब प्रत्येक व्यापार में कुछ न कुछ बलिदान करना होता है। उस एक आज्ञप्त इच्छा के अतिरिक्त शेष सब इच्छाओं का, शेष सब बातों का बलिदान करना होता है। प्रायः अपने सुख या आराम की इच्छा,- अपने किसी विषय की इच्छा इस आज्ञप्त इच्छा के विरोध में खड़ी होती है और इसके खड़े करने वाले होते हैं हमारे पूर्वपरिचित असुर। पर यह खूब समझ लेना चाहिए कि इस आज्ञप्त इच्छा के सामने अन्य सब विरोधी इच्छाएं हीन हैं, पशु हैं, विघ्न हैं। इनको तुरन्त बलि चढा देना चाहिए। यदि हम इच्छा रूप में, विचार रूप में विद्यमान इनको बलि न कर देंगे तो इनके कर्मरूप में आ जाने पर इनका बलिदान करना बड़ा कठिन हो जाएगा और यज्ञ को हानि पहुंच ही जाएगी। उदाहरणार्थ कभी 'अज्ञान' और 'अभिमान' के असुर यह विरोधी विचार खड़ा करते हैं कि 'यह आज्ञा अशुद्ध, है, सेनापति की इस बात से अधिक अच्छी बात तो फलानी है, क्या हममें अक्ल ही नहीं है ?' परन्तु सच्चा याज्ञिक इन सब विरोधी विचारों को श्रद्धा की अग्नि में स्वाहा कर देता है और इस आहुति द्वारा श्रद्धा की अग्नि और भी अधिक प्रचण्ड हो जाती है। कभी मन कहता है कि 'सभा की यह बात इतनी अशुद्ध है कि मेरे अन्तःकरण की आवाज इसे करने से रोकती है।' परन्तु पीछे ज्ञान होता है कि यह भी 'अज्ञान' असुर की करतूत है और वह अपने अन्तःकरण की झूठी आवाज का भी बलिदान कर देता है। इस प्रकार यदि विचारावस्था में ही पशुभावों का स्वाहा होता जाये तो यह स्वाभाविक तौर पर बढ़ता जाता है। यज्ञ के प्रत्येक अंग का जीवन यज्ञकर्त्ताओं की बलिदान शक्ति पर निर्भर है। वे निरन्तर बलिदान कर सकते हैं या नहीं, इस बात पर निर्भर है। प्रत्येक आज्ञापालन में और अनुसरण में भिन्न-भिन्न प्रकार के विरोधी विचार आते रहेंगे। उनका निरन्तर स्वाहा करते रहना ही यज्ञ को जीवित रखना है। एक बार जोश में आकर बलिदान करना और बात है तथा निरन्तर बलिदान करना और बात है। दूसरी अवस्था ही यज्ञ का जीवन है। पहली अवस्था तो किसी कृत्रिम उपाय से थोड़ी देर के लिए श्वास चला देने के तुल्य है। हमने भी असहयोग के दिनों में बलिदान किये हैं, कइयों ने राष्ट्र की आज्ञा पाकर करोड़ों की आमदनी और भोग विलास का बलिदान कर दिया, हजारों ने जेल में जाकर अपने घर के सुखों का बलिदान कर दिया। किन्तु यह सब हमारा बलिदान स्थिर नहीं है तो यह हमारे राष्ट्र यज्ञ के जीवन का चिह्न नहीं है। हमारा राष्ट्र यज्ञ यदि जीवित है तो उसमें अब (जबकि ज़ोश का काम नहीं है) ऐसे पर्याप्त पुरुष होने

चाहिएँ जो कि देश के लिए फकीर बन को जाने उद्यत हों। ऐसे लोग अधिक होने चाहिएँ जो कि राष्ट्र आज्ञा से चरखा कातने के लिए आलस्य का बलिदान और गप्प मारने के समय का बलिदान, सीखने का कष्ट उठाने के रूप में बलिदान और नियमपूर्वक न कातने में जो सुविधा होती है, उसका बलिदान करने को उद्यत हों और ऐसे लोग तो सभी होने चाहिएँ जो कि विदेशी वस्त्र पहनने के सुख का बलिदान कर सकते हों। जीवन तो सतत बलिदान से ही चलता है। देवों की पूजा करने के प्रकरण में वेद में बहुत जगह 'हविषा विधेम' यह पाठ आया करता है। इसका अर्थ यह है कि हम उस देव की त्याग द्वारा पूजा करते हैं। कितना स्पष्ट है कि देव पूजा के लिए हवि की, त्याग की जरूरत है। कम से कम वेदविहित पूजा त्याग के बिना नहीं हो सकती। यह हुई देवपूजा अंग की चर्चा।

(2) इसी प्रकार संगतिकरण के लिए, सहोद्योग का व्यापार चलते रखने के लिए बलिदान की परमावश्यकता है। पहिले तो मेल ही बलिदान के बिना नहीं होगा। किन्हीं दो वस्तुओं को मिलाने के लिए उन्हें घिसकर, पिघलाकर या किसी अन्य तरह कुछ न कुछ त्याग कराया जाता है। अपना व्यक्तित्व बिना छोड़े कोई चीज मिलकर एक नहीं बन सकती। समाज में संगठित होने के लिए व्यक्ति को अपना बहुत कुछ बलिदान करना पड़ता है। रसायन के दो वस्तुओं के मिलने में भी यही सिद्धान्त है। सभाओं में एक निर्णय के लिए 'ये ते के च सभासदः ते मे सन्तु सवाचसः' (अथ० 7-12-2), 'सवाचसः' होने के लिए बहुधा समझौते करने होते हैं जिसमें कि दोनों पक्षों को कुछ न कुछ छोड़ना होता है। सभा के सब सभ्य यदि अपनी सम्मति को जरा भी छोड़ने को तैयार न हों तो सभाओं का एक भी निश्चय न हो सके। मिलने का तो मूल मन्त्र ही बलिदान है। यज्ञ के सब बराबर के सभासद मिले रहें इसके लिए आवश्यक है कि वे अपने एकोद्देश्य की आग में अन्य मतभेदों को-अन्य सब अपनी-अपनी भिन्न-भिन्न इच्छाओं को-स्वाहा करते रहें। त्याग से मेल होता **है**। अतएव संस्कृत में यज्ञ को 'मेध' शब्द से भी कहा जाता है, जैसे कि अश्वमेध, गोमेध आदि। यहाँ भी धातु पाठ के रचयिता ऋषि का कौशल देखने योग्य है। धातु है, 'मेध संगमे च'। 'च' कहने से पूर्वोक्त हिंसा अर्थ भी इसका है एवं मेध् धातु का अर्थ हुआ 'हिंसा और संगम'। मेध का अर्थ हुआ वह कार्य जिसमें कि हिंसा करके (नाश करके) कुछ संगम किया जाय। ऊपर कहा कि प्रत्येक संगम (मेल) के लिए कुछ न कुछ नाश करना होता है—स्वाहा करना होता है। 'मेध्' शब्द में कैसी अच्छी तरह यज्ञ का रूप समाया हुआ है। गोमेध आदि का वर्णन तो आगे आवेगा, यहाँ केवल मेध शब्द का अर्थ समझना अभीष्ट था। अपने यज्ञ के साथियों में से यदि कोई जुदा होने लगे तो अपनी सब इच्छाओं की हिंसा करके भी उसे मिलाए रखना (संगम करना) 'मेध' है। स्वर्गीय देशबन्धु दास में यह विशेष गुण था, इसी कारण उनका दल संगठित रहता था। उनका स्मरण करते हुए महात्मा गान्धी को उनके इसी गुण का विशेष ध्यान आया था। अपने साथियों को मिलाए रखने के लिए या

अपने आप संगठन में मिले रहने के लिए अपने एकोद्देश्य को छोड़कर और जो कुछ मिलने में बाधक हो, उस सब को छोड़ते जाना चाहिए। कभी-कभी 'ईर्ष्या', 'द्वेष', 'क्रोध' आदि असुर मौका पाकर हमारे अन्दर अपने भाई के विरुद्ध विचारों को उत्पन्न कर देंगे। पर हमें संभाल कर ऐसे सब विरोधी विचारों को 'साम्मनस अग्नि' में स्वाहा कर देना चाहिए जिससे कि 'साम्मनस अग्नि' बुझने की जगह और भी दीप्त होकर यज्ञ के मध्य अंग को बढ़ाती जाय। हम देखेंगे कि मिले रहने के लिए जिस प्रकार बलिदान की आवश्यकता है, वैसे ही सहोद्योग के लिए भी निरन्तर बलिदान का प्राण चलते रहना चाहिए। उदाहरणार्थ, आर्यसमाज में सहोद्योग के लिये प्रत्येक आर्यपुरुष को अपना पुत्र गुरुकुल भेजना चाहिए। इधर मन में पशु कहता है— 'मेरा प्यारा पुत्र है, इसे मैं क्यों चौदह साल के लिए जुदा कर दूं ?' परन्तु इस पशु की तुरन्त हिंसा कर डालनी चाहिए जिससे कि वह यज्ञ में जुड़ा रह सके, संगम हो सके। यह भी मेध हुआ। भारत की विदेशी सरकार के किसी कानून का कभी भंग करने में सहोद्योग करना हमारा कर्त्तव्य होता है तो मन में पशु कहता है—'अरे ! जेल जाने में बड़े-बड़े कष्ट होंगे, इस काम में सम्मिलित मत हो।' पर इस पशु को साम्मनस अग्नि में भस्म करके उसे अपने साथियों के संगम में सम्मिलित ही होना चाहिए।

(3) यज्ञ का तीसरा अंग 'दान' तो स्वयं ही बलिदान रूप है। इसमें छोटों की सहायता के लिए, उनकी कमी पूरी करने के लिए जो कुछ हमारे पास हो वह सब देना होता है। अतः इसमें बलिदान की सत्ता दिखलाने की आवश्यकता नहीं है। यह स्पष्ट है कि यह अंग इसी कारण आधार अंग है क्योंकि यह बलिदान रूप है और बलिदान यज्ञ का प्राण रूप है। अन्त में इस तरफ निर्देश करना भी अनुचित न होगा कि बलिदान की मात्रा का निश्चय उसके बाह्य त्याग की मात्रा से कभी नहीं किया जा सकता। इस प्रकरण में महाभारत में कही गई अपने सत्तुओं का दान करने वाले ब्राह्मण और अर्ध सुवर्णमय नेवले की कथा स्मरण कर लेनी चाहिए। यह सर्वथा सत्य है कि यज्ञकर्ता में वास्तव में बलिदान की मात्रा जितनी अधिक होगी, उसका यज्ञ उतना ही वीर्यवान और जीवनशाली होगा।

इसलिए जो लोग बलिदान से डरते हैं, उन के लिए यज्ञ नहीं है। उन्हें यज्ञ से दूर रहना चाहिए और जब बलिदान करने की इच्छा पैदा हो, तभी यज्ञ में सम्मिलित होना चाहिए। एक स्वस्थ पुरुष में अवश्य ही बलिदान की इच्छा पैदा होगी। यह भी हमें समझ लेना चाहिए कि स्वस्थ यज्ञ में यह बलिदान वैसे ही आसानी से, सहजता से, प्रसन्नता से होना चाहिए, जैसे कि हमारा श्वास प्रश्वास होता है। बलिदान सीखने वालों को प्रारम्भ में अवश्य कुछ बलिदान कार्य में कष्ट अनुभव होगा, परन्तु स्वस्थावस्था हो जाने पर यह कार्य सहज हो जायगा। यज्ञ कर्ता पुरुष तो 'यह त्यागा, यह त्यागा, यह भी त्याग दिया, अब यह भी' इस तरह आनन्द से बलिदान करता हुआ ही यज्ञ में अग्रसर होता जाता है। असहयोग

आन्दोलन के दिनों में एक मनुष्य ने महात्मा गांधी से पूछा—'आप क्यों इतने लोगों को जेल भिजवा रहे हैं और मरवा रहे हैं ? इसका पाप आप के सिर है ।' उन्होंने कहा कि मैं तो किसी को मरने या जेल जाने को नहीं कहता हूँ पर उन्हें इस काम में मजा आता है इसलिये करते हैं । सचमुच बलिदान करने में बड़ा मजा आता है । यह मनुष्य के लिए श्वास की तरह परमस्वाभाविक बात है, यदि वह यज्ञ दृष्टि से स्वस्थ है । जिन मनुष्यों को बलिदान में आनन्द नहीं आता, उनके प्रेम में (यज्ञोद्देश्य के प्रति प्रेम में) कमी होती है । पहले बताया जा चुका है कि यज्ञ तो प्रेममय वस्तु है और प्रेम बिना बलिदान के जिन्दा ही नहीं रह सकता । प्रेम को तो भोजन की तरह रोज बलिदान चाहिए । प्रेम तो कहता है—

प्रेम पियाला जो पिये, सीसदक्षिणा देय ।
लोभी सीस न दे सके, नाम प्रेम का लेय ।।

अतः यह ठीक है कि जब कभी बलिदान में कठिनता अनुभव होती है तब वास्तव में ध्येय में प्रेम की कमी होती है । अन्यथा प्रेमी तो बलिदान का भूखा होता है । परन्तु जहां प्रेम से बलिदान स्वयं होना है वहां बलिदान से भी प्रेम बढ़ता है जैसे कि रस से प्राण बढ़ता है और प्राण बढ़ने से रस अधिक बनता है । अतः प्रेम और बलिदान दोनों अपने में बढ़ाने का यत्न करना चाहिए और इनके बढ़ाने का यत्न करते हुए निश्चिन्त रहना चाहिए कि फिर हमारा यज्ञ सर्वथा सुरक्षित है ।

यज्ञ में प्रेम और बलिदान का महत्व पूरी तरह समझने के लिए यज्ञ का मूल सिद्धान्त जान लेना आवश्यक है । यज्ञ का मूल सिद्धान्त है—पहिले दूसरे (सब), फिर मैं (अकेला) । इसी सिद्धान्त से यज्ञ की उत्पत्ति होती है। मनुष्य क्यों मिलते हैं ? क्यों संगठित होते हैं ? क्यों यज्ञ प्रारम्भ करते हैं ? क्योंकि अकेले जुदा-जुदा रहने में उनका भला नहीं होता । अपना जुदा-जुदा स्वार्थ पूरा करने में लगने से वे देखते हैं कि हम में से किसी का भी स्वार्थ पूरा नहीं होता है । इसलिए लोग मिलते हैं और देखते हैं कि मिलने से—सब का सामुदायिक स्वार्थ देखने से—सभी का (एक-एक का) लाभ होता है—एक-एक का स्वार्थ पूरा होता है। उदाहरणार्थ, सबसे पहिले मनुष्य कुटुम्ब यज्ञ में शामिल होना सीखता है। कुटुम्ब मे यदि पति-पत्नी या पिता-पुत्र या दो भाई अपने जुदा-जुदा स्वार्थ रखें और अपने स्वार्थ के लिए दूसरे से लड़ते रहें, तो वे एक-दूसरे को हानि पहुंचा कर दोनों ही निर्बल रहेंगे और उन निर्बलों का बाह्य जगत् नाश कर देगा परन्तु यदि वे यज्ञ को समझ जाते हैं और मिलने का लाभ स्पष्ट देखते हैं तो वे मिलकर सब का स्वार्थ देखने के बाद ही अपने जुदा स्वार्थ का विचार करते हैं। प्रत्येक दूसरे के सुख का विचार पहिले करता है, अपना पीछे । यज्ञ (मेल) को समझने तक उनका सिद्धान्त था—पहिले मैं, फिर दूसरे सब । यह पशुपन है। पशु अपना ही स्वार्थ जानता है । परन्तु यज्ञ के जानने पर उनका सदैव का सिद्धान्त हो जाता है कि—पहिले दूसरे सब, फिर मैं (अकेला) । इस प्रकार यज्ञ मनुष्य को पशु से वास्तविक मनुष्य

बनाता है। मनुष्य केवल अपना विचार छोड़कर सब की दृष्टि से विचार करता है और कर्म करता है। इसलिए आर्य समाज का नवां नियम प्रवर्तक ऋषि ने बताया है कि 'प्रत्येक को अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट न रह कर सब की उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।' इसीलिए भूमि सूक्त में कहा गया है—

सा नो भूमिर्वर्धयत् वर्धमाना अथ० 121-13

'वह हमारी मातृभूमि (हम द्वारा) बढ़ती हुई हमें बढ़ावें।' वास्तव में सब मातृभूमि (तीस करोड़ भारतवासियों) की वृद्धि में ही हमारी (एक-एक भारतवासी की) वृद्धि है। यदि हम 'पहिले मैं' के पशु सिद्धान्त के अनुसार सस्ता विदेशी वस्त्र लेना छोड़कर, अपना घाटा सहकर भी पहिले मातृभूमि को बढायेंगे तो मातृभूमि सब घाटा पूरा कर देगी और हमें बढ़ाती जायगी। इसलिए एक यज्ञ कर्त्ता कपड़ा लेते समय मँहगा और खुरदरा खद्दर लेगा। (पहिले तीस करोड़ भारतवासियों को देखेगा) फिर उन खद्दरों में से बेशक सस्ता और अच्छापन देखेगा (फिर अपना भी विचार करेगा)। इस प्रकार यज्ञ की उत्पत्ति एवं प्रारम्भ ही प्रेम और बलिदान से होता है।

अब स्पष्ट है कि यज्ञ का घातक शत्रु है—स्वार्थ या खुदगर्जी (पहिले मैं, फिर दूसरे सब)। यह स्वार्थ प्रेम रूपी इन्द्र का वृत्र है। प्रेम सूर्य को यह सदा आ आकर ढक लेने की चेष्टा किया करता है। बलिदान का यह निषेधरूप है। बलिदान दिन है तो स्वार्थ रात है। जैसे कि बलिदान यज्ञ देवों में महादेव है, वैसे ही यज्ञ के सब असुरों का एक असुर 'स्वार्थ' है। अहंकार, मोह, अपनापन ये सब इसी के भिन्न-भिन्न रूप हैं। यज्ञ में जिस-जिस वस्तु का बलिदान करना होता है उन सबका एक नाम स्वार्थ है। यज्ञ में निरन्तर इसी का बलिदान किया जाता है। यही यज्ञ का पशु है। प्राणाग्नि होत्र उपनिषद् में शरीरस्थ यज्ञ का चित्र खींचते हुए लिखा है—'कामः पशुः' काम अर्थात् (पहिले) अपनी इच्छा, यही यज्ञ में बलिदान करने योग्य पशु है। आजकल की भाषा में जिसे स्वार्थ कहते हैं उसके लिए अपेक्षया प्राचीन साहित्य में 'काम' शब्द का प्रयोग होता था। गीता में स्वार्थरहित, बिना खुदगर्जी के, कार्य करने का नाम 'निष्काम कर्म' है। यह ('काम') ही यज्ञ का सबसे बड़ा या एक मात्र शत्रु है। यअ में अपनी जुदा इच्छा रखना यज्ञ को भ्रष्ट कर देना है। गीता का मुख्य उपदेश यही है कि मनुष्य को अपने कर्मों में से सकामता का दोष निकाल कर अपने प्रत्येक कर्म को पवित्र यज्ञ कर्म बना लेना चाहिए, ऐसे यज्ञार्थ कर्म करता हुआ मनुष्य मुक्त हो जाता है। यज्ञ कर्म और अयज्ञ कर्म में निष्कामता और सकामता का ही भेद है। गीता के दूसरे अध्याय में जो नाश का मार्ग बताया है, वह 'संग' और 'काम' से ही प्रारम्भ होता है। यह 'काम' और 'स्वार्थ' सब पापों की भी जड़ है, इसीलिए वेद ने अकेले अपने आप खाने वाले को केवल पाप खाने वाला कहा है—'केवलाघोभवति केवलादी'। यही बात 'भुंजते ते त्वयं पापा ये पचन्त्यात्म कारणात्' इस गीता वाक्य में कही है। यहां अब यह भी स्पष्ट हो

जायगा कि जो अब तक हमने यज्ञ का लक्षण करते हुए कहा है कि 'मिलकर किये जाने वाले शुभ कर्म का नाम यज्ञ है', यहाँ शुभ कर्म का क्या अर्थ है ? शुभ कर्म का अर्थ है 'अपने लिये न करके दूसरे के लिये करना, स्वार्थ की जगह परार्थ, परोपकार करना।' परोपकार के लिए जो संगठन है, वही यज्ञ है। दूसरों को पीड़ा देने वाले संगठनों से जो कमाई मिलती है, वह कमाई नहीं, वह तो पाप का ढेर है। इस प्रकार पाठक नाना प्रकार से विचार कर देख लें कि 'स्वार्थ' ही यज्ञ का विघातक है। मनुष्य में यह स्वभावतः उत्पन्न होता है, परन्तु इसका बलिदान होता जाना चाहिए। बलिदान रूपी प्राण का काम निरन्तर इसी स्वार्थ मल का निकालना है। यदि यह स्वार्थ मल यज्ञ शरीर में कहीं भी ठहर गया तो याद रखना चाहिए कि यह ठहरा हुआ थोड़ा सा स्वार्थ मल वह विष है जो कि सब यज्ञ का प्राणान्त कर देता है।

परन्तु हमें स्वार्थ का अर्थ अच्छी तरह समझ लेना चाहिए, क्योंकि कई बार स्वार्थ में परार्थ होता है। यह स्वार्थ में परार्थ समझने के लिए हमें पहिले बताये हुये परार्थ में स्वार्थ को जरा दूर तक समझना चाहिये। इसे दूर तक समझने में यह बात भी स्पष्ट हो जायगी कि यज्ञ परार्थ क्यों होना चाहिए और स्वार्थ के लिए संगठन क्यों नहीं बनाने चाहिएँ।

कहा जा चुका है कि जब शुरू में मनुष्य यज्ञ करना सीखता है तब वह यही नयी बात सीखता है कि 'परार्थ में ही मेरा असल में स्वार्थ सिद्ध होता है' और इसी लिए वह दूसरों से मिलता है, यज्ञ में संगठित होता है। अब यदि पश्चिम के लोग पूछें या नयी सभ्यता से प्रभावित भारतवासी पूछें कि—

'हम अपना स्वार्थ त्याग करते हुए अपना संगठन बनायेंगे तो संगठन बल से हमें लाभ अवश्य ही मिलेगा, हम चाहें उस संगठन से दूसरों को लूटें या कुछ ही करें। हमारे संगठन का उद्देश्य परोपकार हो, इसकी क्या आवश्यकता है ?' तो मैं कहूँगा कि जिस सिद्धान्त से अपना संगठन बनाया है, उसे ही आगे क्यों नहीं लगाते ? यदि एक व्यक्ति का सच्चा स्वार्थ परार्थ में है अतः उसे दूसरों से मिलकर संगठित होना चाहिये, तो एक संगठित व्यक्ति (यज्ञ) का भी सच्चा स्वार्थ परार्थ में ही है अतः उसे ईश्वरीय संसार महायज्ञ में संगठित होना चाहिए। एक मनुष्य की तरह फिर एक यज्ञ पुरुष को भी सीख लेना चाहिए कि पहले दूसरे, फिर मैं। दूसरे शब्दों में इसे यों कहना चाहिए कि हमारे बनाये सब यज्ञ (संगठन) परिमित हैं, अपूर्ण हैं अतः वे तभी सफल हो सकते हैं जब वे परमात्मा के परम परोपकारमय संसार यज्ञ की अनुकूलता में चलें। सब के मूल में तो सब यज्ञों का स्रोत परमात्मा का परम परोपकार है। इसलिये जिनका मुख उस तरफ है वे ही यज्ञ जीवन प्राप्त कर सकते हैं। जिन्होंने उधर से पीठ फेरी हुई है, वे अपने तुच्छ बल पर कब तक जीते रहेंगे ? जो चाहे छोटे छोटे भी यज्ञ हैं पर यदि वे संसार महायज्ञ के अभिमुख हैं तो उनकी जड़ें जमी हुई हैं। परन्तु जो बड़े से बड़े ऐसे संगठन हैं (उन्हें यज्ञ नहीं कहा जा सकता) जो कि परपीड़न के लिए हैं, अतः ससार यज्ञ के स्वार्थ से जुदा अपना स्वार्थ रखते हैं वे

कृत्रिम तरीकों से जितने ऊँचे खड़े किये गये हैं, उतनी ही जोर से धड़ाम से गिरेंगे। इसलिये ऐसे संगठनों का थोड़ा बढ़ना ही अच्छा है; जितनी थोड़ी दूर जाकर ही वे टूट जायें अच्छा है, नहीं तो धोखा बढ़ता जाता है। इन संगठनों को यज्ञ इसलिए नहीं कहा जा सकता क्योंकि इनके सब स्वार्थ त्याग राक्षस खाते जाते है, वे देवताओं को नहीं पहुंचते। राक्षस (स्वार्थ) देवताओं (परार्थ) की तरह अमर नहीं होते, क्योंकि उन्हें पीठ फेरी हुई होने के कारण लगातार यज्ञस्वरूप से जीवन नहीं मिलता रहता। अतः राक्षसों की आयु पूरी होने पर सब संगठन गिर पड़ता है। इसलिए हमने कहा कि यज्ञ परोपकार के लिए ही होना चाहिए। अस्तु।

अब दूसरी बात समझना आसान है, क्योंकि मनुष्य एकदम परिपूर्ण यज्ञ नहीं कर सकता और एकदम सब स्वार्थ नहीं छोड़ सकता, इसलिए वह परिमित यज्ञ करता है, परिमित रूप से स्वार्थ को छोड़ता है। इसके लिए वह अपने यज्ञ पुरुष के स्वार्थ को अपना स्वार्थ बना लेता है। उदाहरणार्थ जो अभी कुटुम्ब यज्ञ तक पहुंचा है, वह कुटुम्ब के लिए अपने सब स्वार्थ छोड़ता है परन्तु कुटुम्ब के स्वार्थ को नहीं छोड़ता। एक भारतवासी राष्ट्रयज्ञकर्त्ता अपने भारतराष्ट्र के लिए अपने सब स्वार्थ छोड़ देगा, पर भारत के स्वार्थ (स्वराज्य प्राप्ति) को नहीं छोड़ेगा। यह स्वार्थ छोड़ना भी नहीं चाहिये क्योंकि यह वास्तव में स्वार्थ नहीं है। यह तो परार्थ है क्योंकि हम अभी समझकर आये हैं कि सब यज्ञों का उद्देश्य परार्थ होता है। कुटुम्ब समाज में काम आने के लिए हैं, भारत की स्वराज्य प्राप्ति संसार के लिए है, यदि ये दोनों संगठन वास्तव में यज्ञ हैं। इसलिए अपने यज्ञ का—वास्तविक यज्ञ का—स्वार्थ स्वार्थ नहीं होता। इस स्वार्थ नामक परार्थ को तो कभी न छोड़ना चाहिए। तात्पर्य यह है कि संसार यज्ञ के अविरुद्ध जो स्वार्थ है, वह स्वार्थ नहीं है, परार्थ है (संसार यज्ञार्थ है)। इसीलिए इस स्वार्थ को यज्ञ का घातक शत्रु न समझकर यज्ञ का परम पोषक समझना चाहिए। यह केवल बोलने के लिए स्वार्थ है (असल में तो परार्थ है) क्योंकि यह परार्थ का स्वार्थ है।

भगवद् गीता के 4–18 श्लोक को बदल कर मैं यों पढ़ सकता हूँ—

स्वार्थं परार्थं ईक्षेत परार्थे स्वार्थमेव च।
सबुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नस्वार्थकृत् ॥

हवन का नाम सबने सुना होगा। बहुत से लोग हवन और यज्ञ को पर्याय-वाची समझते हैं। परन्तु वास्तव में 'हवन' एक प्रक्रिया का नाम है जो कि यज्ञ में अवश्यंभावितया होती है। इस हवन प्रक्रिया का अर्थ जानने के लिए फिर एक बार धातु पाठ के रचयिता ऋषि का स्मरण करना चाहिए। उन्होंने 'हु' धातु का अर्थ लिखा है 'दानादानयोः' अर्थात् दान और आदान, देना लेना। एक ही धातु के देना लेना ये दो परस्पर विरोधी अर्थ कइयों को असंगत या विचित्र प्रतीत होंगे परन्तु इसी में सुसंगतता और सौन्दर्य है। क्योंकि हवन करने का अर्थ है ऐसा दान करना जो कि आदान करावे। प्रत्येक यज्ञ में वह प्रक्रिया होती है कि उनमें एक वस्तु दी जाती

है, त्यागी जाती है और उसका परिणाम यह होता है कि एक उत्तम वस्तु का आदान होता है, प्राप्ति होती है। इसी प्रक्रिया का नाम हवन है। भगवद्‌गीता के यज्ञ प्रकरण में इस प्रक्रिया का वर्णन इस प्रकार हुआ है—

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥

'इस (यजन) से तुम देवों को भावित (पुष्ट) करो और वे देव तुम्हें भावित करें। (इस प्रकार) परस्पर–एक दूसरे को-भावित करते हुए तुम परम कल्याण को प्राप्त होओगे।' इस प्रकार देन लेन की प्रक्रिया (हवन) सब प्रकार के यज्ञों में होती है। उदाहरणार्थ, दैनिक अग्निहोत्र में हम अग्नि द्वारा वायु आदि देवों को घृत सामग्री आदि का दान करते हैं तो हमें वायु शुद्धि, वृष्टिशुद्धि आदि का आदान होता है। इस प्रकार आदान कराने वाला दान यज्ञ में जिस वस्तु का किया जाता है वह वस्तु 'हविः' कहलाती है। 'हवि' शब्द भी उसी 'हु' धातु से बना है जैसे कि उपर्युक्त उदाहरण में घृत सामग्री हवि है। इसी प्रकार राष्ट्रयज्ञ में हवि राजकर होता है, क्योंकि प्रजाजन जो राजकर देते हैं उससे उन्हें जान-मालकी रक्षा, वृद्धि आदि फल प्राप्त होते हैं। समाज यज्ञ में एक चिकित्सक को, एक ब्राह्मण को हवि दी जाती है। इससे जनता को शारीरिक स्वास्थ्य और आत्मिक स्वास्थ्य प्राप्त होता है। गुरु शिष्य यज्ञ में जब शिष्य समिधा लेकर गुरु के पास जाते हैं तो गुरु उनकी भक्ति और शुश्रूषा की हवि स्वीकार करते हुए उन्हें अपना सब अनमोल ज्ञान देते हैं। राष्ट्रयज्ञ में फिर सरकारी नौकर अपनी सेवायें देते हैं और उन्हें सरकार वेतन देती है। समाज यज्ञ में एक दुकानदार लोगों के लिए आवश्यकीय वस्तुएँ इकट्ठी करके रखता है और सहूलियत पहुंचाता है तो लोग उसे वस्तुओं का मूल्य देकर उसका भरण पोषण करते हैं। इस प्रकार सैकड़ों प्रकार के सब यज्ञों में हम देख सकते हैं कि यही 'हवन प्रक्रिया' हो रही है। केवल सब यज्ञों में नहीं किन्तु जैसा कि हम आगे वैयक्तिक यज्ञ के प्रकरण में देखेंगे कि सब यज्ञों के प्रत्येक अङ्ग में यह 'हवन प्रक्रिया' होती है।

उपर्युक्त हवन प्रक्रिया देखकर कोई पूछता है कि क्या फिर यज्ञ सौदा है? हाँ, यज्ञ सौदा है, पूरा पूरा और पक्का सौदा है। ऐसा पक्का और सच्चा सौदा है कि हमारे बाजारी सौदे ऐसे पक्के और सच्चे हो ही नहीं सकते। यह बात अटल है कि यज्ञ में जो कुछ हवन किया जायेगा उसका ठीक, निश्चित पूरा पूरा प्रतिफल अवश्य अवश्य मिलेगा। पर यज्ञ के निश्चित सौदा होने के कारण ही हमें यज्ञ में सौदा करना नहीं चाहिए। सौदा तो यहाँ हुआ हुआ है। बाजार में हम सौदा या शर्त बन्दी इसलिए करते हैं क्योंकि या तो हमें इसके कच्चे होने व टूट जाने का डर होता है या अपनी तरफ इसके झुक जाने की आशा होती है। पर यज्ञ का सौदा तो पक्का है, न यहाँ ऐसे डर का काम है, न ऐसी झूठी आशा का अवसर है। यह याद रखना

चाहिए कि सब यज्ञों का—सामाजिक संगठन यज्ञों का भी—फलदाता परमात्मा है या उसके देव हैं। वे न तो रियायत कर सकते हैं और न ठगे जा सकते हैं। अतः यह समझ लेना चाहिए कि यज्ञ में सौदा करना न केवल व्यर्थ है किन्तु हानिकारक है। क्योंकि जो यज्ञ में सौदा करता है वह यज्ञ में अश्रद्धा और संशय प्रकट करता है और जो वस्तु श्रद्धा और विश्वास के योग्य है उसमें श्रद्धा और विश्वास न रखना अपने आपको हानि पहुंचाना है।

'अश्रद्धधानश्च, संशयात्मा विनश्यति'—(गीता 4/40) जो संशय रखता है और सौदा करके यज्ञ में शामिल होता है वह नष्ट होता है, क्योंकि पहिले तो अपूर्ण श्रद्धा के कारण पूरे यत्न से यज्ञ कार्य ही नहीं करता और फिर उसके कल्पित त्याग के अनुसार उसका कल्पित फल उसे मिलता नहीं अर्थात् इतने त्याग से फल अवश्य मिल जायेगा उसकी यह कल्पना अशुद्ध निकलती है तो वह घबड़ा जाता है और यज्ञ छोड़ कर हानि उठाता है। उदाहरणार्थ एक अधूरी श्रद्धा वाला भारतवासी राष्ट्र महासभा के यज्ञ में अपनी इतनी कुर्बानी करता है जितने से कि वह फल की आशा रखता था, परन्तु स्वराज्यादि कुछ फल मिलता न देख अपने उस सब बलिदान को भी व्यर्थ गया समझता है और किसी तरफ का भी नहीं रहता। इसके विपरीत, एक श्रद्धालु पुरुष (जिसके मन में सौदा तो आ ही नहीं सकता) यदि फल निकलता नहीं देखता तो यही समझता है कि इसमें मेरी तरफ से कहीं त्रुटि रह गयी है, या तो त्याग की कमी है या त्याग करने (हवि डालने) की विधि में कुछ त्रुटि है, अतः वह अपने यज्ञ को ही अधिक अच्छी तरह करने में तत्पर रहता है। इसलिए कहा है कि यज्ञ में सौदा नहीं करना चाहिए। यहाँ यह भी स्पष्ट है कि फल न मिलता देखकर विचलित न होना, श्रद्धा बनाये रखना वे ही लोग कर सकते हैं जिनके कि संगठन यज्ञ हैं, परोपकारार्थ हैं। जो परपीड़न के लिये, स्वार्थ के लिए किये गये आसुरी संगठनों में शामिल हैं वे स्वभावतः बहुत घबराते हैं, फल मिलता न देख बेचैन हो जाते हैं। अपने भरोसे वे कब तक चल सकते हैं? उन्हें अपने से किसी ऊँची चीज में श्रद्धा नहीं होती परन्तु यज्ञकर्ता परोपकारी पुरुष का दृढ़ आधार अगला यज्ञ या अन्त में यज्ञमय परमात्मा होते हैं। उसकी उच्च यज्ञ में श्रद्धा या परमात्मा में श्रद्धा उसे न केवल सांत्वना देती रहती है अपितु बहुधा कठिनाइयों के आने पर घबराहट की जगह उसमें उत्साह को पैदा करती है; क्योंकि उसे पूरा विश्वास रहता है कि वह परोपकार-कार्य सफल तो होगा ही, यदि मेरे जीवित रहते नहीं होगा तो पीछे होगा। अतः वह अपनी आहुति देने के लिए भी सदा उद्यत रहता है। कभी निराश नहीं हो सकता। जब यज्ञ परोपकार के लिए है, अपना स्वार्थ नहीं है तब घबराहट किस लिये? जब यह अटल विश्वास है कि निश्चित समय पर परिणाम निकलेगा ही और परोपकार होगा ही तो यज्ञकर्ता परोपकार फल की तरफ भी (अपने लिये फल की इच्छा तो पहिले ही नहीं है) ध्यान नहीं देता किन्तु अपने कर्तव्य को अच्छे से अच्छे प्रकार से बिना त्रुटि के करने में लगा रहता है। असल में अल्पज्ञ पुरुष संसार की जटिल कर्मगति को कैसे

जान पावे, उसे तो यदि किसी प्रकार परमात्मा के न्यायकारित्व और कल्याणकारित्व में श्रद्धा हो जाय तो उसका बेड़ा पार है। यह श्रद्धा ही मनुष्य को फल से निश्चिन्त करा शुभ कर्म करने के कार्य में लगाती है। इसी श्रद्धावश मनुष्य यज्ञ का पल्ला अन्त तक नहीं छोड़ता। अतः यज्ञ तो परोपकारियों और श्रद्धालुओं के लिए है, स्वार्थियों और सौदा करने वालों के लिए नहीं है।

क्या हम भारतवासियों को यज्ञ स्वरूप परमात्मा में इतनी श्रद्धा है ?

अभी तक यज्ञ के करने कराने के बहुत से सिद्धान्त और नियम बताये गये हैं। इसी प्रकार यज्ञ कर्त्ता को क्या खाना चाहिये, इसका भी एक आवश्यक नियम है, व्रत है। यज्ञकर्त्ता को केवल यज्ञ-शेष ही खाना चाहिए। यज्ञ से जो कुछ बचे वह यज्ञशिष्ट है। यज्ञ का सिद्धान्त पता ही लग चुका है कि पहिले दूसरे, फिर मैं। अतः यज्ञ से जो कुछ फल मिले, जो कमाई हो उसे पहिले यज्ञ के काम में ही (जो कि दूसरे सबों को देना है) लगाने के बाद जो कुछ बचे, अपने हिस्से में आवे, उसे ही खाना चाहिए। यदि यज्ञ कर्ता जो यज्ञ का फल हो उस सब को अपने भोग में ही खर्च कर दे तो संसार में चलने वाले यज्ञों को बन्द करने में भागी हो और 'एवं प्रवर्त्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः' इस भारी पाप का भागी हो। यज्ञ की कमाई पर तो सबसे पहिले यज्ञ का अधिकार है—यज्ञ के देवों का अधिकार है। इसे प्राप्त करते हुए ही यज्ञ के देव संसार में यज्ञ चक्र को चलाते हैं और सब संसार का लाभ करते हैं। इसलिए यदि कोई मनुष्य यज्ञ से प्राप्त सब कमाई को अपनी ही समझ लेता है और अपने ही भोग में लगा लेता है, वह इन देवों के हिस्से को खाता है। इसलिए उसे गीता में 'चोर' कहा गया है—

तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः ।। गीता 3–12

'उन (देवों) से दिये गये (यज्ञ फलों को) जो इन्हें बिना दिये भोग करता है वह चोर ही है।' वेद में जो 'त्यक्तेन भुंजीथाः' का उपदेश है, वह यही है। इसलिए वैदिक सिद्धान्तानुसार यज्ञ करने वाला पुरुष पहिले सब के लिए अवश्य कर्तव्य पंच-महायज्ञों का हिस्सा देवों को देता था फिर जिन जिन अन्य यज्ञों में वह सम्मिलित रहता था उनका भी हिस्सा अपनी कमाई में से निकाल देता था। इस प्रकार सब यज्ञों का हिस्सा देने पर जो कुछ शेष बचता था, उसे ही वह अपने लिए भोगता था। आजकल भी हमें चाहिए कि पहिले हम सब के अवश्य कर्तव्य पंचयज्ञों को कर लें— (1) परमात्मचिन्तन कर लें, (2) अग्नि होत्र आदि से दैविक देवों को हवि दे लें, (3) माता पिता आदि को, (4) अतिथियों को खिलायें, (5) काकादि शुद्ध जन्तुओं का भी हिस्सा निकाल दें। फिर यदि हम राष्ट्रमहासभा के सभ्य हैं तो उसका वार्षिक कर निकाल दें। यदि हम चर्खा संघ यज्ञ में भी हैं तो (भोजन से पहिले) प्रतिदिन आधा घंटा कात लें। स्वराज की अवस्था में जो जो राष्ट्र कर हम पर होंगे, उन्हें भी देंगे।

यदि आर्य समाज के सभासद हैं तो समाज का चंदा (अपनी आय का

एकशतांश भाग) निकाल दें। हमारे यहाँ कोई कन्या पाठशाला आदि यज्ञ संस्था हो तो उसका जो हमारा भाग हो उसे देकर, गुरुकुलों को अपना देय भाग दे कर, इस प्रकार सब यज्ञ देवों को देने के बाद जो कुछ शेष हो उसे ही खाना चाहिए। जो जितना बड़ा यज्ञकर्ता होगा, वह उतना ही थोड़ा शेष खायेगा। कोई पूछता है कि यदि यज्ञशेष कुछ न बचे तो? यदि किसी का सचमुच सब आवश्यक यज्ञों में सर्वस्व समाप्त हो जाय तो वह मनुष्य संन्यासी है। उसे यदि यज्ञ के लिए संसार (या परमात्मा) जीवित रखना चाहें तो रखें, उसे अपने लिए जीवित रखने की जरूरत नहीं होती। वह तो अमर हो चुका है। यज्ञ को भूखा नहीं मारना चाहिए। अपने आप भूखा बेशक मर जाये क्योंकि यज्ञ तो मनुष्य का असली जीवन है। मनुष्य को यज्ञशेष भी केवल इसलिए ही खाना है जिससे कि वह यज्ञ को कर सके। अतः यदि मनुष्य ने यज्ञ को (जो कि उसका जीवन है) दान देकर न चलता रखा तो वह पहिले मर गया। इसीलिए दान सूक्त में वेद ने कितने निश्चय से कहा है कि 'सत्यं वदामि वध इत् स तस्य ।।' ऋ० 10–117–6

दान न देकर यज्ञ को भूखा मारना निश्चय से अपना (वध) नाश करना है। इसके विपरीत यज्ञ के लिए स्वयं भूखा मर जाना अमर हो जाना है। इसीलिए शास्त्र में 'यज्ञ शेष' को अमृत कहा है क्योंकि यज्ञशेष खाने वाला सब यज्ञों को जीवित रखने द्वारा अमर होता जाता है। इसलिए कहा है कि 'यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्' (गीता 4–31) यज्ञशेष रूपी अमृत को खाने वाले सनातन ब्रह्मगति को प्राप्त होते हैं अर्थात् इस अमृत का आहार करने से मनुष्य धीरे-धीरे परम अमृत को प्राप्त हो जाता है। पहिले अकेले खाने वाले को पाप खाने वाला कहा है, यहाँ एक दूसरे श्लोक में यज्ञशेष रूपी अमृत खाने से सब पापों से छुटकारा बतलाया है—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः । गीता 3/13

अकेले खाने से पाप ही पाप मिलता है और यज्ञशेष खाने से सब पापों से छुटकारा होता है। इस प्रकार यज्ञशेष का बड़ा माहात्म्य है। इससे स्पष्ट है कि यज्ञ शेष खाने का व्रत यज्ञ में कितना आवश्यक है।

यज्ञ के शेष के साथ ही यज्ञ का उच्छेष भी समझ में आ जायेगा। यज्ञ की कमाई में से जो अपने लिए बचता है वह शेष है और जो यज्ञ के लिए छोड़ दिया जाता है वह उच्छेष है। यह यज्ञ के लिए छोड़ना दो प्रकार से हो सकता है, एक तो यज्ञ की कमाई को स्वीकार करके फिर उसे यज्ञार्थ देना, दूसरा यज्ञ के फल को स्वीकार ही न करना। परिणामतः दोनों एक ही बात हैं परन्तु उच्छेष का असली अर्थ दूसरे प्रकार के उच्छेष में हैं। जो ऊँचे यज्ञ करने वाले होते हैं वे नीचे के यज्ञों के फलों को स्वीकार ही न करने द्वारा उच्छेष छोड़ते हैं। इसकी परकाष्ठा भी परमात्मा में है। परमात्मा सब से बड़ा यज्ञ करने वाला है अतः उसने सब के सब यज्ञों के फलों को छोड़ रखा है। वह कुछ भी नहीं भोगता। 'अनश्चन् अभिचाकशीती' कुछ भी न खाता हुआ केवल प्रकाशमान है मानो उसने

भरी भराई थाली वैसी की वैसी छोड़ दी है। उसके यज्ञ का 'शिष्ट' कुछ भी नहीं है, सब का सब उच्छिष्ट ही है। अतः वह परम अमृत है। संसार का सब ऐश्वर्य उस का उच्छिष्ट है। इस उच्छिष्ट की महिमा अथर्ववेद के 11—7 सूक्त में अच्छी तरह बतायी गयी है। परमात्मा के इस उच्छिष्ट छोड़ने से ही सब संसार बना है। परमात्मा के बाद संसार के अग्न्यादि देव तथा फिर ब्राह्मण आदि भू देव भी उच्च यज्ञ करने के कारण यज्ञोच्छिष्ट छोड़ते हैं। इसीलिए सब संसार चलता है और सब समाज चलता है। यदि देव नीचे के यज्ञों की कमाई (फल) को न छोड़ें तो नीचे के प्राणी मारे जायें। यदि चातुर्वर्ण्य यज्ञ में ब्राह्मण एक समय से अधिक का भोजन पास न रखने के नियम का त्याग कर प्राकृतिक भोग के सामान को शूद्रों और वैश्यों के लिए न छोड़े तो सब समाज बिगड़ जाये। शरीर में यदि प्राण अन्य इन्द्रियों की तरह भोग करने लगे और भुक्त को इन्द्रियादि के लिए न छोड़े तो शरीर नष्ट हो जाय। यह सब उच्छिष्ट छोड़ने का माहात्म्य है। इस उच्छेष के कारण ही इनमें देवत्व, ब्राह्मणत्व और प्राणत्व है। इसी उच्छेष से जगत् स्थित है। कार्य के लिए वेतन ही न लेना, उसे यज्ञ के लिए छोड़ देना उच्छेष है। (लेकर छोड़ने का नाम भी उच्छेष हो सकता है) और लेकर तथा यज्ञ का भाग छोड़कर जो खाने के लिए बचता है, वह शेष है।

अब यज्ञ के शेष और उच्छेष के अत्यावश्यक व्रत को भी भारतवासी कहाँ तक निभाते हैं, यह भी देख लीजिये।

अपने अन्दर के अज्ञान के साथ-साथ विदेशी सभ्यता के प्रचार के कारण अब हम लोगों में पंचयज्ञ तो लुप्त प्रायः हैं। संध्या अग्निहोत्र की प्रथा पहिले से ही घट रही थी; माता, पिता, गुरु, अतिथि आदि की पूजा से भी अब हमारा मन फिर गया है और बलि वैश्वदेव तो मखौल समझा जाता है। इस प्रकार आज पंच महायज्ञों में अपनी कमाई का भाग कौन खर्च करने लगा है? शेष रहे संगठन यज्ञ, उनका हाल सुन लीजिये। आर्य समाज का चन्दा लेने के लिये चपरासी पीछे-पीछे फिरते रहते हैं, फिर भी हम टालते जाते हैं और प्रायः चन्दा पिछाड़ी (बकाया) बना रहता है। राज कर (Tax) तो विदेशी सरकार अपने डंडे के जोर से इकट्ठा करा ही लेती है, पर जो अपनी राष्ट्र सभा है उसका जरा सा वार्षिक चन्दा भी किस तरह और कितना वसूल होता रहा है, यह वहां के कार्यकर्ता ही जानते हैं। और फिर जब सूत का चन्दा देना पड़ा तब तो मानों हमारी जान ही निकल गई। इसी प्रकार जहाँ पहिले प्रत्येक गृहस्थ का यह यज्ञीय कर्तव्य होता था कि वह अपने विद्यालयों के लिये मुट्ठी भर अन्न निकाल कर ही भोजन पकावें या भिक्षार्थ आये ब्रह्मचारियों को भिक्षा देकर ही स्वयं खावें, वहाँ आज अच्छे चलते चलाते गुरुकुल भी केवल धनाभाव के कारण टूटने लगते हैं और संरक्षक लोग अपने ही बच्चों के लिए अपना प्रतिज्ञात धन भी नहीं देते। क्या यह हमारे 'वध' का चिह्न नहीं है?

इन सब यज्ञ संगठनों में यदि हम कुछ देते भी हैं तो ऐसा अनुभव करते हैं कि मानों हम कुछ ऐहसान कर रहे हैं। इसे आवश्यक कर्तव्य नहीं समझते और न देने (या अविधिवत् या देर से देने) में चोरी नहीं समझते। इसीलिये हम यथाशक्त अपनी कमाई को यज्ञों से बचाना चाहते हैं। विदेशी लोग तथा अन्य लूटने वाले बेशक हमें लूट ले जायें और मूर्ख साधुओं और भिखमंगों और गंगाजी को भी हम दान दे देंगे, परन्तु यज्ञों को (उनका हिस्सा भी) न देंगे। यह हमारी हालत है। याद रखना चाहिये कि यज्ञ हवि को खाने से बढ़ कर और कोई सामाजिक पाप नहीं है। वेद में (अथ० 5–18–10) लिखा है कि राष्ट्र हवि खा जाने के कारण वैतहव्य नष्ट हो गये। हम तो नष्ट हो ही रहे हैं पर यदि हमने इन राष्ट्र महासभा, आर्य समाज आदि यज्ञों की हवि को भी चुरा कर खाया, इन यज्ञों को भूखे रख कर कष्ट पहुंचाया तब तो हमें कोई भी नहीं बचा सकता। ये थोड़े से यज्ञ ही हमारी एक मात्र आशाएं हैं। हवि देने के अवसर पर बहुत बार सुनाई देता है 'मैं गरीब हूं।' परन्तु इन यज्ञानभिज्ञ भाइयों को यह मालूम नहीं कि 'तू गरीब नहीं है, तेरा सारा देश ही गरीब है और यह गरीब इसलिये हुआ है कि हम अपने को गरीब बतला-बतला कर यज्ञ को भी हवि नहीं देते हैं। हवि भी अपने आप खा जाते हैं। हम चाहे कितने गरीब हों, पर उद्धार तो यज्ञ ही से होना है। चोरी से तो पाप का बोझ और बढ़ता जायेगा और नाव पार होने की जगह डूब जायेगी। यज्ञ के सामने कोई गरीब नहीं है। यदि कोई सच्चा यज्ञ शेषामृत को खाने वाला गरीब है तो उसकी एक कौडी भी यज्ञ में लाख रुपयों के बराबर है। इसलिये तुम्हें तो और गरीब होने की जरूरत है। यदि सब देशवासियों को अपना भाई समझ सकते तो इस नाते से एक भारतवासी का यज्ञशेष दो आने प्रति दिन से अधिक नहीं है क्योंकि यह भारतवासियों की औसत आमदनी है। यदि तुम ईमानदारी से दो आने से अधिक प्रतिदिन कमाते हो तो अच्छा है। परन्तु तुम्हारी उस सब दो आने से अधिक कमाई पर भारत माता (देवी) का अधिकार है, तुम्हें केवल यज्ञशेष के तौर पर शेष दो आने ही प्रतिदिन अपने भोग पर व्यय करने का अधिकार है। क्या तुम चालीस रुपये कमाते हुए भी अपने को गरीब समझते हो? इसमें से प्रति मास पैंतीस-छत्तीस रुपये देश के लिये खर्च न करने को चोरी नहीं समझते हो? मैं इसलिये कहता हूं कि तुम्हें तो जान बूझकर अपने को दस गुना गरीब बनाने की जरूरत है। इस देश के गरीब वे हैं जो पांच-छह रुपये मासिक से कम आमदनी कर सकते हैं। अत: रोना आता है जब कि देश के नवयुवक चालीस रुपये से भी अपने को अमीर नहीं समझते और चालीस रुपये पर देश के लिये बिक जाने को उत्कंठित नहीं हो उठते। भारत के नवयुवको! सुन लो। इस नष्ट होते हुए देश में यज्ञ की फिकर, देश की फिकर, किसी किसी बिरले को ही है। सब अपना-अपना पकाना चाहते हैं और पाप-जीवन बनें हुए हैं। ऐसे थोड़े से ही हैं जो कि यज्ञ शेष खाते हैं

और जान-बूझ कर गरीब बने हैं । पर ये थोड़े से लोग ही इस देश शरीर का थोड़ा सा जीवित भाग हैं । शेष सब तो इन्द्रियाराम है । अपने इन्द्रिय सुख के लिये अधिक धन की इच्छा करते हैं और इसके लिये तीस चालीस रुपये से लेकर अधिक से अधिक रुपये लेकर देश को चुसाने का साधन बनते हैं और पाप जीवन बिताते हैं ।

अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति । —गीता 3–16

हे अर्जुन ! (जो प्रवर्तित यज्ञ चक्र को यज्ञ शेष खाने द्वारा चलता नहीं रखता) वह इन्द्रिय सुख की इच्छा करने वाला अघायु (जिसका कि जीना पाप है) व्यर्थ ही जी रहा है । इन अघायु इन्द्रियारामों से यह देश व्यर्थ ही भरा पड़ा है । ऐसा देश कब तक अपनी खैर मना सकता है ? इसलिए हे भारत की आशा नव युवको ! तुम निश्चय कर लो कि तुमने भी अघायु और इन्द्रियारामों का पाप बोझ ही बनना है या यज्ञ शेषामृत खाने वाले इस मुर्दा शरीर के थोड़े से जीवित भाग को बढ़ाना है । यदि तुम यज्ञ शेषामृत खाने वाले (इस चटक भड़क के जमाने में सूखी रोटी खाने में परमानन्द मानने वाले) बनकर इस अमृत से अपने को, अपने देश को जीवित नहीं कर दोगे तो प्रकृति तो अघायुओं को अधिक देर तक इस भूमि पर व्यर्थ भारभूत नहीं रहने देगी, यह निश्चित है । इसलिये यज्ञ ही इस देश की आशा है और यज्ञों की आशा तुम हो । इस प्रकार तुम्हारा यज्ञशेष खाने का पवित्र किन्तु कठिन व्रत ही इस देश की एक मात्र रही सही आशा है । चिल्ला-चिल्ला कर रुदन हो रहा है नवयुवको ! अपनी आवश्यकताओं को कम करो, जान बूझकर बने गरीब होकर यज्ञ में लग जाओ । यह रोना सुनाई देता हो तो सुन लो ।

यज्ञ के उच्छेष के विषय में केवल इतना ही कहना है कि भारत वर्ष में जिन-जिन संगठन यज्ञों के ऊपर के लोग त्यागी ब्राह्मण वृत्ति वाले नहीं हैं, यदि पाश्चात्यों की तरह यज्ञ में बड़े होने के कारण इन लोगों को प्राकृतिक भोग भी अधिक चाहिये, यदि ये बड़े लोग अपने प्राकृतिक भोगों को छोटों के लिए उच्छेष नहीं छोड़ सकते तो इन संगठनों में रोग है । इसकी चिकित्सा होनी चाहिये । उच्छेष के बिना कोई यज्ञ नहीं चल सकता ।

हम भारतवासी यज्ञशेष खाने का व्रत नहीं निभा सकते, हमसे यज्ञ में बलिदान भी करते नहीं बनता । हमको यज्ञ में आज्ञापालन, परस्पर प्रेम, और दान आदि नियम पालना भी अत्यन्त कठिन प्रतीत होता है । इस प्रकार हमारी सब प्रकार से यज्ञहीन अवस्था है । इसे देख कर प्रायः हमें भगवद्गीता का निम्नलिखित श्लोक स्मरण आया करता है—

नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरु सत्तम । —गीता 4–31

अर्थात् हे अर्जुन ! जो यज्ञहीन है उसे यह लोक ही नहीं प्राप्त होता. अन्य लोक का तो कहना ही क्या है ? हमारा इहलोक तो जितना अधिक से अधिक बिगड़ सकता है उतना बिगड़ ही चुका है केवल नाम निशान मिटना शेष है । इह लोक तो प्रत्यक्ष है । हम लोग दुनियां में सब से अधिक निर्धन हैं, सबसे अधिक

बे पढ़ हैं, सबसे अधिक निर्बल शरीर हैं, और सब बातों में अनुन्नत हैं। ऐसे तो हम अपने देश के अन्दर हैं। अपना गुलामी का कलंक लगाये हुए यदि हम कहीं बाहर जाते हैं तो सिवाय अपमान पर अपमान के हमें और कुछ नहीं प्राप्त होता। यह हमारी इहलोक की अवस्था हुई। अब यदि किसी ने परलोक की आशा लगा रखी हो तो उसकी इच्छा है। परलोक यहां से तो प्रत्यक्ष दिखाई देता नहीं।

भारतवासी परलोक की बातें बेशक किया करते हैं परन्तु यदि कृष्ण भगवान् से पूछा जाय तो वे तो यही कहेंगे कि 'अयज्ञ को यह लोक ही नहीं मिलता, परलोक कहाँ से मिलना है?' यदि उनकी इहलोक की बात सच निकली है और हमारी यज्ञहीनता के कारण इहलोक में ऐसी दुर्गति है तो परलोक में पर-दुर्गति होती है, इसका अनुमान हमें अवश्य लगा लेना चाहिये।

हे यज्ञस्वरूप परमात्मा! तुम्हीं हम पर कृपा करो। हमारी यज्ञ करने में प्रीति कराओ।

वेद में बहुत जगह 'यज्ञं विततं', 'यज्ञं वर्धयामः', 'यज्ञवर्धन' इस प्रकार के वाक्य या शब्द आते हैं जिनमें कि यज्ञ के विस्तार करने, यज्ञ के बढ़ाने का वर्णन होता है। यह यज्ञ का बढ़ाना या विस्तार क्या है?

यह पहिले बतलाया जा चुका है कि यज्ञ का बीज 'मिलने के स्वभाव' के रूप में प्रत्येक मनुष्य के हृदय में रखा हुआ है। यह बीज ही बढ़ता हुआ जब इतना विस्तृत हो जाता है कि सब विश्व में फैल जाता है तो मनुष्य को सर्व व्यापक यज्ञरूप परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है। यही हमारा यज्ञ-विस्तार से तात्पर्य है। मनुष्य पहिले पहिले अपनी अयज्ञता को छोड कुटुंबयज्ञ (गार्हपत्य) में संगठित होता है। (देखो अथ० 8-10) कुटुम्ब के आगे वह ग्राम पंचायत (आहवनीय) बनाता है, ग्राम पंचायत के बाद बहुत से ग्रामों (देश) पर एक राजा की संस्था (दक्षिणाग्नि) बनती है। इसके बाद लोक सभा (सभा) का विकास होता है, फिर अन्तरंग, मन्त्री मण्डल आदि किसी रूप से एक विशेषज्ञों की सभा (समिति) का विकास होता है और अन्त में सब देशों की अन्तर्राष्ट्रीय सार्वभौम सभा (आमन्त्रण) में मनुष्य संगठन यज्ञ परिपूर्ण होता है। परन्तु मनुष्य हृदयस्थ यज्ञ तब परिपूर्ण होता है जब सब मनुष्य ही नहीं किन्तु संसार की एक-एक वस्तु सूक्ष्म या स्थूल, सब लोक लोकान्तर इस सम्पूर्ण ईश्वरीय महासगठन में अपने को संगठित अनुभव करता है। तब वह सर्वमेध यज्ञ को पूरा करता है। यह यज्ञ-विस्तार की अवधि है। यही परम सीमा है। इस यज्ञ-विस्तार को यज्ञ की सब दृष्टियों से देखा जा सकता है। यज्ञ का उद्देश्य 'परोपकार' बतलाया जा चुका है। इसे परोपकार दृष्टि से देखें तो कहेंगे कि मनुष्य परोपकार को बढ़ाता हुआ 'परोपकार शब्दस्थ 'पर' की अवधि को बढ़ाता हुआ उन्नति करता है। पहिले वह कुटम्ब का 'पर— उपकार' करना सीखता है। तब तक उसकी 'पर' की सीमा कुटम्ब तक होती है, फिर वह इसे देश तक फैला देता है और देश का

परोपकार करता है। फिर सब संसार का परोपकार करता है। स्वामी रामतीर्थ जी ने इसे आत्मविस्तार (Expansion of Self) के रूप में देखा है। यह यज्ञ को स्वार्थ के सच्चे साधक की दृष्टि से देखना है। मनुष्य पहले अपने आपको, अपने शरीरादि को ही अपना (आत्मा) समझता है और इसी का स्वार्थ साधन करता है। फिर वह कुटुम्ब को अपना समझता है, इसके स्वार्थ को अपना स्वार्थ समझता है। वह जाति, देश और फिर सब संसार को अपना समझता है और इसके स्वार्थ के अतिरिक्त उसका कुछ और स्वार्थ नहीं होता है, इस प्रकार वह अपने आप (आत्मा) को बढ़ाता हुआ परमात्मा को प्राप्त करता है।

प्रेम और बलिदान की दृष्टि से यज्ञ-विस्तार को देखें तो प्रारम्भ में मनुष्य अपने आप से ही प्यार करता होता है। वह पहिले कुटुम्ब के लिए स्वार्थत्याग करता हुआ कुटुम्ब से प्रेम करना सीखता है और इस प्रथम यज्ञ से उसे कुटुम्ब के सब सुख प्राप्त होते हैं। फिर जब वह इस यज्ञ से उन्नत और बली होकर देश के लिए सब कुछ त्यागने को उद्यत होता है तब उसे राष्ट्र यज्ञ द्वारा राष्ट्र के सब सुख मिलते हैं। इसके बाद जब वह प्रेम विस्तार में और बलिदान शक्ति में वृद्धि करके संसार भर के लिए वैसे ही प्रेमवश स्वार्थ त्याग कर सकता है तो उसे संसार भर का सुख मिलता है। पाठक देखेंगे कि ज्यों ज्यों यज्ञ का विस्तार होता है त्यों त्यों यज्ञार्पण भाग बढ़ता जाता है और यज्ञ शेष घटता जाता है और इसलिए उसकी यज्ञ करने की शक्ति भी उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है और मनुष्य उससे भी बड़ा यज्ञ करता है। अन्त में यदि वह इस सब संसार सुख को संसार के मूल परमात्मा के प्रेम में अर्पित कर सकता है तो उसे परमानन्द मिल जाता है। इस प्रकार मनुष्य अपने हृदयस्थ यज्ञ को ही हृदय द्वारा बढ़ाता हुआ अपने परम पुरुषार्थ को सिद्ध कर लेता है।

इस प्रसंग में जो हमने यज्ञ के बढ़ने के पर्व बतलाये हैं यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक मनुष्य इन पर्वों पर अटकता हुआ ही आगे बढ़े, कोई इनमें से किसी या कई पर्वों को एकदम लांघ जाता है, कोई किसी में अधिक देर तक अटकता है। किन्तु उन्नति का, यज्ञ विस्तार का मार्ग यही है, प्रकार यही है।

हम भारतवासियों की दशा इस यज्ञ विस्तार के सम्बन्ध में भी कैसी है? हम लोग तो अभी राष्ट्र यज्ञ तक भी नहीं पहुंचे हैं। बहुत कुछ कुटुम्ब यज्ञों में ही ग्रस्त हैं। इससे ऊपर उठे हैं तो नाना जाति पाँति के बन्धनों में, ऐसे झूठे यज्ञों में उलझे पड़े हैं जो कि हमें राष्ट्र यज्ञ तक भी नहीं पहुंचा सकते। इस समय में जब कि संसार के सब सभ्य देश अपने अपने राष्ट्र पुरुषों के रूप में अपनी अपनी उन्नति कर रहे हैं, वहां हमारा अभी तक राष्ट्र भी न बन सकना कितना दुःखप्रद है।

अब तक यह तो स्पष्ट हो गया होगा कि क्योंकि सब यज्ञ परोपकार के लिये होते हैं और क्योंकि निचला यज्ञ अगले यज्ञ को प्राप्त करने वाला होता है, इसलिये मनुष्य के यज्ञों में कहीं टकराव नहीं हो सकता। परपीड़न के लिये, स्वार्थ के लिये रचे गये संगठनों का तो ऐसे ही किन्हीं आसुरी यज्ञों से या सच्चे यज्ञों से टकराव होता है, पर

यज्ञ का यज्ञ से कभी नहीं हो सकता । यह तो परस्पर सहायक होते हैं । इसलिये एक मनुष्य जो संसार यज्ञ तक पहुंचा होता है राष्ट्र यज्ञ, तथा कुटुंब यज्ञ तथा वैयक्तिक यज्ञों को भी करता है, क्योंकि राष्ट्र यज्ञ संसार यज्ञ का विरोधी नहीं है और उसका कुटुम्ब यज्ञ राष्ट्र यज्ञ का विरोधी नहीं है । बल्कि यह एक दूसरे के सहायक होते हैं । इसलिए जैसे कि एक संसार यज्ञ तक पहुंचा पुरुष आवश्यकता पड़ने पर अपना बलिदान संसार, राष्ट्र या कुटुम्ब यज्ञ के लिये कर देता है, वैसे ही वह अपने कुटुम्ब यज्ञ का भी बलिदान आवश्यकता पड़ने पर संसार या राष्ट्र यज्ञ के लिये कर देता है और अपने राष्ट्र यज्ञ का संसार के लिये कर देता है । इस प्रकार छोटे यज्ञ का बड़े यज्ञ के लिए बलिदान करना ही 'यज्ञ से यज्ञ का यजन' कहलाता है—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः

अर्थात् देवों ने यज्ञ से यज्ञ का यजन किया । उदाहरणार्थ, मनुष्य जीवन स्वयं एक यज्ञ है । इसे सौ वर्ष तक या 116 वर्ष तक चला कर पूरा करना प्रत्येक का धर्म है (इस यज्ञ का वर्णन अन्त में होगा) परन्तु उच्च यज्ञ में आवश्यकता पड़ने पर इसे बलिदान कर देना होता है । एवं राष्ट्र यज्ञ में जब मनुष्य नौ जवानी में ही अपने प्राण दे देते हैं तो उन्हें मध्य आयु में मरने का पाप होने की जगह बड़ा भारी पुण्य होता है । यह हुआ यज्ञ से यज्ञ का यजन-मनुष्य यज्ञ से राष्ट्र यज्ञ का पूजन । इसी तरह कुटुम्ब यज्ञ द्वारा भी राष्ट्र का यजन तथा संसार यज्ञ का राष्ट्र यज्ञ द्वारा यजन हो सकता है और अन्त में आत्म यज्ञ (ब्रह्मप्राप्ति यज्ञ) के लिए अपने सब राष्ट्र को तथा अपने सब संसार के ऐश्वर्य को भी त्यागा जा सकता है । इस ज्ञान को 'पंचतंत्र' के एक श्लोक में निम्न प्रकार से भर दिया है—

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे । ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ।
कुलं जनपदस्यार्थे । आत्मार्थे पृथ्वीं त्यजेत् ।

अर्थात् कुल के लिए एक आदमी को त्याग दें, ग्राम के लिए कुल को त्याग दें । देश के लिए कुल को और आत्मा के लिए पृथिवी को (संसार को भी) छोड़ दें ।

परन्तु हम भारतवासी यज्ञ से यज्ञ का यजन कहाँ तक करते हैं ? पहिले तो हमारे यहां यज्ञ ही बहुत कम हैं और बुरी दशा में हैं । जो कुछ यज्ञ हैं उनमें भी बड़े यज्ञ के लिए छोटों को अर्पण करके अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए तैय्यार नहीं होते । छोटे-छोटे टूटे-फूटे यज्ञ बनाये रखते हैं । इसका कारण है अहंकार, हमारे यज्ञों का वास्तव में परार्थ न होना । यदि हमारे संगठन वस्तुत: परोपकारार्थ ही हों तो उनका परस्पर मिल जाना कुछ भी कठिन न हो । असल में यज्ञ संगठनों में हमारा वैयक्तिक स्वार्थ भी रहता है जो कि हमें मिलने नहीं देता । दूर जाने की जरूरत नहीं, आर्य समाज की ही कई ऐसी संस्थाएँ हैं जो कि परस्पर मिल सकती हैं । यदि वे मिल जायें तो आर्य समाज की शक्ति बढ़े और जनता का धन भी दो जगह व्यर्थ व्यय होने से बच जाये । हमारी राष्ट्र सभा के दल भी कई समय एक दूसरे में अर्पित हो सकते

हैं, परन्तु केवल अपनी पृथक् सत्ता (जिसकी कि देश को जरूरत नहीं होती) रखने के लिए जुदा ही रहते हैं। इसके विपरीत इंग्लैंड में परस्पर विरोधी दल भी काम आने पर मिल जाते हैं और मिल कर राष्ट्र कार्य चलाते हैं। इस विषय में भी हमें अपनी दशा विचारनी और सुधारनी चाहिए।

पाश्चात्य लोग हम भारतवासियों की अपेक्षा यज्ञ को अधिक समझते हैं यह मैं कहता आया हूं और आगे भी कुछ कहूंगा। परन्तु यह कथन कहीं भ्रम जनक न हो। उनके यज्ञ का दोष भी तो मैं बतलाता रहा हूं तथापि यह स्पष्टतया समझ लेना अच्छा है कि पाश्चात्य लोग यज्ञ विषय में कहां तक अनुकरणीय हैं और कहां नहीं। एक शब्द में कहा जाय तो संगठन बनाने में (अपने संगठन के लिए स्वार्थ त्याग करने, कर्म करने में) वे हमारे अनुकरणीय हैं, किन्तु संगठनों को परपीड़नार्थ बनाने में वे कभी भी अनुकरणीय नहीं हैं।

पाश्चात्य लोग परीक्षण-स्वभाव होते हैं। वे प्रकृति में एक-एक वस्तु का परीक्षण करते हैं। उनके परीक्षणों से हमें लाभ उठाना चाहिए। उन्होंने दुनियां में बड़े से बड़े संगठन बनाकर संगठन शक्ति का बल सब संसार को दिखला दिया है। पहिले हमें इससे लाभ उठाना चाहिए। किन्तु उनके बनाये संसार यज्ञ के विरोधी संगठन अब नाश हो रहे हैं, महायुद्ध से अब तक सभी पाश्चात्य देश गिरे पड़े हैं। उनकी बहुत बुरी हालत है। उनके इस परीक्षण से भी हमें लाभ उठाते हुए यह सीख लेना चाहिए कि हम उच्च यज्ञ विरोधी संगठन न बनावें किन्तु यज्ञ ही खड़े करें, परोपकारार्थ ही संगठन बनावें। उनके संगठन की जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है, उनकी स्वार्थपरता, उनका संसार में परोपकारमय परमात्मा को न देखना निन्दनीय है। अपने राष्ट्र के लिए तो वे बड़े-बड़े स्वार्थत्याग करते हैं परन्तु दूसरे देशों का नाश करके, लूटकर भी वे अपने स्वार्थ पूरा करते हैं। इस बुराई का प्रभाव उनके देश पर कैसे न होगा। महायंत्रप्रवृति (Industrialism) के वे ही बड़े-बड़े व्यापार संगठन जिनसे कि वे दूसरों को लूटते हैं, उनके देश में बेकारी बढ़ाने के साधन होते हैं और फलतः वहां सदा अमीरों और पूंजीपतियों के झगड़े चलते रहते हैं। वे हवि द्वारा देवों की पूजा करना नहीं चाहते किन्तु देवों से जबरदस्ती फल छीनना चाहते हैं। उनके राष्ट्र संगठन में हवन प्रक्रिया बिगड़ी होती है फलतः ऐसे उपद्रव होते रहते हैं। वहां के ब्राह्मण (ज्ञानी) लोग भी अपने पास प्राकृतिक भोग इकट्ठा करना चाहते हैं और उच्छेष नहीं छोड़ते हैं। ये सब अयज्ञीय बात उनके यहां स्वार्थपरता के कारण ही है। फिर वे स्वार्थपरता के कारण एक दूसरे के विरुद्ध संगठन खड़े करके लड़ते रहते हैं। इस लड़ाई अशान्ति के कारण आज पश्चिम के देशों का क्या हाल है, यह वहां की आन्तर अवस्था देखने वाले ही जानते हैं। अतः हमें उनके इस परीक्षित अनुभव से लाभ उठाकर परपीड़नकारक संगठन बनाने से दूर रहना चाहिए।

बात यह है कि पश्चिम वाले हर एक बात नीचे से (जड़ प्रकृति) से शुरू

करते हैं, उन्हें ऊपर का प्रकाश कम मिलता है। अतः वे व्यर्थ में ही अति परीक्षण करते हैं। दूसरी तरफ हम अनुभव करते हैं कि भारतवर्ष में प्रकाश है किन्तु भारतवासियों में बल नहीं है जिससे कि वे प्रकाश को देख भी सकें और तदानुसार कार्य कर सकें। यदि पश्चिम को आत्म ज्ञान का प्रकाश मिल जाए तो उस परोपकारमय यज्ञ प्रजापति से आने वाले प्रकाश में (अपने केवल मन के प्रकाश को छोड़कर) वहाँ का प्रत्येक व्यक्ति वह जिस-जिस परोपकारार्थ यज्ञ के योग्य है उस उसमें जुड़ता हुआ अपना और संसार का भला कर सकता है। भारत में धर्म पुस्तकों तथा गुप्त विद्याओं में प्रकाश विद्यमान है यदि उनकी निर्बलता दूर हो जाये और भारतीयों की आँखें उसे देखने लगें तथा हाथ पैर काम करने लगें तो वे भी अपना और संसार का भला कर सकते हैं। अस्तु। यह तो हुई कुछ ऊपर की बातें, हम फिर प्रकृत विषय पर आते हैं।

अब तक हमने बतलाया है कि यज्ञ का शास्त्रोक्त स्वरूप 'मिलना' है और इसका मुख्यार्थ संगठित होकर परोपकार कार्य करना है इसलिए शास्त्रों में जो होता, उद्गाता आदि चार प्रसिद्ध ऋत्विजों का वर्णन आता है, ये चारों ऋत्विक संगठन यज्ञ में होते हैं, यह भी हमें जान लेना चाहिए। वेद में इन चार ऋत्विजों का वर्णन निम्न मंत्र में है—

ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् । गायत्रं त्वो
गायति शक्वरासु ।। ब्रह्मात्वो वदति जातविद्याम् ।
यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उत्वः ।। ऋ० 10

इस मन्त्र के चारों पादों में क्रमशः होता, उद्गाता, ब्रह्मा और अध्वर्यु इन चारों का वर्णन हुआ है। इनमें में मंत्र में नाम केवल ब्रह्मा का आया है। औरों का कर्म ही बतलाया है। इनमें से एक एक को समझते हुए पाठक जान जायेंगे कि ये चारों प्रत्येक संगठन में रहने वाले कार्यकर्ता हैं।

पहले अध्वर्यु को लीजिये। यह यज्ञ का प्रबन्धकर्त्ता होता है। यह यज्ञ की सब तैयारी करता है और फिर यज्ञ के बीच-बीच में जिस कार्य की आवश्यकता होती है, उसे करता है। यह यजुर्वेद अर्थात् कर्म का प्रतिनिधि होता है इसलिए यजुर्वेद यज्ञों का विधायक वेद समझा जाता है। यह आवश्यक है कि अध्वर्यु सब प्रकार के यज्ञों को जानता हो और उनका प्रबन्ध कर सकता हो। अध्वरं युनक्ति, अध्वरस्य नेता, अध्वरं कामयते अर्थात् यज्ञ को जोड़ने वाला, ले जाने वाला, इच्छा करने वाला यह अर्थ यास्काचार्य जी ने इस मंत्र में 'अध्वर्यु' शब्द का लिया है। यही बात इस मंत्र के अन्तिम पाद में कही गई है—'यज्ञस्य मात्रां विमिमीते।' अर्थात् अध्वर्यु यज्ञ की इतिकर्त्तव्यता को बनाता है।

फिर यज्ञ में 'होता' और 'उद्गाता' होते हैं। इनका वर्णन इस मंत्र के पहले और दूसरे पाद में है। ये क्रमश: प्रस्तावक और अनुमोदक कहे जा सकते हैं। ये ऋक् और साम (ज्ञानस्तुति और उपासना) के प्रतिनिधि होते हैं। होता पहले (ऋचां) स्तोतव्य विषयों को (पोषं पुपुष्वानास्ते) अच्छी तरह समझाकर पुष्टि करता है कि यह बात ऐसी है।

इसपर उद्गाता बोलता है और सभा में (शक्वरीषु) इस प्रकार सुप्रविष्ट हुए हुए विषयों की (गायत्रं गायति) बारीकियों का वर्णन करता है। 'होता' का शब्दार्थ है सभा को बुलाने वाला या निर्णय पाने के लिए विषय को सभा में देने वाला। 'उद्गाता' का अर्थ है गुणगान करने वाला। होता और उद्गाता के उपर्युक्त अर्थ केवल सभा यज्ञ में संगत होते हैं। प्रत्येक संगठन में इनका क्या कार्य है, यह जरा अधिक अध्ययन और विचार के बाद बताया जा सकता है।

इसके बाद प्रत्येक संगठन के प्रधान या सभापति का नाम 'ब्रह्मा' होता है। यह चौथा यज्ञ का मुख्यऋत्विक् होता है। यह अथर्ववेद (विज्ञान) का प्रतिनिधि है। अत: यह सब कुछ जानने वाला 'जातंजातं वेदिता' होता है। इसका ज्ञान चतुर्मुख होना चाहिए, तभी यह प्रधानत्व कर सकता है। 'ब्रह्मा' का शब्दार्थ यही है—ज्ञान में बढ़ा हुआ—श्रुतित: परिवृढ:। इसका वर्णन इस मंत्र के तीसरे पाद में हुआ है। इस प्रकार यज्ञ के यह चार कार्यकर्त्ता प्रत्येक संगठन में होते हैं। वैसे तो संगठन यज्ञों के ऋत्विक् (अधिकारी) बहुत से होते हैं। कहीं अठारह कहे हैं, कहीं इससे भी अधिक। होता और उद्गाता के ही बहुत प्रकार बतलाये गये हैं। यहाँ तो इन चार ऋत्विजों का दिग्दर्शन करा देना पर्याप्त है।

इन चार यज्ञों के प्रमुखों के कर्त्तव्यों या व्रतों (कर्म नियमों) का वर्णन जगह-जगह पुस्तकों में पाया जाता है। उदाहरणार्थ छान्दोग्य चौथे अध्याय के 15, 16, 17 खण्ड में 'ब्रह्मा' का वर्णन है। वहाँ कहा है कि ब्रह्मा का काम यज्ञ को 'मनन' द्वारा पवित्र करना है, जबकि शेष तीनों 'वाणी' द्वारा यज्ञ को पवित्र करते है। अत: ब्रह्मा को अपने समय से पूर्व बोलना—अपनी सम्मति आदि प्रकट नहीं करना चाहिए। ऐसा करने से यज्ञ-रथ का मनन-चक्र टूट जाता है। हमारे संगठनों के प्रधानों को भी यह नियम सीखना चाहिए। आगे लिखा है कि ब्रह्मा ऐसे को बनाना चाहिए जोकि तीनों विद्याओं के निचोड़ को जानने वाला हो (जो कि निचोड़ वहाँ भू, भुव:, स्व: बतलाये हैं) जिससे कि यज्ञ यदि कहीं से टूटने लगे तो वह उसका इलाज कर उसे जोड़े रख सके और यज्ञ की रक्षा कर सके।

इसी प्रकार उद्गाता के कर्म 'उद्गीथ' का वर्णन छांदोग्य के प्रारम्भ में बहुत कुछ आता है। वहाँ से जाना जा सकता है कि उद्गाता कैसा होना चाहिए। बृहदारण्यक के तृतीय ब्राह्मण में वर्णन है कि देवों और असुरों के युद्ध में देवों ने अपना उद्गाता वाणी, नासिका, चक्षु, श्रोत आदि सबको क्रमश: बनाया किन्तु असुरों ने इन सबको पाप से युक्त कर दिया। अन्त में उन्होंने प्राण को उद्गाता बनाया तो यह नि:स्वार्थ होने के कारण (यह अपने लिये कुछ नहीं रखता था) ऐसा उद्गाता बना कि उस पर प्रहार करने पर सब असुर इस तरह नष्ट हो गये जैसे कि एक शिला पर फेंका गया मिट्टी का ढेला चकनाचूर हो जाता है। इससे यह नियम पता लगा कि उद्गाता प्राण की तरह सर्वथा नि:स्वार्थ, निस्पृह होना चाहिए।

इसी प्रकार होता वाक् की तरह, अध्वर्यु चक्षु की तरह तथा ब्रह्मा मन की तरह संगठन यज्ञ में होना चाहिये।

अब प्रश्न है कि पुरानी कर्म-काण्ड की पुस्तकों में वर्णित जो नाना प्रकार के यज्ञ, याग, इष्टियां, मेध, क्रतु, सत्र हैं, क्या वे भी मनुष्य संगठन रूप यज्ञ हैं ? हां, उनमें से बहुत से तो अवश्य ही मनुष्य संगठन रूप यज्ञ हैं। उनका दिग्दर्शन हम नीचे कराते हैं। शेष जो कोई प्राचीन यज्ञ हैं, वे वैयक्तिक यज्ञ हैं और उनका वर्णन आगे 'देव यज्ञ' में पाठक देखेंगे। परन्तु इन सब प्राचीन यज्ञों का आज ठीक-ठीक रूप समझना कठिन है। उनकी सब क्रियायें कर्मकाण्ड लुप्त प्राय हैं। इनके लोप होने का मुख्य कारण यही है ('याज्ञिक' लोग हमें क्षमा करेंगे) कि हम यज्ञ तत्व को भूल गये और उनके बाह्य कर्मों को ही लिये बैठे रह गये। इसलिए जैसे आत्मा के निकल जाने से शरीर नष्ट ही हो जाता है, वैसे ही यज्ञ सब कर्मकाण्ड स्वाभाविक मृत्यु से नष्ट हुआ है और होता जा रहा है। हमें यत्न करके अब भी इसे बचाना चाहिए परन्तु इसके बचाने का उपाय यही है कि हम पहले यज्ञ वस्तु के तत्व को समझें, प्रत्येक यज्ञ के अपने-अपने तत्व को भी समझें। इस तत्व के जान लेने पर इन यज्ञों के बाह्य रूपों में वर्तमान भिन्न अवस्थाओं के अनुसार यदि किन्हीं परिवर्तनों की आवश्यकता हो तो उन परिवर्तनों को करके भी यज्ञ प्रथा को जीवित करना चाहिए। यद्यपि कर्मकाण्ड को बिगड़े बहुत समय हो गया, तथा भगवान बुद्ध के समय से यज्ञ के बाह्य रूपों पर ही अधिक जोर हो गया था अतएव इस समय इनके तत्वों को समझना बड़ा कठिन हो गया है तथापि एक बात तो स्पष्ट है और यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि यज्ञों में जो नाना प्रकार की विधियां हैं, वे किन्हीं बातों के चिह्न हैं, किन्हीं सिद्धान्तों को स्मरण कराने वाले हैं। बहुधा वे प्रकृति में होने वाले बड़े-बड़े कार्यों को समझाने के लिए छोटे-छोटे क्रियाचित्र हैं। अतः हमें यज्ञों में उन उन बातों, सिद्धान्तों, उन बड़े बड़े प्राकृतिक कार्यों के भावों को समझना चाहिए। इनके समझने से यज्ञतत्व सुगमता से समझ में आ जायेगा। ब्राह्मणों में इन्हीं का वर्णन है किन्तु इन सिद्धान्तों, इन भावों को बिना समझे बूझे केवल कर्मकाण्ड करते जाना व्यर्थ है, राख में आहुति डालना है—'भस्मानि जुहुयात्तादृक् तत्स्यात्।' छा० 5-24-1। मनुष्य का स्वभाव है कि वह सूक्ष्म या दूर-दूर फैली वस्तुओं को आसानी से ग्रहण नहीं कर सकता है जब तक कि उसे दृश्य और सन्मुख स्थिति चित्र द्वारा वह बात हृदयंगत न कराई जाये। इसलिये भूगोल आदि विद्यायें भी चित्रों से पढ़ाई जाती हैं। परन्तु यदि कोई असली गंगा नदी को न जाने और चित्र की नीली रेखारूप गंगा पर ही अंगुली फेरता रहे तो उसे भूगोल ज्ञान का फल कैसे मिल सकता है ? इसलिए प्राचीन यज्ञों का तत्व भी, उनके चिह्नों के असली अर्थ को समझने से ही जाना जा सकता है। इसके लिये परीक्षण करने होंगे और नाना प्रकार के यत्न करने होंगे। तात्पर्य यह है कि इतनी देर से छूटे हुये इन प्राचीन यज्ञों के स्वरूपों को अभी ठीक-ठीक बतला सकना अशक्य है अतः हम इनका केवल दिग्दर्शन कर सकते हैं। तदनुसार इन प्राचीन यज्ञों में से जो जो यज्ञ मनुष्य संगठन रूप हैं, उनका

प्रदर्शन इस प्रकार किया जा सकता है। (शेष वैयाक्तिक प्राचीन यज्ञों का वर्णन आगे आएगा)।

1. राजसूय यज्ञ—इसमें राजा का प्रसव किया जाता है। राजा का चुनाव और राजतिलक जिस सम्मेलन में मिलकर किया जाता है, उसका नाम राजसूय यज्ञ है। इसका वर्णन अथर्ववेद के 4-8 सूक्त देखा जा सकता है।

2. विश्वजित यज्ञ— इस यज्ञ द्वारा एक राष्ट्र या एक मनुष्य समुदाय सब संसार को जीत सकता है।

3. अश्वमेध यज्ञ—शतपथ के 'राष्ट्र वा अश्वमेधः' 'वीर्यं वा अश्वः' आदि वचनों से स्पष्ट है कि अश्वमेध भी कोई राष्ट्र संगठन ही है। बौद्ध ग्रंथों के अनुसार का अश्वमेध राष्ट्र में धान्य की वृद्धि के लिए होता था। अश्व का अर्थ है वहाँ सस्य (धान्य) लिखा है। कृषकों से सस्य का केवल एक दशांश भाग लेकर शेष भाग उन्हें ही छोड़कर उनको सस्य वृद्धि में उत्साहित किया जाता था। पाठकों को मेध शब्द का अर्थ स्मरण ही होगा। नौ दशांश भाग धान्य त्याग कर धान्य का संगम करना मेध है।

प्रकृति में जो अश्वमेध यज्ञ स्वयं हो रहा है तथा अर्क और अश्वमेध का तत्व क्या है, इसका वर्णन बृहदारण्यक उपनिषाद के प्रारम्भ में हुआ है।

4 पुरुष मेध—उपर्युक्त बौद्ध ग्रंथानुसार राजपुरुषों को पूरा-पूरा और नियम से वतन देकर उनको राज्य से मिलाये रखना (संगम) राजप्रिय रखना राष्ट्र में पुरुष मेध है। इसी प्रकार मनुष्य समाज में भी यह यज्ञ देखा जा सकता है जिससे कि प्रत्येक मनुष्य अपना-अपना त्याग करता हुआ उच्च, उन्नत होता जाये। तथा संग्राम में कुछ मनुष्यों का आत्मसमर्पण करने द्वारा अन्य सब राष्ट्र की रक्षा भी पुरुषमेध है।

5. गो मेध—कृषक समुदाय द्वारा भूमि को तोड़ा फोड़ा जाकर भूमि की उपजाऊ शक्ति का बढ़ाना गो मेध है।

6. सर्वमेध—किसी उच्च यज्ञ के लिए किसी मनुष्य समुदाय का अपना सर्वस्व त्याग देना सर्वमेध है।

7. वाजपेय—प्रिय वाणी या अन्न से जनता को तृप्त करने वाले संगठन का नाम वाजपेय है।

वास्तव में तो जितने भी प्राकृतिक यज्ञ आधिदैविक जगत में हो रहे हैं उन सबके अनुसार एक-एक यज्ञ आधिभौतिक जगत् में—मनुष्य संगठनों में ढूंढा जा सकता है। अभी तक जिनकी तरफ ध्यान गया है, वे थोड़े से ऊपर लिख दिये हैं। सभी मिलकर किये जाने वाले प्राचीन यज्ञ इसमें गिनाये जा सकते हैं या यों करना चाहिए कि सभी सैंकड़ों प्रकार के संगठन यज्ञों के प्राचीन नाम पता लगाकर लिखे जा सकते हैं। सोलहों संस्कार यज्ञ इसी सूची में आ जायेंगे। इन सब यज्ञों में इकट्ठे मंत्र बोलते ही संगठित मन शक्ति द्वारा अभीष्ट फल प्राप्त किये जाते थे।

इस प्रकरण को समाप्त करते हुए पशु बलि विषय पर भी कुछ लिखना आवश्यक है। शब्दार्थों को अशुद्ध समझकर गौ, अश्व, अज, नर की बलि का विधान लोग समझ लेते हैं। उनका स्पष्टीकरण बहुत बार हो चुका है और होता रहता है। अतः उस पर कुछ नहीं लिखना है। मैं तो कहता हूँ कि बलिदान तो यज्ञ का प्राण है और यह बलिदान सदा पशु का ही होता है। पशु (मारने योग्य) का यदि हम बलिदान न करें तो आत्मा (न मारने योग्य) का बलिदान कर दें।' यह तो आत्महत्या हो जाएगी। परन्तु बलिदान और हिंसा में भी आकाश-पाताल का भेद है। बलिदान अपनी वस्तु का (अपना) होता है और स्वेच्छा से होता है, हिंसा दूसरे की की जाती है और उसकी इच्छा के विरुद्ध की जाती है। यज्ञ में न तो अपने आत्मा का (अपने सच्चे स्वरूप का) बलिदान कर आत्मघात किया जाता है और न किसी दूसरे का नाश कर हिंसा की जाती है, किन्तु अपने पशु का (नाशनीय बुरे रूप का) आत्म बलिदान किया जाता है। अपने पशु का आत्म-बलिदान यज्ञ में इस लिये किया जाता है कि इससे पशु-मनुष्य मनुष्य बन जाता है। फिर मनुष्य-मनुष्य अपने मनुष्यत्व का (मनुष्य भी एक उच्च प्रकार का पशु है) बलिदान करके देव-मनुष्य बन जाता है। इस प्रकार यज्ञ पशु को मनुष्य बनाता है और मनुष्य को देव बनाता है। 'कामः पशुः' कह कर यह पहिले बतलाया ही जा चुका है कि मनुष्य का पशु स्वार्थ है। काम, क्रोध, लोभ आदि इसी स्वार्थ के भेद हैं, यह भी बतलाया गया है। तो यह काम क्रोध आदि ही पशु हैं जिनका कि आत्म बलिदान करने पर पशु मनुष्य अपने आप को मनुष्य मनुष्य बना लेता है। काम, क्रोध आदि को पशु कहना कोई कविता की आलंकारिक बात नहीं है। यह तो वास्तविक बात है, एक वैज्ञानिक (Scientific) बात है। जैसे मनुष्य में सब देवता रहते हैं, वैसे पशु भी रहते हैं। मनुष्य तो संसार का एक अत्यन्त छोटा सा पूरा नमूना है। जैसे कि देव अन्दर भावों के रूप में रहते हैं ऐसे ही पशु भी (पशु भावों के रूप में) रहते हैं। ये निराकार पशुभाव ही जब साकार हो जाते हैं तो ये बाहर के दिखाई देने वाले पशु बन जाते हैं अर्थात् अन्दर के पशु भाव ही जीव को साकार पशु योनि में ले जाते हैं। उदाहरणार्थ श्येन (बाज) घमंड का रूप है। गिद्ध पक्षी लोभ का प्रतिनिधि है, चापलूसी से कुत्ते की योनि मिलती है तथा अज्ञान में रहने के कारण जीव को उल्लू या गदहे का चोला पहिनना पड़ता है। मेरी कही हुई ये समानतायें कुछ अशुद्ध हो सकती हैं किन्तु यह तो सर्वथा सत्य है कि ये सब दिखाई देने वाले पशु हमीं बनते हैं। हम उस प्रकार के 'स्वार्थ' में जीवन भर ऐसे ग्रस्त रहते हैं कि यज्ञ हमें पशुमनुष्य से मनुष्य-मनुष्य बनाने में असमर्थ रहता है। बाह्य पशुओं की आकृति शक्ल सूरत में भी उस बुरे भाव से समानाता होती है। अतः ये अन्दर के पशुभाव और बाहर के पशु एक ही वस्तु हैं, केवल कच्चे-पक्के होने का अवस्था भेद है। यदि हम इन अन्दर के कच्चे पशुओं का बलिदान करेंगे तो पककर ये साकार हो जायेंगे। यह है यज्ञ में पशु बलिदान का तत्त्व।

इस तत्त्व को समझ लेने के बाद आप देखते हैं कि ब्राह्मण में या किसी अन्य

श्रद्धेय ग्रन्थ में लिखा है कि इस मन्त्र से पशु के इस अंग को यज्ञ में काटे तो आप इस विधि का क्या अर्थ समझेंगे ? क्या आप किसी दूसरे बिचारे दयनीय पशु को जबरदस्ती पकड़ लाकर वहाँ काट डालेंगे या अपने अन्दर के उस पशु के नाश का दृढ़ करने के लिये पिष्ट या मिट्टी के (जैसाकि विधान भी है) तदाकार पशु को काटेंगे ? और ध्यान करो कि यह मैं अपने भावी पशु रूप का नाश कर रहा हूँ, यदि मैं 'काम' को नहीं छोड़ूंगा तो इस पशु योनि में पहुंचूँगा, मेरी ऐसी दुर्गति होगी इस भावी दुर्गति का मैं अभी से नाश कर लूँ इत्यादि। बलिदान तो अपना करना है, अपने अन्दर के पशु का या अ ने भावी पशु रूप का जिसका कि चित्र पूरा हृदय पर अंकित करने के लिए पिष्ट का पशु बना लिया है। बाहर के किसी अन्य पशु से हमारा क्या सम्बन्ध ? हमारे यज्ञ में तो हमारी ही वस्तु का बलिदान होगा। पशु अपना यज्ञ अपने आप करें और चाहें उसमें अपने शरीर की बलि दे दें। स्वामिभक्त पशु भी स्वेच्छा से अपना बलिदान कर सकते हैं, तो उस बलिदान का फल उस पशु को मिलेगा। पर अपने अन्दर के पशु की जगह किसी दूसरे पशु को मार डालना यह तो बिल्कुल उल्टा हो गया। यजन की जगह हिंसा। आत्म बलिदान की जगह दूसरे का घात। पशु के साथ जो मनुष्य ने यज्ञ करना है वह तो पंच महायज्ञों के भूत यज्ञ द्वारा किया जाता है। उस द्वारा अपने से छोटे, दुर्बल, मूक पशु पक्षी और कृमि आदि की रक्षा का व्रत लिया जाता है और चिह्न रूप से काकादि को बलि खाने का दी जाती है। इस बिचारे हमारे आश्रित पशुओं से तो हमारा यज्ञ (सम्बन्ध स्थापन) इसी प्रकार हो सकता है। इन की तो रक्षा सहायता के लिए हम जो कुछ कर सकें करना चाहिये। उल्टा इन्हें मारना और यज्ञ के नाम से। इनके तो रक्षित रखने की प्रार्थना करनी चाहिये—यजमानस्य पशून पाहि। सब भूल इसमें है कि अपनी जगह पराया और नकल की जगह असल समझ लेना। यह तो ऐसा हुआ कि गणिताध्यापक प्रश्न लिखने को कहे कि 'उसमें से एक सौ मोहन को दे दो।' तो कोई लड़का इसे स्लेट पर लिखने की जगह उठकर मोहन को एक सौ रुपये देने ही चल देवे। अस्तु। यह तो हुआ अध्यात्म यज्ञ में अपने पशु का बलिदान।

इसी प्रकार संगठन यज्ञ में भी अपने पशु का बलिदान किया जाता है। राष्ट्र पुरुष अपने अन्दर के वीरों का युद्ध में बलिदान करता है। राष्ट्र के वे वीर उसके अंग होते हैं, अपने होते हैं। मनुष्य संठगन यज्ञ के पशु कोई मनुष्य ही होंगे। सैनिकों या अनुयायियों पशु को इसीलिये कहा जा सकता है क्योंकि वे 'अभिनिवेश' पशु को निकालने के लिये ही मरने को उद्यत होते हैं। वे मनुष्य अपनी इच्छा से राष्ट्र के लिए मरते है अतः यूँ कहा जा सकता है कि राष्ट्र स्वेच्छा से उनका बलिदान करता है। बारदौली के प्रस्ताव पर जब लोगों ने गांधी जी से कहा कि आप को सत्याग्रह स्थगित कर देने के कारण जो लोग जेल में सड़ रहे हैं उनका क्या होगा, तो गांधी ने कहा कि 'यदि वे स्वेच्छा से जेल नहीं गये हैं और अतएव लगातार देरतक जेल के कष्ट नहीं सह सकते तो उन्हें माफी मांग कर आजाना चाहिये, परन्तु यदि वे स्वेच्छा से

देश के लिए कष्ट सहने जेल गये हैं तो मैं उन्हें बलिदान करता हूँ । चौरीचौरा के पाप के प्रतिकार के लिए यह मेरा पहला बलिदान है ।' तात्पर्य यह हुआ कि गांधी के अनुयायियों का देर तक जेल में कष्ट पाना गांधी का अपना बलिदान है । स्वेच्छा से मरने वाले अनुयायी नेता के अंग होते हैं । अब राष्ट्र के पशु का और अधिक स्पष्ट उदाहरण ले लीजिये । राष्ट्र में जो मनुष्य घातक मनुष्य (पशु) होता है, उसे फांसी चढ़ाकर राष्ट्र आत्म बलिदान करता है । वह मनुष्य भी राष्ट्र का अवयव है, परन्तु क्यों कि ऐसे आदमी के जीवित रहने से राष्ट्र बिगड़ता है अतः उस पशु का बलिदान कर दिया जाता है । इसी प्रकार यदि कोई मनुष्य पशु धर्म के नाम से, यज्ञ के नाम से अपने नर मेध में किसी निरपराध मनुष्य प्राणी को काट डालता है या किसी बिचारे रक्षा पात्र दयनीय गौ आदि पशु को काट डालता है तो वह निश्चय से राष्ट्र का पशु है । आज यदि वैदिक राष्ट्र हो तो या तो उस में ऐसा कोई नर पशु ही न होगा । यदि उसमें होगा भी तो उसको प्राण दण्ड देने का वेद में विधान है—

य: पौरुषेयेण क्रविषा समेङ्क्ते यो अश्व्येन पशुना यातुधानः । यो अघ्याया भरति क्षीरमग्ने तेषां शीर्षाणि हरसापि वृश्च ॥

—अथ० 8–3–15

अर्थात् जो राक्षस मनुष्य मांस से या घोड़े के या अन्य पशु मांस से अपने को पुष्ट करता है या जो अहन्तव्य गौसे दूध छीनता है, हे अग्नि ! तू शीघ्र उनके सिर काट दे । यह राष्ट्र यज्ञ के हीन पशु हैं । पहिले कहे गये सैनिक उच्च पशु होते हैं क्यों कि वे स्वेच्छा से मरते हैं और मनुष्य से देव बनते हैं, किन्तु ये मनुष्य बनाने के लिये मारे जाते हैं ।

वे स्वेच्छा से मरते हुए स्वयं एक बड़े पुण्यप्रद यज्ञ के कर्ता होते हैं, किन्तु ये यज्ञ के लिए मारे जाने वाले पशु ही बनते हैं । असल में तो यही चाहिये कि राष्ट्र के लिए पुरुष स्वेच्छा से ही मरने को तैयार हो परन्तु जब सम्पूर्ण राष्ट्र को ऐसे पुरुषों के जीवित रहने से हानि होती है और उनके बलात्कार वध के सिवाय और कुछ उपाय राष्ट्र नहीं कर सकता तो राष्ट्र इन्हें प्राण दण्ड दे देता है । इसी सिद्धान्त को और आगे ले जाकर जब हम देखते हैं कि सिंह व्याघ्रादि हिंस्र जन्तु राष्ट्र का नाश करते हैं और इनसे बचने का और कोई उपाय नहीं है तो इन हिंस्र जन्तुओं को भी राष्ट्र के लिये बलिदान कर दिया जाता है । परन्तु विचारी दीन गौ के मार डालने का उतना ही पाप है जितना कि एक निरपराध मनुष्य को मार डालना । ऐसा काम कोई राष्ट्र हन्तव्य हीन पशु ही करता है, वह भी हिंस्र जन्तु ही है ।

इसी प्रकार ईश्वरीय महा संसार यज्ञ में जो प्राणी मरते रहते हैं, ये सब उसके पशु हैं, इन द्वारा ईश्वर आत्म बलिदान करता रहता है और संसार यज्ञ चलता रहता है । तात्पर्य यह है कि प्रत्येक यज्ञ में अपने अन्दर के पशुओं द्वारा आत्म बलिदान किया जाता है । परन्तु इतनी स्पष्ट बात अज्ञान के कारण या स्वार्थ वश

यदि किसी के समझ में न आवे, उल्टी समझ में आवे तो क्या किया जाये। जिन्हें आत्म बलिदान का अर्थ दूसरे की हिंसा समझ पड़ता है ऐसे ही अज्ञानियों से सतायी गई विद्या रोती हुई ब्राह्मण के पास आयी थी कि हे ब्राह्मण ! तू मेरी इनसे रक्षा कर। या जिनकी अकल मारी गयी है उनको बलिदान की विद्या का उपदेश कभी न करें, वे इसका उल्टा ही अर्थ समझेंगे। भारत के हिन्दू और मुसलमान इसकी जगह कि अपने राष्ट्र के लिये आत्म बलिदान करें एक दूसरे के सिर फोड़ने में लगे हुए हैं। यह मूर्खों को उच्च ज्ञान बतलाने का फल है या—

विनाशकाले विपरीतबुद्धिः

अब हम मनुष्य संगठन यज्ञों का प्रकरण समाप्त कर वैयत्तिक यज्ञों पर आते हैं। पाठकों को स्मरण होगा कि 'वैयक्तिक यज्ञ' यह नाम हमने संसार महा यज्ञ या संगठन यज्ञों के अङ्गभूत कर्मों का रखा था। संगठन यज्ञों के अंगों का वर्णन तो पहिले हो ही चुका है। किन्तु संसार महा यज्ञ के अंग कर्म बहुत हैं, सैकड़ों हैं, हजारों हैं। इस विशाल संसार की एक एक वस्तु से सम्बन्ध करना एक एक यज्ञ कर्म है। क्योंकि संसार के अंग भूत ये यज्ञ कर्म बहुत हैं और इनके अंगी विश्व का सदा स्मरण रखना बड़ा कठिन है, अतएव इन अंग कर्मों को यज्ञ ही कह दिया जाता है। परन्तु हमें अब यह बात समझ लेने पर विवाद की कुछ आवश्यकता नही कि यज्ञ इन अंगों का नाम है या अङ्गी ही यज्ञ है। यदि आप इन अंगों को ही यज्ञ कहना चाहें तो जो संगठन यज्ञ हैं। संसार यज्ञ व मनुष्य जीवन यज्ञ हैं इनको यज्ञपुरुष (यज्ञ का बना पुरुष) कहिये। मैं भी सहूलियत के लिये इन्हें यज्ञ-वैयक्तिक यज्ञ ही पुकारूंगा।

पाठकों को यह भी स्मरण होगा कि उपर्युक्त हवन प्रक्रिया यज्ञ के प्रत्येक अंग में होती है। क्योंकि यह प्रक्रिया प्रत्येक अङ्ग में पूरी हो जाती है इसलिये भी प्रत्येक अङ्ग को यज्ञ कह देना चाहिये। प्रत्येक वैयक्तिक यज्ञ में एक हवि, एक अग्नि तथा एक फल होता है। उदाहरणार्थ यज्ञ के देवपूजा अङ्ग में वहां अनुसरणार्थ जो जो बलिदान करना होता है वह हवि है, श्रद्धा अग्नि है, तथा नेतृत्त्व फल है जिसकी कि(आदान) प्राप्ति होती है। इसी तरह मध्याङ्ग और आधारांग में भी जान लेना चाहिए। इस प्रकार प्रत्येक वैयक्तिक यज्ञ में हम जब कभी संसार की किसी वस्तु (बड़ी, बरावर की या छोटी) से सम्बन्ध करते हैं तो उसमें हवन प्रक्रिया होती है। सम्बन्ध के लिए हम जो कुछ देते हैं वह हवि होती है, जिस द्वारा हवि दी जाती है या सम्बन्ध जुड़ता है वह अग्नि होती है और जो कुछ उस सम्बन्ध से हमें मिलता है वह फल होता है। इस लिए वैयक्तिक यज्ञ का लक्षण यह हुवा कि 'यज्ञ पुरुष (संसार यज्ञ, संगठन यज्ञ या मनुष्य जीवनयज्ञ) के आधीन अपना दूसरे के साथ हवन प्रक्रिया द्वारा ठीक-ठीक सम्बन्ध रखना वैयक्तिक यज्ञ है।' अब पाठक समझेंगे कि यज्ञ शब्द का इतना प्रयोग ग्रन्थों में क्यों है ? प्रत्येक कार्य को ही यज्ञ क्यों कह देते हैं ? इसलिये क्योंकि संसार

में प्रत्येक दूसरी वस्तु के साथ ठीक सम्बन्ध रखना यज्ञ है। हमारा प्रत्येक कर्म या तो यज्ञ होगा या अयज्ञ होगा, क्योंकि हम प्रत्येक कर्म द्वारा किसी दूसरे से सम्बन्ध ही करते हैं। यदि यह सम्बन्ध ठीक हुआ है तो वह कर्म यज्ञ है। यदि सम्बन्ध बिगड़ा है तो वह कर्म अयज्ञ है। इस प्रकार संसार की एक एक वस्तु के साथ अपने ठीक सम्बन्ध से जुड़े रहना एक एक वैयक्तिक यज्ञ है। इसलिये यज्ञों के इतने नाम पड़ गये हैं। ऐसे अनन्तों वैयक्तिक यज्ञ होते हैं।

वैयक्तिक यज्ञों में पंच महायज्ञ सब से मुख्य हैं। ये निम्नलिखित हैं—

(1) ब्रह्म यज्ञ
(2) देव यज्ञ
(3) पितृ यज्ञ
(4) भूत यज्ञ
(5) मनुष्य यज्ञ

इन पांच यज्ञों द्वारा मनुष्य अपना सम्बन्ध सब संसार से ठीक रखता है और दानादान करता हुआ उन्नत होता जाता है। ब्रह्म यज्ञ द्वारा वह सबसे बड़े परमात्मा के साथ अपना संबंध करता है, देव यज्ञ द्वारा परमात्मा के अग्नि, वायु, सूर्य आदि देवों से संबन्ध जोड़े रखता है तथा पितृ यज्ञ द्वारा अपने से बड़े मनुष्यों से संबन्ध ठीक रखता है [एवं ये तीनों पूजा देव अङ्ग में आ गये, तीनों में अपने से बड़ों में संबन्ध है] चौथे यज्ञ से अपने छोटे रोगी, हीन, पशु, पक्षी आदि से भी अपना संबन्ध ठीक रखता है (दान) तथा पांचवें अतिथि यज्ञ से मनुष्यों की सेवा द्वारा सब बराबर वालों से अपना संबन्ध ठीक रखता है। (संगति करण) इन यज्ञों को प्रतिदिन करता हुआ मनुष्य सब संसार से ठीक तरह जुड़ा रहता है, इस लिये ये पांचों महा-यज्ञ समझे जाते हैं। अन्य सब वैयक्तिकयज्ञ इन्हीं पांचों में समा जाते हैं। असल में तो ये तीन ही (देव पूजा, संगति करण) यज्ञ हैं किन्तु देव पूजा के त्रिविध होने के कारण (ईश्वर के साथ, आधिदैविक देवों के साथ, बड़े मनुष्यों के साथ) पांच हो गये हैं।

इनमें पहिला, दूसरा और चौथा संसार महायज्ञ के अंगभूत यज्ञ हैं तथा तीसरा और पांचवां मनुष्य संगठन यज्ञों के अङ्गभूत भी है। अब हम नीचे के क्रम से प्रत्येक महायज्ञ की कुछ व्याख्या करेंगे --

अतिथि यज्ञ का अर्थ है कि घर में जो कोई भी मनुष्य मात्र आवे, उसको भोजन आदि देकर सुखी करना। इस यज्ञ में 'मनुष्य मात्र से प्रेम' अग्नि है। अतिथि के सत्कार में सब कुछ किया गया प्रेम कर्म हवि है और सब मनुष्यों के साथ प्रेम से रहने का सुख फल है अथर्व वेद के 8-6 सूक्त तथा कई अन्य स्थलों पर भी इस अतिथि पूजन का प्रबल शब्दों में उपदेश है। वैदिक सभ्यता में अतिथि से पहले खाना, उसको कुछ भी कष्ट पहुँचाना बड़ी हानि पहुंचाने वाले पाप समझे जाते हैं। इस यज्ञ का महापन इस

बात में है कि इसमें सब संसार के मनुष्य हमारे भाई समझे जाते हैं। इस प्रकार यह सब संगठन यज्ञों का मूल है। यह मनुष्यों को प्रत्येक दूसरे मनुष्य के साथ मनुष्य होने के कारण ही आत्मवत् प्रेम करना सिखलाता है। अतः केवल दूसरे को भोजन खिला देने से इस यज्ञ की पूर्ति नहीं समझ लेनी चाहिए।

भूत यज्ञ इस बात का सूचक है कि मनुष्य को अपने से सब छोटों को पालना चाहिए, रक्षा करनी चाहिए। मनु महाराज ने सब छोटों को निम्न छह विभागों में रखा है और तदनुसार इस यज्ञ की विधि यह है कि भोजन खाने से पहले इनके नाम के ६ ग्रास निकालकर भोजन शुरू करें। वे निम्न हैं—

(1) पतित	(2) श्वपच
(3) पापरोगी	(4) श्वा
(5) वायस	(6) कृमि

इनमें से पहिले तीन किसी कारण हीन अवस्था में पहुंचे हुए मनुष्य ही हैं। पतित का अर्थ है अपनी साधारण अवस्था से गिरा हुआ मनुष्य। सभी रोग ग्रस्त, दुष्काल पीड़ित, मानस व्यथा से पीड़ित या महा यन्त्र प्रवर्तन के कारण बेकारी या गरीबी पीड़ित 'पतित' कहलायेंगे। उनकी रक्षा करना, सेवा करना भूतदया का पहिला लक्षण है। श्वपच या चांडाल का अर्थ किन्हीं 'कुत्ते को खाना' आदि अधर्माचरण के कारण समाज से गिरे हुए पुरुषों का नाम प्रतीत होता है। इनका उद्धार करना भूतयज्ञ का दूसरा लक्षण है एवं कुष्ठ आदि घृणित रोगों से पीड़ितों की भी सेवा करनी चाहिये। इन हीन हुए मनुष्यों के नीचे (श्वा) कुत्ता आदि सब पशुओं की, (वायस) कौआ आदि सब पक्षियों की तथा (कृमि) कीड़े मकौड़े तक सब क्षुद्र जन्तुओं की भी पालना करना भूत महा यज्ञ या बलिवैश्वदेव यज्ञ कहलाता है। यह तो स्पष्ट है कि यह महायज्ञ केवल छह ग्रास निकाल देने से पूरा नहीं हो जाता। ग्रास निकालना तो केवल चिह्न मात्र है। इन सबकी सेवा का अवसर प्रतिदिन न आते रहने से कहीं हम अपने धर्म को न भूल जायें इसलिये प्रतिदिन इनके निमित्त ग्रास निकालते हुए इसे स्मरण रखा जाता है। भोजन से पहिले निकालने का अर्थ यह है कि इनकी सेवा पहिले, अपना भोग पीछे अर्थात् हमें अपना भोग छोड़ करके भी इनकी सेवा करनी है। अब यदि कोई पतित और पाप रोगी आदि की सेवा नहीं करता किन्तु छह ग्रास रोज निकालता हुआ समझता है कि मैं भूत महायज्ञ कर रहा हूं तो वह बड़े भारी धोखे में है। ऐसे हिन्दू इस देश में बहुत मिल जायेंगे जो कि इन छह ग्रासों की विधि पूरी करते होंगे परन्तु पतितों का उद्धार धर्मविरुद्ध बतलायेंगे, बिचारे चांडालों को छुवेंगे भी नहीं तथा कुष्ठ रोगियों के पास नहीं फटकेंगे। सचमुच हमारे यज्ञों में से आत्मा निकल चुकी है, केवल ब्राह्याडंबर शेष रह गया है। यह यज्ञ भी बहुत अंशों में हम लोगों की अपेक्षा दूसरे ही अधिक करते हैं। कई सच्चे ईसाई यहां इस देश में कोढ़ियों की इतनी सेवा करते हैं कि उनके लिए हृदय में बड़ा सम्मान पैदा होता है। पतितों का उद्धार अपने मतानुसारी ढंग से ईसाई

और मुसलमान भी सदा करते रहते हैं किन्तु हिन्दुओं को इसका कुछ होश नहीं है। इग्लैंड में पहिले कोढ़ की बीमारी बहुत ही अधिक होती थी पर उन्होंने थोड़े ही समय में इसका नाम-निशान अपने देश से मिटा दिया है। पशुओं का हिस्सा निकालने का अर्थ हिन्दुओं के बड़े भारी धर्म गोरक्षा से है। किन्तु यह स्मरण आने पर सिर लज्जा से झुक जाता है कि हिन्दुस्थान को छोड़ शेष सभी देशों में गौओं की संख्या यहां से बहुत अधिक है, वे बहुत अच्छी हालत में हैं और बहुत दूध देने वाली हैं। इनकी धर्म पुस्तक वेद में तो गौ और घी-दूध का बहुत वर्णन है। पर अब इस देश में गौ नाम लेने के लिए ही रह गई है। हिन्दुओं को कोई समझा दे कि पहिली रोटी गाय के नाम से रख लेने से या ग्रास देने से गोरक्षा नहीं हो जायेगी, इसके लिये तो आस्ट्रेलिया आदि देशों की तरह क्रियात्मक बहुत से यत्न करने होंगे। इसी तरह अन्य देशों में बैल, भेड़, बकरी, घोड़े आदि सभी पशुओं की वृद्धि और उन्नति की जाती है, इन्हें राष्ट्रीय सम्पत्ति समझा जाता है। पर भूत यज्ञ का दावा करने वाले हिन्दुस्थान में यह कुछ भी नहीं है। केवल ये पशु ही नहीं, किन्तु पक्षी भी और छोटे-छोटे परम असहाय कीड़े-मकोड़ों तक जो कुछ प्राणी हैं इन सबकी रक्षा का भार बड़ा कहलाने वाले मनुष्य पर जगद्रचयिता ने छोड़ रखा है। अतः हमें उन्हें कभी भी हानि तो पहुंचानी ही नहीं चाहिए, अपितु जो कुछ हम कर सकें इनके पालनार्थ करना चाहिये। परन्तु पालना का अर्थ यूँ ही खिलाना नहीं है, काम लेना और खिलाना इसी सिद्धान्त से पशुओं की भी पालना होती है और होनी चाहिये। भूत महायज्ञ की प्रथा को चलाने वाले ऋषि जानते थे कि महायन्त्र प्रवर्तन को हटाकर न केवल मनुष्य को बेकारी से बचाना चाहिये अपितु पशुओं को भी बेकारी से बचाकर पालना चाहिये। अतएव कृषि आदि बैलों से की जाती थी, यानों में हाथी, घोड़े काम आते थे एवं सब पालतू पशुओं की रक्षा होती थी। व्यवहार द्वारा मधु मक्षिकाओं की पालना होती है, यह भी कहा जा सकता है। पाश्चात्य लोग भी इसी सिद्धान्त से गोरक्षादि करते हैं। भेद इतना है कि वे जहां तक उनका स्वार्थ सिद्ध होता है वहीं तक पशुओं को पालते हैं। यदि बहुत से घोड़े बेकार हो गये हैं तो उन्हें गोलियों से खतम कर दिया जाता है। परन्तु भूत यज्ञ करने वाले इन असहायों की पालना करने में ही अपना स्वार्थ समझते हैं और किन्हीं कारणों से इन दयनीय पशुयोनियों में आये हुए हमारे जैसे जीवों को अपने छोटे गिरे हुए भाई समझकर पालना कर्त्तव्य अनुभव करते हैं।

भूत यज्ञ में भी पूर्ववत् जो रक्षा पालना के लिये त्याग किया जाता है वह 'हवि' है, सहानुभूति या जिस द्वारा यह त्याग पहुंचता है वह अग्नि है तथा इस पुण्य में मिलने वाला नाना प्रकार का सुख फल है।

अब आगे से बड़ों से सम्बन्ध कराने वाले तीन यज्ञ शेष रह गये। इनमें पहिला पितृयज्ञ है। इस द्वारा माता-पिता, आचार्य तथा अग्निष्वात्तादिपितरों की

पूजा की जाती है। यह यज्ञ मनुष्यसंगठन यज्ञ का अंग है। माता पिता की पूजा कुटुम्ब यज्ञ में तथा आचार्य की पूजा गुरुकुल यज्ञ में आ जाती है। मनु ने (2-131) कहा है कि पिता गार्हपत्याग्नि है औरमाता दक्षिणाग्नि है और आचार्य आहवनीयाग्नि है। इन श्रेष्ठतर अग्नियों में पितृयज्ञ होता है और माता पिता गुरु की सेवा की जाती है। एवं अग्निष्वात्त आदि भी कोई पालक पुरुष होते हैं, इनकी भी सेवा शुश्रूषा आदि करनी चाहिए। इन सबको अपनी भक्तिप्रेरित श्रद्धामय सेवाओं से तृप्त करना ही पितृयज्ञ है, तर्पण है,श्राद्ध है। इस यज्ञका 'महा'पन इस बात में है कि ये पितृलोग ही समाज, देश व संसार के भावी स्तम्भों-नवयुवकों को बनाने वाले होते हैं। अतः इनकी तृप्ति (तर्पण) होना आवश्यक है।

देव यज्ञ प्रसिद्ध यज्ञ है। अपने पूज्य मनुष्यों के बाद मनुष्यों से बड़े जो संसार के अग्नि, वायु आदि देव हैं जो कि ईश्वर के संसार महायज्ञ को चलाने वाले हैं उन आधिदैविक देवों की पूजा इस यज्ञ से की जाती है। प्रसिद्ध अग्नि होत्र तथा अन्य सब यज्ञ जिनमें कि कुण्ड में भौतिक अग्निस्थापन पूर्वक घृत अन्नादि हवि देवों को पहुँचायी जाती है ये सब देवयज्ञ हैं। इसकी विधियाँ भी कई बातों की चिह्न होती हैं, जैसे कि अग्नि को क्रमशः बढ़ाना आत्मा को, समाज व राष्ट्र को बढ़ाने का चिह्न है तथा एक एक मन्त्र पढ़कर हवि डालते जाना सतत बलिदान का चिह्न है। इन यज्ञों के फल भिन्न-भिन्न होते हैं। हमारा विश्वास है कि साधारण नैत्यिक अग्नि होत्र से वायु शुद्धि होती है तथा वृष्टि होने में सहायता मिलती है। गीता में भी कहा है कि 'यज्ञात् भवति पर्जन्यः'। सब प्राकृतिक अवस्थाओं को ठीक रखना इन देव यज्ञों से सिद्ध होता है, क्योंकि इस यज्ञ द्वारा हमारा प्राकृतिक देवों से ठीक सम्बन्ध रहता है। अग्नि होत्र में जिस प्रकार की हवि डाली जाती है उस उस से भिन्न-भिन्न प्रकार का असर वायुमण्डल में उत्पन्न होता है। प्रतिदिन के अग्निहोत्र के अतिरिक्त प्रति पूर्णिमा और अमावस्या के दिन पौर्णमास और पर्वेष्टि की जाती है। एवं चातुर्मास में तथा अन्य ऋतुओं पर भिन्न-भिन्न प्रकार की हवि द्वारा उस उस प्राकृतिक अवस्था से अपनी अनुकूलता प्राप्त की जाती है। परन्तु जैसे कि पहिले कहा जा चुका है, अब ये सब कर्मकाण्ड लुप्तप्राय हैं। अतः इनका ठीक-ठीक रूप अभी नहीं समझ में आ सकता है। इस हवि से क्या प्रभाव होगा इत्यादि बातों को हमें पाश्चात्य परीक्षण के ढंगों से परीक्षण करके फिर से इस कर्म-काण्ड को तर्क द्वारा स्थापित करना होगा। अतः इस विषय पर इससे पहिले अधिक लिखना निष्प्रयोजन है। इन्हीं यज्ञों को मैंने पूर्व प्रकरणों में 'सूक्ष्म यज्ञ' नाम से पुकारा है। सूक्ष्म यज्ञ से मेरा तात्पर्य यही है कि जिन यज्ञों की हवि और क्रियाओं का फल के साथ कारण-कार्य सम्बन्ध स्थूल दृष्टि से समझ नहीं आता है उन्हें मैं सूक्ष्म विशेषण से पुकारता हूं। यदि इनका लोगों में प्रचार करना है तो उनके क्रिया और फल में कारण-कार्य सम्बन्ध को बतलाना होगा, तभी यज्ञ एक विज्ञान (Science) बन सकेगा। प्राचीन कर्म काण्ड में तो मनुष्य की एक एक

कामना को पूरा करने के लिए एक-एक अग्नि होत्र बताया गया है । वर्षा हो या वर्षा बन्द हो, वायु चले या तेज धूप निकले, रोग दूर हो, विद्या बुद्धि बढ़े, मैं ज्येष्ठ श्रेष्ठ होऊं, राज्य मिले, ऐश्वर्य मिले, तेजस्वी विद्वान या बली पुत्र उत्पन्न हो हो आदि-आदि सब कामनाओं को पूरा करने के लिए आधिदैविक यज्ञ हुआ करते थे और इन प्राकृतिक देवों की सहायता से ये सब फल प्राप्त किये जाते थे। परन्तु इन सब बातों पर आज कौन विश्वास कर सकता है । इन सब सूक्ष्म यज्ञों को हमें फिर स्थापित करना चाहिये ।

अन्त में सबसे बड़े परमात्मा के साथ सम्बन्ध जोडना ब्रह्म यज्ञ है। दैनिक कृत्यों में संध्या ब्रह्म यज्ञ है । परमात्म दर्शन के लिए अपने अन्दर जितनी मन प्राण द्वारा क्रियायें की जाती हैं वे सब ब्रह्मयज्ञ हैं। गीता के चौथे ज्ञानयोग नामक अध्याय में जो संयमयज्ञ, इन्द्रिययज्ञ, आत्मसयमयोग यज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याय यज्ञ, प्राणयज्ञ, अपानयज्ञ, कुंभक यज्ञ, प्राणाग्निहोत्र यज्ञ आदि यज्ञ वर्णन किये हैं वे सब ब्रह्मयज्ञ में आते हैं । यह आन्तर यज्ञ है अत: सबसे मुख्य और प्रभावशाली यज्ञ है । सब बाह्य यज्ञ वास्तव में इस आन्तर यज्ञ की सहायता के लिए ही है । जो यह यज्ञ पूर्णतया कर सकता है, उसे बाह्य यज्ञों की आवश्यकता नहीं रहती अत: सन्यासी जो कि सदैव ब्रह्म यज्ञ करता रहता है अन्य सब यज्ञों से मुक्त हो जाता है। कृष्ण भगवान ने अपनी विभूतियों में कहा है कि 'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि' । यज्ञों में ब्रह्मयज्ञ श्रेष्ठ है और ब्रह्मयज्ञ में भी जपयज्ञ इसलिये श्रेष्ठ है क्योंकि यह निरन्तर चलता हुआ मनोवृति को एक रंग में रंग कर शीघ्र मनोनिरोध करा देता है । योग दर्शन में भी प्रणव जप द्वारा 'आत्म दर्शन तथा विघ्नों का नाश' यह बड़ा भारी फल बतलाया है । सब ब्रह्मयज्ञ ज्ञान को प्रकाशित करते हैं । 'ब्रह्म' का अर्थ भी 'ज्ञान' होता है। अतएव इस अन्दर के यज्ञ का नाम ज्ञान यज्ञ भी कहा जाता है। भगवद्गीता ने इस यज्ञ की प्रशंसा इस प्रकार की है ।

श्रेयान् द्रव्यमयात् यज्ञात् ज्ञानयज्ञः परंतप
सर्वं कर्माखिलं पार्थं ज्ञाने परि समाप्येत ।

गीता 4-33

अत: सब कर्म यज्ञों से (जिनमें कि किसी बाह्य द्रव्य की भी आवश्यकता होती है) ज्ञान यज्ञ ही श्रेष्ठ है, क्योंकि सब कर्म अन्त में ज्ञान में ही समाप्त हो जाता है । अथवा यूँ कहना चाहिए कि ज्ञानकर्म ही सबसे ऊंचा और प्रभावशाली कर्म है । सब योग क्रियाओं से विवेक ख्याति अर्थात् ज्ञानप्रकाश होता है । योगोक्त धारणा, ध्यान और समाधि बह्मयज्ञ की उच्च अवस्थायें हैं । इन ब्रह्मयज्ञों के जो बड़े-बड़े आश्चर्यकारी फल प्राप्त होते हैं वे योगदर्शन के विभूति पाद में वर्णित हैं । ये फल प्राप्त अवश्य होते हैं, इस बात में विश्वास न रखने वाले मनुष्य बहुत हैं परन्तु ये सब फल योग नामक ब्रह्म-यज्ञों से जरूर मिल सकते हैं, ऐसा हमारा विश्वास है ।

प्रत्येक ब्रह्मयज्ञ में पूर्ववत् हवि, अग्नि और फल निर्दिष्ट किये जा सकते हैं। हवन प्रक्रिया ब्रह्मयज्ञ में भी होती है, परन्तु यह सूक्ष्म होती है। यह दिखायी नहीं देती परन्तु फल से अनुमित हो सकती है। उपनिषद् में आता है कि ब्रह्मज्ञान होने पर चेहरा बदल जाता है अतः एक ब्रह्मज्ञानी जान लेता है कि 'ब्रह्मविदिव भासि'। इस बाह्य फल से हम अनुमान कर सकते हैं कि ब्रह्मज्ञान होते ही उसमें कुछ भेद आ गया है। जैसे कि अग्नि के पास बैठते ही शीत दूर होता है, वैसे ही ब्रह्मयज्ञ की उच्च अवस्थाओं में तुरन्त फल मिलता है, यद्यपि केवल इस स्थूल जगत् में रहने वाले हम इसकी प्रक्रिया को नहीं समझ सकते। यह भी स्पष्ट है कि इतने बड़े फलों को लाने के लिए हवि भी बहुत बड़ी होती है। ब्रह्मयज्ञकर्त्ता अपना सब प्राकृतिक भोग छोड़ देता है, सब वस्तुओं की कामनाओं के त्यागने की हवि देता है। पुत्र, धन, मान ऐषणाओं को त्यागने वाला सन्यासी सदा ब्रह्मयज्ञ का आनन्द प्राप्त करता है। ब्रह्मयज्ञ की अन्तिम अवस्था वैयक्तिक सर्वमेध है। एक जीवनमुक्त अपना शरीर, मन, इन्द्रियें, आत्मा अपना एक-एक कर्म दिन भर में चलाने वाला एक-एक प्राण अर्थात् पूर्णतया सब कुछ ब्रह्माग्नि में डालकर सर्व को प्राप्त कर लेता है। यह वैयक्तिक यज्ञ की पराकाष्ठा है। यह ब्रह्मयज्ञ सबसे बड़ा यज्ञ है।

संगठन यज्ञों के प्रकरण में लिखे प्राचीन यज्ञों में तथा अभी वर्णन किये देव यज्ञों में और ब्रह्म यज्ञों में ऐसे बहुत यज्ञ हैं जिनमें कार्यकारणभाव को अभी हम बतला नहीं सकते। इनको कर सकना तो अभी दूर ही है। इसलिए उनका होना न होना हमारे लिए एक बराबर है। परन्तु हमारी तरह बहुतों की यह इच्छा होगी कि इन लुप्तयज्ञों का फिर उद्धार होना चाहिए। पर यह उद्धार कैसे हो ? प्रथम तो जैसा कि हमने इस निबन्ध के प्रारंभ में लिखा है, हमें यज्ञ के तत्व को समझ लेना चाहिए। मेरा विचार है जो मनुष्य सामान्य तथा यज्ञ तत्व को समझता है उसे यज्ञों में विश्वास भी होगा। तात्पर्य यह है कि जो मनुष्य सामान्यतया यज्ञ के स्वरूप को समझता है और जिसको सूक्ष्म यज्ञों के फलों में विश्वास है कि ऐसे यज्ञ से यह फल मिल सकता है वही पुरुष स्वयं परीक्षण करके इन सूक्ष्म यज्ञों के कार्य कारण भाव को बतला सकता है। जब कि ऐसे पुरुष अपना जीवन लगाकर परीक्षणों से अनुभव प्राप्त करते हुए बतला सकेंगे कि इस प्रकार के यज्ञ से वर्षा क्यों होती है, इस दृष्टि से पुत्र जन्म कैसे हो जायेगा या इस सेवा साधना से अमुक सिद्धि कैसे मिल जायेगी तभी इस जीर्ण यज्ञसंस्था का पुनरुद्धार हो सकता है। परन्तु यह सब भी अकेले-अकेले करने का काम नहीं है। जब तक कि हम इस यज्ञसंस्था के उद्धार कार्य को संगठित होकर नहीं करेंगे और संगठन यज्ञों में वर्णित नियमों के अनुसार ही इस संगठन को नहीं चलायेंगे तब तक हमारे यत्न व्यर्थ जायेंगे। कोई श्रद्धालु और यज्ञोन्नति चाहने वाले कर्मयज्ञों की हवियों के परीक्षण करें, कोई पुराने ग्रन्थों का अनुशीलन करें और कोई योग की उच्च अवस्थाओं का अनुभव प्राप्त करें और फिर अपने-अपने अनुभवों से विधिवत् एक-दूसरे को लाभ पहुंचाते

हुए मिलकर काम करेंगे तो हम इस यज्ञ द्वारा ही प्राचीन यज्ञों का उद्धार कर सकेंगे इसीलिए मैंने इस लेख में संगठन यज्ञों पर विशेष बल दिया है। ये जो पंच महायज्ञ हैं, यदि हम इनका भी फिर घर घर में प्रचार करना चाहते हैं तो वह भी संगठन यज्ञों के ठीक ठीक चलने से ही होगा। अतः आशा है कि इस लेख को पढ़ने वाले पाठक पहले अपने अपने संगठन यज्ञों को ठीक करने का यत्न करेंगे। यज्ञ से ही यज्ञ का उद्धार होना है।

संगठन यज्ञ और वैयक्तिक यज्ञों का वर्णन पूरा हो गया। अब पाठक अनुभव कर सकते हैं कि पूर्वोक्त नाना प्रकार के मनुष्य संगठन यज्ञों, सहस्रों वैयक्तिक यज्ञों तथा पंच महायज्ञों और सब से अधिक ईश्वरीय देवों के महायज्ञ के कारण ही यह सब संसार बंधा हुआ है, बिखरता नहीं है। यदि संसार में यज्ञ न हो तो प्रत्येक प्राणी और वस्तु (यदि जीवित रहे) जुदा-जुदा पड़ी हुई नष्ट हो जाय या अयज्ञ शक्ति द्वारा परस्पर टकराई जाकर संघर्षण से उत्पन्न हुई अग्नि में सब संसार भस्म हो जाय। परन्तु सबके मूल में यज्ञस्वरूप परमात्मा विद्यमान हैं। उनकी प्रेरणा से, उनके सूर्य, वायु, अग्नि आदि देव ठीक ठीक बिल्कुल त्रुटिरहित महा यज्ञ कर रहे हैं जिससे कि इस अगम्य विश्व के ब्रह्माण्ड तथा लोकलोकोत्तर एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। एवं यह मनुष्य संसार भी यज्ञ से ही जीवित रहता है। मनुष्य में स्वभावतः यज्ञ का भाव है, अतः वह दूसरों से प्रेम करता है और उनके लिए खुशी से बलिदान करता हुआ उनसे जुड़ा रहना चाहता है। यदि मनुष्य के अन्दर यह यज्ञ न रहे तो सब मनुष्य संसार आज ही लड़भिड़ कर नष्ट-भ्रष्ट हो जाय। मनुष्य चाहे कितना यत्न करे वह यज्ञ को सर्वथा त्याग नहीं सकता। वह जितना यज्ञ को त्यागता है उतना ही संसार यज्ञ के अधीन होने के कारण वह कष्ट पाता रहता है और यदि वह यज्ञ का अधिक उल्लंघन करता है तो यह संसार स्वभावतः उसका नाश कर देता है और इस प्रकार अयज्ञ का नाश करते हुए अपनी स्वभाविक गति से चलता जाता हुआ यह संसार इस वेद वाक्य की प्रामाणिकता की गवाही देता है कि:—

अयं यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिः।

पाठकों ने देखा होगा कि यद्यपि हमने ईश्वरीय संसार महायज्ञ का नाम तो बहुत जगह लिया है किन्तु इसका निरूपण कहीं नहीं किया। इसका कारण यह है कि इस अनन्त महिमोपेत, विश्व रूप, अनन्तों सूक्ष्म और स्थूल अंगों में सुव्यवस्थित, इस संसार महायज्ञ को समझना हमारे लिए शक्य नहीं है। हम इस संसार के कुछ भाग को ही जानते हैं और इस ज्ञान से ही आगे चलते हैं। यह ठीक है कि अन्त में इस सब विश्व के रहस्य को मनुष्य ने जानना है और जानना शक्य है।

अतः मनुष्य अपने वैयक्तिक यज्ञों द्वारा तथा संगठन यज्ञों द्वारा इसी महायज्ञ के रहस्य को समझने की चेष्टा करता रहता है। परन्तु अन्ततः यदि हम इसे किसी तरह जानते हैं तो वह अपने आपको—अपने सूक्ष्म स्थूल सम्पूर्ण शरीर जीवन को समझने द्वारा ही जानते हैं, क्योंकि यह मनुष्य जीवन भी बिल्कुल संसार महायज्ञ

जैसा छोटा सा यज्ञ है। हमारे शरीर में ही सब संसार छिपा हुआ है। पूर्वोक्त ब्रह्मयज्ञ द्वारा अपने शरीर में इस सब महा-संसार को पूर्णतया देखना होता है। अन्त में जब मनुष्य सर्वमेध यज्ञ द्वारा अपने में इस सब महा-संसार का—इसके पर अपर सर्व रूप का-दर्शन प्राप्त कर लेता है तभी कृतकृत्य होता है। अतः मनुष्य जीवन यज्ञ का महत्त्व हमारे लिए बहुत है। यह यज्ञ हमारे सब से अधिक नजदीक का यज्ञ है। यह मनुष्य यज्ञ हमारे सब यज्ञों का आधार है, क्योंकि मनुष्य जीवन में ही मनुष्य अन्य सब यज्ञ करके कृतकृत्य होना है। अतः अन्त में हम अब इस मनुष्य जीवन यज्ञ का थोड़ा सा वर्णन करके—इसकी व्याख्या में यह भी दिखला कर कि हम भारतवासियों की इस आधार यज्ञ में भी कैसी दुर्दशा है, इस निबन्ध को समाप्त करेंगे।

इस मनुष्य यज्ञ का वर्णन भी शास्त्रों में बहुत जगह है, जैसे कि नारायण तथा प्राणाग्नि होत्रोपनिषद् में है। इस यज्ञ के अङ्गभूत भी बहुत से यज्ञ देखे जा सकते हैं। यद्यपि इस आधार यज्ञ के विस्तृत और व्यापी वर्णन की आवश्यकता है तो भी विस्तार भय से तथा इस विषय के अनुभवगम्य ही अधिक होने के कारण यहां केवल इसका सामान्य रूप ही छांदोग्योपनिषद् के तृतीय प्रपाठक 16 खंड से सुना देना पर्य्याप्त समझते हैं।

> पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंशति वर्षाणि तत्प्रातः सवनं चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री गायत्रं प्रातः सवनं तदस्य वसवोऽन्वायत्ताः प्राणा वाव वसव एते हीदं सर्वं वासयन्ति ॥ 1 ॥ तं चेदेतस्मिन्वयसि किंचिदुपतपेत्स ब्रूयात्प्राणा वसव इदं में प्रातः सवनं माध्यन्दिनं सवनमनुसन्तनुतेति माहं प्राणानां वसूनां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो ह भवति ॥ 2 ॥ अथ यानि चतुश्चत्वारिंशद्वर्षाणि तन्माध्यन्दिनं सवनं चतुश्चत्वारिंशदक्षरा त्रिष्टुप् त्रैष्टुभं माध्यंदिनं सवनं तदस्य रुद्रा अन्वायत्ताः। प्राणा वाव रुद्रा एते हीदं सर्वं रोदयन्ति ॥ 3 ॥ तं चेदेतस्मिन्वयसि किंचिद् पतपेत्स ब्रूयात्प्राणा रुद्रा इदं मे माध्यन्दिनं सवनं तृतीय सवन मनसन्तनुतेति माहं प्राणानां रुद्राणां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो ह भवति ॥ 4 ॥ अथ यान्यष्टाचत्वारिंश द्ववर्षाणि तृतीय सवनमष्टा चत्वारिंश दक्षरा जगती जागतं तृतीय सवनं तदस्यादित्या अन्वायत्ता प्राणा वावादित्या एते हीदं सर्वमाददते ॥ 5 ॥ तं चेदेतस्मिन्वयसि किंचिद्पतपेत्स ब्रूयात्प्राणा आदित्या इदं मे तृतीय सवनमायुरनुसन्तनुते माहं प्राणाना मादित्यानां मध्ये यज्ञो विलोप्सीसेत्युद्धैव तत एत्यगदो है व भवति ॥ 6 ॥ एतद्धस्म वै तद्विद्वानाह महिदास ऐतरेयः स किं म एतदुपतपसि योऽहमनेन न प्रेष्यामीति सह षोडषं वर्षशतमजीवत्प्रह षोडश वर्षशतं जीवति य एवं वेद ॥ 7 ॥

मनुष्य जीवन निश्चय से यह है। उसके जो 24 वर्ष हैं वह प्रात: सवन हैं। 24 अक्षरों की गायत्री होती है और प्रात: सवन गायत्र है। इसमें (प्रात: सवन में) वसु देवता अनुगत हैं। प्राण ही वसु हैं क्योंकि वे इस सबको बसाते हैं। इसलिए इस आयु में मनुष्य को कोई रोगादि आकार क्लेशित करने लगे तो वह बोले 'हे वसु प्राणो ! मेरा यह प्रात: सवन है इसे माध्यंदिन सवन तक लेते चलो। तुम प्राण वसुओं के बीच में (तुम्हारे उपस्थित होते हुए) मैं यज्ञ को खण्डित नहीं होने दूंगा।' इस (ध्यान) से वह रोग उठ जाता है और मनुष्य निरोग हो जाता है।

इससे अगले जो चवालीस वर्ष (अर्थात् 25 वर्ष की आयु से 68 वर्ष की आयु तक) है वह माध्यंदिन सवन है। 44 अक्षरों का त्रिष्टुप् छंद होता है और माध्यंदिन त्रैष्टुभ है। इसमें रुद्र देवता अनुगत हैं, प्राण ही रुद्र हैं, क्योंकि ये रुलाते हैं। इस आयु में यदि कोई रोग आदि आकार क्लेशित करने लगे तो बोले 'हे रुद्र प्राणों, मेरा यह माध्यंदिन सवन है, तृतीय सवन तक इसे ले चलो, मैं तुम प्राण रुद्रों के बीच में (तुम्हारी उपस्थिति होते हुए) यज्ञ को खण्डित नहीं कर सकता', इस (ध्यान) से वह रोग आदि उठ जाता है और मनुष्य निरोग हो जाता है।

"अब जो (शेष) अड़तालीस वर्ष (अर्थात् 68 से 116 वर्ष तक) हैं वह तृतीय सवन है। 48 अक्षरों का जगती छन्द होता है और तृतीय सवन जागत है। इसमें आदित्य देवता अनुगत हैं प्राण ही आदित्य हैं, क्योंकि वे सबका आदान करते हैं, इस आयु में यदि कोई रोगादि आकर क्लेशित करने लगे तो बोले 'हे आदित्य प्राणों, यह मेरा तृतीय सवन है इसे पूरी आयु यज्ञ समाप्ति तक ले चलो। मैं तुम आदित्य प्राणों के बीच में (तुम्हारे उपस्थित होते हुए) यज्ञ को खण्डित नहीं होने दूंगा' इस (ध्यान) से वह रोगादि उठ जाता है और मनुष्य निरोग हो जाता है।

"यह बात इस विद्या के विद्वान् ऐतरेय महीदास ऋषि ने कही थी। (वह कहता रहा 'हे रोग तू मुझे क्या क्लेशित करता है जो कि मैं (बीच में) मरने वाला नहीं हूँ, इस प्रकार वह 116 वर्ष जीता रहा और भी जो कोई इस बात को समझता है वह 116 वर्ष तक जीता है।"

उपनिषद् के इस उपदेश का हमें खूब मनन करना चाहिए। इसमें कितना गूढ़ रहस्य है, उसकी सुन्दरता तो अभ्यासी ही जानेगा। परन्तु एक वाक्य में इसका अर्थ यह है कि मनुष्य जीवन को यज्ञ समझना चाहिए। यज्ञ की तरह इसके भी तीन विभाग हैं और प्रत्येक विभाग में जो भिन्न-भिन्न तीन प्रकार के देवता प्राण में रहते हैं, उनके ध्यान द्वारा अपनी प्रबल इच्छा शक्ति से इस यज्ञ को कभी भी भंग नहीं होने देना चाहिए, बल्कि नियमपूर्वक 116 वर्ष में इसे निर्विघ्न समाप्त करना चाहिए।

पहली बात है कि मनुष्य जीवन यज्ञ है। भारत के वे प्राचीन महीदास

आदि ऋषि मनुष्य जीवन को 116 वर्ष तक चलने वाला यज्ञ समझते थे। यज्ञ का भंग होना पाप है। यज्ञ का नाश करने वाले असुर होते हैं और यज्ञ की रक्षा करने वाले देवता। अब कौन भारतवासी अपने जीवन को यज्ञ समझता है, इसकी रक्षा की चिन्ता करता है, बीच में मर जाने को यज्ञ नाश का अनर्थ समझने वाला अब कौन हैं? हमसे अधिक तो इस यज्ञ की रक्षा करने वाले विदेशी लोग हैं। उदाहरणार्थ अमेरिका का हाल सुनिये। सन् 1800 में वहां मनुष्यों की औसत आयु 33 वर्ष थी, 1855 में उन्होंने अपनी आयु बढ़ाकर 40 वर्ष कर ली। एवं 1910 में उनकी औसत आयु 54 हुई और अब 1920 में यह 58 हो गई है। यज्ञ की रक्षा की चिन्ता तो उन्हें है। हम लोगों की आयु सौ से घटकर साढ़े बाईस रह गयी है। (शायद अब और भी घट चुकी है) पर हमें कुछ खबर भी नहीं है। हमारे देश में इन करोड़ों ईश्वरीय यज्ञों का प्रातः सवन में ही भंग कर दिया जाता है, तब हमारा उद्धार कैसे हो? पर हम तो यज्ञ वज्ञ सब भूल चुके हैं। हमारी अब की धर्म (!) की शिक्षा के अनुसार हम समझते हैं कि जल्दी मर गये तो झगड़ा कटा। पर हम अधर्मियों को कोई यह समझा दे कि यह जीवन तो भगवान की दी हुई पवित्र वस्तु है, हम पापी इसका झगड़ा काटने वाले कौन होते हैं? यह तो हमें इसलिए दिया गया है कि परमात्मा के संसार महायज्ञ में इसके अंगभूत इस यज्ञ को अच्छी तरह चलावें और पूर्ण करें और इस यज्ञ को अच्छी तरह चलाते हुए या तो इस यज्ञ से यज्ञ का यजन कर डालना है अर्थात् आत्मबलिदान करना है (जैसे कि देश या धर्म के लिए वीर पुरुष करते हैं) या इसे पूर्ण कर परमात्मार्पण करना है, इसलिए यह यज्ञ है। परन्तु इसके विपरीत इसे अच्छी तरह न चलाना, इससे रोगादि आने देना एवं इसका भंग करना पाप है, निर्बलता वश इसे एकदम नाश कर डालना अर्थात् आत्महत्या और भी घोर पाप है, वेद में तो रोग और पाप एक ही बात है, रंहः, रपः, कण्व आदि सब पापवाचक शब्द रोगवाचक हैं फिर भी न जाने वेदों को मानने वालों को रोग में पाप क्यों नहीं दिखलाई देता है? रोग केवल इसीलिए पाप नहीं है क्योंकि पाप के कारण ये उत्पन्न होते हैं, पर हमें सामाजिक दृष्टि से भी रोग की पापमयता देखनी चाहिए। रोगी पुरुष समाज में रोग का वायुमण्डल पैदा करता है, दूसरों में रोग फैलाने का कारण होता है, समाज में जीवन की उपयोगिता, जीवन का आनन्द, जीवन की बढ़ने वाली कार्य क्षमता इन सबको रोगी होना धक्का पहुंचाता है, फिर समाज को अपनी शक्ति रोगी के रोग दूर करने, उसकी सेवा करने में व्यय करनी पड़ती है, अच्छा हो जाने पर भी जो रोग की निर्बलता उसमें स्थिर हो जाती है वह समाज को हानि पहुंचाती है, यह सब समझकर हमें अपने यज्ञ को रोगों के आक्रमणों से सदा बचाये रखना चाहिए और प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध कर्म (पाप) कभी न करना चाहिए। म० हैनसेन (Hansen) के अनुसार उपर्युक्त अमेरिका की आयुवृद्धि भी रोगों के रोकने के द्वारा ही प्राप्त की गई है।

मृत्युसंख्या को देखें तो वहां भी अमेरिका ने 1911 से अब 1924 तक के बीच में मृत्यु संख्या को प्रति सहस्र 17 से 11·6 तक घटाया है, जब कि भारत में मृत्यु संख्या (जहाँ तक मुझे स्मरण है) लगभग 30 प्रति सहस्र है और उनमें भी बालकों की मृत्यु संख्या तो हृदयविदारक है। यह है लगभग 300 प्रतिसहस्र, फिर वही कहना पड़ता है कि जिस देश में इतने ईश्वरीय यज्ञों का प्रारम्भ में ही भग हो जाता है वहाँ असुरों की सदा जय है। वहां देव कैसे बसें, उनका उद्धार कैसे हो ?

इसलिए इस देश के प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन यज्ञ को अच्छी तरह चलाने में प्रवृत्त होना चाहिए। इसे ठीक तरह चलाने के नियम भी इसी उपनिषद् के वचन में आ गये हैं। वे संक्षेप से इस प्रकार हैं, जो कोई करेगा इन्हें विस्तार से भी जान लेगा। प्राण ही जीवन है, इसलिए प्राणों को ही लगातार 116 वर्ष तक ठीक रखना है, इसके लिए प्रत्येक सवन में भिन्न-भिन्न देवों को प्राण में लाना चाहिए। वसु, रुद्र, आदित्य में सब देव आ जाते हैं। इस यज्ञ की ये वसु आदि प्राणस्थ देवता रक्षा करते हैं और रोग आदि असुर उनमें विघ्न डालते हैं। उपनिषद् में कहे सकल्प के द्वारा और तदनुसार आचरण करते रहने से इन देवों की विजय होती रहती है और असुर विघ्न नहीं डाल सकते। एवं यह यज्ञ निर्विघ्न चलता हुआ पूर्ण होता है। प्रारम्भ के 24 वर्ष वृद्धि के हैं, इस समय में अपने में सब बातें बढ़ाई जाती हैं, इस लिए प्राणों में वसुओं का ध्यान करते हुए अपना भोजन, व्यायाम, व्यवहार, विचार आदि सब ऐसा ही करना चाहिए जिससे कि हमारे शरीर में वृद्धि होती जाए, सब आवश्यक वस्तुओं का इसमें वास हो जाय। फिर 25 से 68 वर्ष तक आयु जवानी की आयु है, आजकल हमारी जवानी बेशक 24 वर्ष में ही समाप्त हो जाती है। पर 'साठा सो पाठा" की कहावत के अनुसार पहिले लोग 60 वर्ष की उमर तक पहलवान हुआ करते थे और अब भी होने चाहियें। अस्तु। इस आयु में मनुष्य ने खूब कार्य करना है, प्रातः सवन में यदि युद्ध की तैयारी है तो इस समय में असल में युद्ध करना है, इसलिए इस समय में हमारे प्राण 'रुद्र' बनने चाहिये, इस समय का हमारा भोजन, व्यायाम, विचार, व्यवहार सब ऐसे होने चाहिए जो रुद्र गुणों के पोषक हैं तो रुद्र देव सब रोगादि असुरों को भगाते हुए यज्ञ को तृतीय सवन तक निर्विघ्न पहुंचाते हैं। फिर 69 से 116 वर्ष तक बुढ़ापे का समय है। इस समय प्राण आदित्य रूप होकर सब काम समेटने लगते हैं, इस समय में यद्यपि मनुष्य में तेज प्रकाश तो बढ़ जाता है, पार्थिवपन नहीं रहता, शरीर सूक्ष्म हो जाता है, इसलिए इस समय के आहार विचार आदि भी तदनुकूल होने चाहिए। इससे मनुष्य अपने परिपूर्ण जीवन वय को समाप्त कर परमात्मार्पण होता है।

इसमें भी पाठकों ने देखा कि मनुष्य जीवन के यज्ञ में भी हम भारतवासी सबसे पीछे हैं।

अन्त में भारत देश का यज्ञ द्वारा उद्धार करने में निम्न वेदमन्त्रों का विनियोग

करने की मेरी धृष्टता को क्षमा करते हुए आशा है पाठक मेरे साथ निम्न प्रार्थना में सम्मिलित होंगे ।

हे यज्ञभूमि । क्या अब तेरा फिर उद्धार होगा या नहीं ? यह हमारी यज्ञभूमि भारतभूमि

यस्यां सदो हविर्धाने यूपो यस्यां निमीयते ।
ब्रह्माणो यस्यामर्चन्त्यृग्भिः साम्ना यजुर्विदः ।
युज्यन्ते यस्यामृत्विजः सोममिन्द्राय पातवे ॥
यस्यां पूर्वे भूतकृत ऋषयो गा उदानृचुः ।
सप्त सत्रेण वेधसो यज्ञेन तपसा सह ॥

अथ०-12-1-38, 39

जिस भूमिपर सभा स्थान और हविस्थान होते थे, जहां यज्ञस्तम्भ गाड़ा जाता था, जहां कि ब्रह्मा और अध्वर्यु आदि लोग ऋचाओं और सामोंसे अर्चन करते थे, जहां इन्द्र को सोम पिलाने के लिये नित्य यज्ञशील लोग संगठित होते थे ' जहां कि भूत को बनाने वाले पूर्व ऋषि सत्र यज्ञों द्वारा सातों गौओं की पूजा करते थे और विधाता (ऋषिलोग) तपसहित यज्ञ से (देव) पूजन करते रहे ।

वह हमारी मातृभूमि अब भी फिर यज्ञभूमि बनेगी । इस के ये सैंकड़ों भेद-भाव और फूट कब कैसे दूर होगें ? यहां के लोगों को कौन परस्पर मिलायगा ?

को अस्या नो द्रुहोऽवद्यवत्या उन्नेष्यति क्षत्रियो वस्य इच्छन् ।
को यज्ञकामः क उ पूर्तिकामः को देवेषु वनुते दीर्घमायुः ॥1॥

अथ० 7-103-1

हमें इस पापमयी द्रोह की अवस्था से कौन उद्धार करेगा ? ऐसा कौन क्षत्रिय श्रेष्ठ धन की इच्छा करने वाला है ? यज्ञ की आज किसे फिकर है, फिर शुरू किये हुए भी यज्ञ को अवश्य पूरा करने की किसकी इच्छा है ? कौन आज देवों में दीर्घ आयु की याचना करता है ?

परन्तु कोई कहता है कि ऐसे निराश होने की बात नहीं है । यज्ञ का जगत् में सर्वथा नाश नहीं हो सकता, जब तक कि जगत् में 'क' देव, यज्ञप्रजापति का शासन है । यज्ञप्रजापति 'क' देव सदा सहायक होंगे यदि हम यज्ञ प्राप्ति के लिये अपना यथाशक्ति यत्न करते रहेंगे । वेही यज्ञ प्रजापति हमारे लिये श्रेष्ठ धनों की इच्छा करने वाले और हमें क्षतों से त्राण करने वाले हैं । वे हमें हमारी इस पापमयी द्रोह अवस्था से उठायेंगे । उन्हें यज्ञों की इच्छा है और सब प्रारंभ हुए यज्ञों की पूर्ति की इच्छा है । वे ही 'क' देव हमारी देवों में दीर्घ आयु चाहते हैं ।

इसलिये आओ, हम ऐसे बनें कि हमारे देश में यज्ञ प्रजापति की जय हो ।

सूत्र-यज्ञ

यह लेख कार्तिक 1989 के 'आर्य' में 'श्री आचार्य देवशर्मा जी का गुरुकुल के ब्रह्मचारियों को एक उपदेश' टिप्पणी के साथ प्रकाशित हुआ था।

आचार्य रामदेव जी बिदा होते समय हम सबको स्वयं बर्तन माँजने के साथ साथ प्रतिदिन कातने का यज्ञ करने के लिए भी कह गये थे। जैसा कि उन्होंने ब्रह्मचारियों के नाम अपने पत्र में कहा है, वे जेल में अग्निहोत्र के साथ-साथ चरखा चलाने का यज्ञ भी करने लगे हैं। यह सूत कातना आजकल एक पवित्र यज्ञ क्यों हो गया है ?

ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णन आते हैं कि अमुक ऋषि को अमुक आपत्ति हटाने के लिए अमुक 'इष्टि' या 'यज्ञ' या 'सत्र' का दर्शन हुआ। वास्तव में सदैव ही संसार में महापुरुष उस समय सब जनता का कल्याण साधने वाले किसी उपाय (अर्थात् 'यज्ञ' व 'इष्टि') का दर्शन पाकर उस द्वारा जगत् की सेवा करते रहे हैं। यह दिव्य ज्ञान पा चुकने के बाद कि इस देहादिक का प्रयोजन इसे जगत् सेवा में लगा देना ही है, महात्मा गांधी जब अपना महान् त्याग और तपस्या करते हुए यह खोजने लगे कि जगत् की सेवा कैसे की जाय तो उन्हें इस कातने के यज्ञ का दर्शन हुआ। वे महात्मा सूर्यवत् साक्षात् देखते हैं कि इस समय भारत की घोर दरिद्रता और पराधीनता का सब सवाल चर्खे के पुनः प्रचार द्वारा ही सुलझ सकता है और जाति का भला हो सकता है, इसलिये वे दरिद्र नारायण के रूप में उस परम प्रभु का यजन प्रतिदिन सूत कातने द्वारा करते हैं और इसको बिना किये वे चैन नहीं पा सकते हैं। जबकि गांधी जी ब्लड-प्रेशर (Blood Pressure) के रोग में दूसरी बार आक्रान्त हुए थे, तब मैं भी साबरमती आश्रम में ठहरा हुआ था। मध्याह्न के बाद चरखा कातते हुए वे आश्रम की जन्मोत्सव-सभा में बैठे हुए थे कि अचानक उन्हें मूर्च्छा आ गई। एकदम दौड़ धूप मच गई, थोड़ी देर के लिए सब काम बन्द हो गया। होश आते ही सबसे पहिली बात जो उन्होंने की वह यह पूछना था "मेरा आज का सूत कातना कितना रह गया है ?" लोगों की दृष्टि में तो उनका दूसरा जन्म हुआ था, किन्तु उन्हें अपने में साँस चलता देखकर, अपने को देह धारण किये हुए देखकर केवल इसी की फिक्र थी कि कहीं मेरा सूत कातने का यज्ञ तो अधूरा नहीं रह गया। इससे हमें पता लगेगा कि चर्खा-यज्ञ कैसा उनके प्राण के साथ जुड़ गया है। यह क्यों न हो जबकि चर्खा कातना ही उन्हें इस समय परमेश्वर से मिलने वाली वस्तु मिली है।

इसीलिये एक बार गाँधीजी ने कहा था कि प्रार्थना के समय में भी मेरा मन कभी-कभी एकाग्र नहीं रहता पर चर्खा कातते समय तो मन स्वयमेव एकाग्र हो जाता है, क्योंकि जिसके द्वारा उन्होंने दरिद्र नारायण को इष्ट करना है, चर्खा कातते समय वे उसी से सीधे सम्पर्क में आये होते हैं. चर्खा कातते समय देश की दुःखी से दुःखी आत्माओं के साथ अपनी एकता का अनुभव करते हैं। किसी भी महात्मा का महात्मापन इसी में होता है कि वह संसार के अधिक से अधिक आत्माओं से अपने आप को मिला देता है। गांधी जी की आत्मा तड़फती हुई जब करोड़ों दुःखी आत्माओं से एकता करना चाहती है तो वह चिल्लाती है कि भारत में घर-घर चर्खा चलने लगे और इसके लिए वह कम से कम अपने देह से चर्खा कातने लगती है। इसी तरह यज्ञ का विस्तार होता है। यह तो अब एक निर्धारित सत्य हो चुका है कि भारत की दरिद्रता दूर करने का एकदम उपाय चर्खा-प्रचार के सिवाय और कुछ नहीं है। भारत की स्वाधीनता पाने के निमित्त विदेशी वस्त्र बहिष्कार के लिए भी यह परमावश्यक है। यह बातें आप गुरुकुलवासी बहुत जानते हैं। आचार्य कृपलानी जैसे कट्टर तर्कवादी के मुख से दावे के साथ यह सुन चुके और जान चुके हैं कि इस समय खद्दर के सिवाय और कोई हमारे उद्धार का उपाय नही है। यह यज्ञ इतना विस्तृत हो चुका है कि गाँधी जी ही नहीं किन्तु आचार्य प्रफुल्ल राय जैसे बीसियों अनुभवी, भारत की उच्च आत्मायें अपना सर्वस्व त्याग कर चर्खा-प्रचार में लगी हुई हैं। तब फिर हम क्यों देरी करें ? हम क्यों न इस यज्ञ को विस्तृत करें, इसे पूर्ण करावें ? हम क्यों इसमें सम्मिलित न होकर इस यज्ञ विस्तार में बाधक बनें ? इसलिये हमें भी कम से कम प्रतिदिन आध घण्टा या पचास गज सूत 'यज्ञार्थ' रूप से कातना चाहिये।

आप में से कई पूछा करते हैं कि "हम खद्दर तो पहिनते हैं, हम कातें क्यों ?" इसी के उत्तर में मैं कह रहा हूँ कि यज्ञार्थ कातना तो हमको भी करना चाहिये और हमको विशेषतः करना चाहिये। तीन तरह के कातने वालों के विभाग किये जा सकते हैं। एक तो वे करोड़ों अत्यन्त गरीब स्त्री और पुरुष हैं जो कि रोजी के लिये कातते हैं या जिन्हें कातना चाहिये। वे कताई के पैसे के लिए कातेंगे। दूसरे वे मध्यम श्रेणी के लोग हैं जो कि अपने कपड़े के लिए सूत कातेंगे, बेचने के लिये नहीं, जैसे हमारे घरों की मातायें। उनकी कताई भी घर की आमदनी-वृद्धि में जरा सा सहारा लगाती है। पर तीसरा 'यज्ञार्थ' कातना वह है जो कि दृष्टान्त-स्थापन के लिए है। उससे अपनी आमदनी नहीं करनी है, किन्तु इसलिए कातना है कि कताई का काम प्रतिष्ठित समझा जावे। आप जैसे विद्वान् पण्डित, प्रतिष्ठित, मानी पुरुष यदि कातेंगे तो इससे इस कार्य की प्रतिष्ठा होगी, प्रचार होगा। 'यद्यदाचरति श्रेष्ठः तत्तदेवेतरो जनः। स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।' हम ब्राह्मणों का काम प्रचार करना है, पर प्रचार केवल बोलने से नहीं होता है, करने से होता है। आप हजार बार कहिए कि चर्खा कातो तो उतना असर न होगा जितना कि आपको चर्खा कातते देखकर होगा। आम लोग समझते हैं कि जब पण्डित जी कातते हैं तो

जरूर इसमें कुछ बड़ी बात होगी। तभी उनमें विश्वास होता है; अतः आप प्रचार के लिये कातिये, अन्य गरीबों को कतवाने के लिये कातिये, उनका आलस्य और अश्रद्धा दूर करने के लिए कातिये। यही यज्ञार्थ कातना है; हमसे इसी प्रकार के कातने की आशा की जाती है। इसमें मानसिक तौर पर गरीबों से एकता का पवित्र उच्च ध्यान और जोड़ दीजिये तो यह पूरा यज्ञ-कार्य हो जाय। तो क्या आप यह ब्राह्मण का कार्य भी न करेंगे? यज्ञ कराना तो ब्राह्मण का ही कार्य है; यज्ञ करना तो क्षत्रिय, वैश्य भी करते हैं। अतः जरा अनुभव कीजिए, हम लोग ही यदि नहीं कातेंगे तो कितनी बाधा पहुँचावेंगे? अतः हमें यह यज्ञ-कार्य बिना भंग किये नित्य कर्म की तरह करना चाहिये, इसे न करने के पाप का भागी नहीं होना चाहिये।

इसे न करने के पाप को हम तब अनुभव करें यदि हम यह जान लेवें कि कातने का यज्ञ चलाने के लिए ही महात्मा जी के अनुयायी होकर हजारों भाई जेलखाने जाने, पिटने और मरने तक के कष्ट को उठा रहे हैं। इस गान्धीअर्विन सन्धि के समय भी इन्होंने ही महात्माजी ने अपना यह कथन फिर दोहराया था कि देश के सब लोग खादी के अर्थ समझकर खादी पहिनने लगें तो सबका इतना त्याग ही पर्याप्त है; फिर हमें स्वराज्य पाने के लिए कुछ भी अधिक त्याग-बलिदान करने की जरूरत न हो परन्तु चूंकि सामान्य भारतवासी इतना भी नहीं सुनते, इतना जरा सा त्याग करने के लिये उद्यत नहीं होते इसीलिये हम थोड़े लोगों को बड़े-बड़े बलिदान करने होते हैं, पिटने, कैद होने, सब सम्पत्ति स्वाहा करने और मरने के बलिदान करने पड़ रहे हैं। तो ये बलिदान होने वाले हमारे धर्मवीर भाई जिस बात को समझाने के लिये आत्मबलि चढ़ा रहे हैं क्या हम वह बात भी न समझेंगे, न सुनेंगे? इसलिए हमें तो अब तो अवश्य ही नित्य 'यज्ञार्थ' कातने वाला बनकर देश को खद्दर पहिनने और पहिनाने में धार्मिक सहायता पहुंचानी चाहिए, जबकि हम देख रहे हैं कि हमारे यज्ञार्थ कार्य न करने के कारण ही देशवासियों को भारी-भारी बलिदान देने पड़ रहे हैं।

पर असल में हममें नियत्रंण की बड़ी भारी कमी है। एक बार आचार्य कृपलानी जी ने कितना सच कहा था कि "लायड जार्ज जैसे अधार्मिक, कुटिल और खराब नेता के पीछे चलकर अङ्गरेज लोगों ने जर्मनी जैसे दुर्जय शत्रु पर विजय प्राप्त कर ली। किन्तु हम करोड़ों भारतवासी गांधी जैसे दिव्य महापुरुष को अपना नेता पाकर भी विजयी नहीं हो सके हैं।" इसका कारण है कि हममें नियत्रंण नहीं है। हम मिलकर काम करना नहीं जानते, अपने कानून को स्वयं पालना नहीं जानते। हमारी राष्ट्र सभा को करीब बारह वर्ष हो रहे हैं जब से कि वह खद्दर पहनने और चर्खा कातने पर जोर देती आई है पर हम लोगों ने अभी तक इसे नहीं सुना है। नियत्रंण (**Discipline**) मानने की हममें आदत ही नहीं है। हर कोई अपना सिर उठाकर अपनी इच्छा से जिधर कहीं चलना चाहता है। व्यर्थ तर्क वाद करके 'हमें श्रद्धा नहीं' आदि कहकर अपने आप को धोखा देना हम खूब जानते हैं। नहीं तो,

हमें खद्दर पहिनने व कातने के लिए और किसी युक्ति की जरूरत नहीं होनी चाहिए। बस इतना काफी है कि यह हमारी राष्ट्र सभा की आज्ञा है। यह हमारे नेता गांधी की आज्ञा है। ऐसा नहीं है तभी हम गाँधी जैसे दुर्लभ महापुरुष को पाकर भी यों ही पड़े हुए हैं। चाहिए तो यह था कि राष्ट्र-सभा का प्रस्ताव होते ही हम भारतवासियों के साठ करोड़ हाथ सूत निकालने में लग पड़ते और अधिक से अधिक छह महीने में सारे भारतीय तनों को सुन्दर, सस्ते, मजबूत और बढ़िया खद्दर से ढक देते। "सहस्र शीर्षा पुरुषः सहस्र पात्"—वेद के इस मन्त्र में जिस सामुदायिक पुरुष का ('राष्ट्र पुरुष का' समझिये) वर्णन है, वैसा पुरुष अभी हमारा राष्ट्र नहीं बना है। यही बड़ी भारी कसर है। आओ ! हम गुरुकुलवासी तीन सौ पुरुष तो अपने छह सौ बाहुओं से नित्य नियमित रूप से सूत्र-यज्ञ करने लगें, राष्ट्राज्ञा को शिरोधार्य कर इतना स्वल्प सा त्याग तो हम करने लगें !

अपनी तकली पर जरा सा, सौ पचास गज कात लेने से बहुत बार मन में आया करता है कि हम यह क्यों फिजूल सा काम कर रहे हैं ? यह अच्छी तरह न समझने के कारण होता है। तब अपने आप को समझाना चाहिए, पहिले दिल में इस के महत्व को बिठा देना चाहिए। गांधी जी ने करीब दस साल पहिले जब पहिला सन्देश गुरुकुल के ब्रह्मचारियों को भेजा था उसके शब्द लगभग मुझे याद रहते हैं। उसमें उन्होंने "क्या तुम प्रतिदिन सूत कात कर गरीबों से अपनी आत्मा को मिलाते हो ? क्या तुम दरिद्रों को रोटी देने वाले सूत कातने के यज्ञ को सच्ची भावना से करते हो ?" ऐसे एक दो प्रश्न करके नीचे यह गीता का श्लोक लिख दिया था—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥

"इस यज्ञ को थोड़ा बहुत जितना कितना किया जाए उतना ही लाभ है, इस में किसी विघात का डर नहीं। इस यज्ञ धर्म का थोड़ा सा भी पालन महा-भय से रक्षा करता है।" ऊपर बड़े विस्तार से कहा ही है कि इस थोड़े से कार्य का इतना व्यापक महान् प्रभाव है। यह छोटा सा काम हमारे कितने भारी संकट को हटाने वाला है; यह सङ्कट-मोचन अभीष्ट रूप में नहीं होता है, इसका कारण यही है कि हम सब इसे नहीं करने लगे हैं। बिना पेट भर भोजन खाये भूख कैसे मिटे ? अपना कातना थोड़ा लगता है तो बहुत कातिए। हमें तो कातना इसीलिए पड़ता है कि ये सब मातायें और जिन्हें इसकी जरूरत है तथा जिनके पास समय है वे कातते नहीं हैं। थोड़ा-थोड़ा सब कातें तो लाखों मन सूत तैयार हो सकता है। घण्टे में तीन सौ गज और एक मास में नौ हजार गज सूत काता या 3 1/3 गज कपड़ा बनाया जा सकता है। विदेशी वस्त्र बहिष्कार-समिति द्वारा प्रकाशित गणना है कि यदि विशेष गिनती के लोग ही कुछ समय प्रतिदिन कातें तो उससे सारे भारत के पहिनने के कपड़े बन जायँ। कार्डों के तीन-तीन पैसे लेकर सरकार लाखों रुपये डाक के महकमे की तनख्वाहों के लिए जमा करती है। एक-एक बूंद पानी पड़-पड़ के सारी भूमि को

सींचता है और बहुत जगह बाढ़ें ला देता है। तो आप यज्ञार्थ काते गज भर सूत को भी थोड़ा क्यों समझते हैं ? आज से 150 साल पहिले भारतीय स्त्रियों का गज-गज करके काता हुआ सूत ही न केवल भारत को कपड़े पहिनाता था बल्कि इंगलैंड-वासियों के शरीरों को भी ढकता था और सुशोभित करता था। इसीलिए यज्ञ की विशाल भावना के साथ कातोगे तो ऐसे अशुद्ध विचारों के वशीभूत होकर तुम ऊबोगे नहीं।

इसलिए राष्ट्राज्ञा हमें शिरोधार्य करनी चाहिए, गाँधी जी द्वारा प्रवर्तित यज्ञचक्र को चलाने में हाथ बटाना चाहिए। यह हमारा धर्म है कि इनमें से किसी तरह समझ कर हमें कातना चाहिए। इसमें कुछ भी विचारने की बात नहीं रही है जो कुछ है वह करने की बात है। यह कार्य इतना जरूरी और अनिवार्य होते हुए भी जो अभी तक अच्छी तरह प्रचलित और दृढ़मूल नहीं हुआ है इसका कारण एक ही है, वह है आलस्य केवल आलस्य। इसकी सत्यता समझना इतनी बड़ी बात नहीं है, कठिन तो करना है। ऐसे बहुत से हैं जो इसकी सत्यता अनुभव करते हैं। पर वे स्वयं कभी 'यज्ञार्थ' कातते तक नहीं हैं। अग्निहोत्र को ही कितने आर्यसमाजी करते हैं ? असली बात यह है कि हममें आलस्य है, हममें संकल्प की कमी है, मन की दुर्बलता है इसीलिए मुझे तो आपसे आलस्य और संकल्प-हीनता को दूर करने को कहना है। जरा अनुभव कीजिए कि हमारे आलस्य से कितनी हानि हो रही है, एक प्रवर्तित यज्ञ-चक्र आलस्य-वश चल नहीं रहा है। कई लोग समय की कमी का बहाना करते हैं, पर हम कितना समय व्यर्थ खोते हैं यह हम जानते हैं। आचार्य जी जब अफ्रीका गये हुए थे तब डेढ़ साल तक आचार्य का लगभग सारा काम करते हुए भी मैं तीन घण्टे रोज तक कातता रहा हूं क्योंकि बातचीत का काम तो कातते हुए भी बड़ी अच्छी तरह हो सकता है। बातें करते हुए यदि हम कातते जायें, कुछ पवित्र-सेवा करते जायें तो इसमें क्या हानि है ? पर असली बात तो आलस्य की है। एक समय कई उपाध्याय तथा गुरुकुल महाविद्यालय के आधे से अधिक विद्यार्थी नियम से कातते थे। यह सब काम आलस्य-वश छूट गया। इसे फिर जोड़िये। यदि आलस्य छोड़ देंगे और संकल्प के साथ, भावना के साथ इस पवित्र यज्ञ कार्य को नित्य करेंगे तो इससे परमेश्वर की दया से हमारी आत्मिक उन्नति होगी और देश का भी कल्याण होगा।

योग मार्ग से अरुचि या भय के कारण

यह लेख 'वैदिक धर्म' के वर्ष 8 अंक 12, वर्ष 9 अंक 1 एवं 2 (दिसम्बर 1927, जनवरी एवं फरवरी 1928) में अर्थात् तीन किश्तों में छपा था। प्रथम किश्त पर लेखक के रूप में आचार्य जी का नाम पं० अभयदेव शर्मा जी, दूसरी पर श्री देव शर्मा जी विद्यालंकार और तीसरी पर श्री पं० अभयदेव शर्मा जी विद्यालंकार छपा है। लेख में अलग अलग शीर्षकों के साथ पाँच परिच्छेद हैं। यहाँ शीर्षक और परिच्छेद संख्या हटा दी गई है।

—सम्पादक

देवतास्वरूप भाई परमानन्दजी पूरे जोर के साथ तथा अपनी स्वाभाविक सरलता के साथ कई व्याख्यानों में कहा करते हैं कि "योगियों से हमें क्या मतलब? योगी हमारे किस काम के? हिमालय पर जैसे और बहुत से दरख्त खड़े हैं, हमारे लिए योगी भी वैसे ही हैं।" इसी प्रकार लेलक को एकवार मुलतान आर्य समाज में एक मान्य आर्योपदेशक का व्याख्यान सुनने का सुयोग हुआ था जिसमें उन्होंने यह आशय प्रकट किया था कि आजकल जो कई लोग आर्यसमाज या प्रचार का कार्य छोड़कर योग करने बैठ जाते हैं, यह वास्तविक वैदिक धर्म नहीं है। इन दो उदाहरणों में पाठक वह बात देख सकते हैं जो कि आजकलके हम नौजवानों की योगमार्ग से अरुचि (बलिक घृणा) या भय का प्रथम कारण है। स्पष्ट शब्दों में कहें तो आजकल के हम नव शिक्षित लोगों का यह विचार है—'परोपकार करना मनुष्य का कर्त्तव्य है, समाज व देश की सेवा के लिए हम सब को कर्म करने चाहिए। पर योगाभ्यासी लोग स्वार्थ में रत हो अपनी ही उन्नति करने में लग जाते हैं और कर्म छोड़ बैठते हैं। उनकी इस उपकार कार्य से उदासीनता के कारण देश को लाभ नहीं होता, यही नहीं किन्तु बड़ी हानि होती है।' सारांश यह कि परोपकार और कर्मण्यता जैसे अत्यावश्यक गुणों से मनुष्य योग मार्ग में जाकर वंचित हो जाता है, यह देखकर हम लोग कमसे कम ऐसे योग को नापसंद करने लगे हैं।

इसमें बहुत कुछ सचाई है। हमारे देश में इस समय उपर्युक्त दोनों गुणों की सख्त आवश्यकता है। यह सब जानते हैं कि हम में 52 लाख लोग साधु ही बने (जिन में से शायद बहुत थोड़े इस पवित्र और उच्च नाम से कहलाने योग्य हैं) हुए

हैं जो कि (कुछ सच्चे साधुओं को छोड़कर) वास्तव में स्वार्थमय और अकर्मण्य जीवन ही बिता रहे हैं और इस तरह अपने को तथा औरों को हानि पहुंचा रहे हैं। ईश्वर करे कि सच्चे साधुओं का ध्यान (अभी कुछ खिचा है पर और अधिक) आकर्षित हो और उनके यत्न से भारत में फिर एक सच्चे साधुओं का प्रबल शक्तिशाली साधुसंघ स्थापित हो जो कि असल में सब जगत का भला कर सके। यह होगा धीरे-धीरे ही, पर यहां इस प्रसंग में शायद एक बात की तरफ उन महानुभावों का ध्यान खींचना ठीक होगा। आजकल के ये साधु लोग 'रजोगुण' से बहुत डरते हैं। लेखक को बहुत बार ऐसे 'साधुओं' से (जो कि वैसे बड़े सज्जन थे) मिलने का अवसर मिलता रहा है जिन्होंने कि देशोन्नति तथा देश भक्तों के कार्यों की चर्चा छिड़ने पर बड़ी गंभीरता और संतोष के साथ कहा 'गांधी जी (या अन्य देशभक्त) में रजोगुण प्रवृत्त हो रहा है। अतएव वे ये सब हलचल करते फिरते हैं। रजोगुण की बीमारी ही लोगों को सताती है।' इत्यादि। पहली ही बार जब लेखक ने ऐसी बात सुनी थी तब वह भी कुछ देर के लिये प्रभावित हुआ था और अन्तर्मुख हो सोचने लगा था। पर पीछे से वह समझ गया कि इसमें बहुत सा भ्रम है। सचमुच हमारे बहुत से साधु इस बड़े भारी भ्रम में हैं कि वे रजोगुण से ऊपर हो गये हैं, जब कि असल में वे तमोगुण (जो कि रजोगुण से भी हीन) के वशीभूत पड़े हैं। ऐसे साधु बहुत ही विरले हैं जो कि सत्वगुण के उत्कर्ष के कारण अचंचल या शान्त हैं। जो ऐसे हैं उनकी तो चरणरज हम सब को मस्तक पर लगानी चाहिये। नहीं तो, दुःख से कहना पड़ता है कि अधिकतर 'साधु' तमोगुण की बीमारी में ग्रस्त हैं जिसका कि कुछ जोरदार इलाज होना चाहिये। साधुजागृति के लिये यह आवश्यक है।

पर शायद योगसाधन साधुओं का कार्य समझे जाने के कारण इस 'अपरोपकारशीलता' का तथा 'अकर्मण्यता' का भी सम्बन्ध योगमार्ग से जुड़ गया है और इसलिये बहुत से आजकल के नवशिक्षित युवक भाई सचमुच योग से डरते हैं, उतना ही डरते हैं जितना कि साधु रजोगुण से डरते हैं। योग को अकर्मण्यता से जोड़ने में बहुत सा भाग अभी तक साधुओं में बहुत प्रचलित योग सम्बन्धी साहित्य ने (जो कि योग के पुराने मूल ग्रन्थों को कुछ अशुद्ध समझने तथा अधूरे वेदान्त के प्रचार से बना है) भी किया है। पर वास्तव में यह दावे के साथ कहा जा सकता है कि योगी जितना भारी परोपकार तथा सच्चा कर्म कर सकता है और करता है उतना अयोगी कभी नहीं कर सकता। आशा है कि यदि पाठक निम्नलिखित कथन से सहमत हो सकेंगे तो वे इस अनुचित बड़े भय से मुक्त हो जायेंगे।

स्पष्टता के लिये हम 'परोपकार' और 'कर्मण्यता' इन दोनों पर पृथक् पृथक् विचार करेंगे। पहले परोपकार को लेते हैं।

वैसे तो अपनी उन्नति (स्वोपकार) और परोपकार का अर्थात् व्यक्तिवाद और समाजवाद (Individualism और Socialism) का झगड़ा शुरू से शायद

अनादि काल से चला आता है। पर अन्त में सभी ज्ञानी लोगों का यही मत है कि इन दोनों की समता में ही सत्य है। अर्थात् यदि हम ठीक मार्ग से चलें तो आत्मोपकार और परोपकार में विरोध, भेद नहीं रहता, आत्मोपकार भी परोपकार हो जाता है या परोपकार भी आत्मोपकार हो जाता है। पर वह ठीक मार्ग कौनसा है? यह योगमार्ग है, अपनी शक्तियों को स्वाभाविकतया विकास करने का मार्ग है।

पहले आत्मोपकार की दृष्टि से देखें तो हमें पता लगेगा कि जिसने अपनी उन्नति नहीं की, वह परोपकार क्या करेगा? जिसने योग द्वारा अपने को समर्थ बनाया है, कुछ प्राप्त किया है वही दूसरों को कुछ दे सकता है। क्या यह सच नहीं है कि आजकल 'परोपकार' की हवा चली है अतः सब लोग परोपकार करने निकल पड़े हैं, जब कि असल में 'परोपकार' नामक क्रिया द्वारा वे अपना ही कुछ स्वार्थ साध रहे हैं। हमारी इन क्रियाओं का प्रेरक कारण क्या होता है? यदि यह हम अपने अन्दर घुस कर देखें तो शायद हमारी आंखें खुल जायें। हम परोपकार करते हैं, यह भ्रम हट जाय। तब शायद हमें दीखे कि यह प्रेरक कारण यदि पैसा कमाने की इच्छा या इन्द्रियों की प्यास बुझाने के अवसर पाने की इच्छा आदि हीन कारण नहीं हैं तो अधिक से अधिक 'यश की इच्छा', 'लोकैषणा' या केवल 'रजोगुण से पीड़ित होना' इन के मूल हैं? तो क्या ये कार्य 'परोपकार' शब्द से कहलाने योग्य हैं? अत. परोपकार करने के लिए पहले आत्मोन्नति करनी चाहिये, योगसाधन द्वारा आत्मविकास करना चाहिये। जब मनुष्य स्वयं तृप्त हो जाता है, स्वयं इतना उन्नत हो जाता है कि अपनी कुछ इच्छा, तृष्णा नहीं रहती तभी वह सच्चा परोपकार कर सकता है।

फिर परोपकार की दृष्टि से देखें तो भी पता लगेगा कि योगसाधन (सब वैयक्तिक विकास) असल में परोपकार के लिये ही है। पातंजल योगदर्शन में स्पष्टतया परोपकार का नाम न आने से हमें भ्रम में नहीं पड़ना चाहिये। ग्रंथ जिस समय जिन परिस्थितियों में लिखे जाते हैं, उन्हीं के अनुसार उनमें शब्द प्रयुक्त होते हैं। अतः योगदर्शन के कई स्थलों को जब हम आजकल की भाषा में पढ़ेंगे तो हमें वहां परोपकार लिखा दीखेगा। इन स्थलों के एक दो उदाहरण तो पाठक अभी इस लेख में देख सकेंगे जहां कि करुणा भावना का उल्लेख एवं योगशास्त्र के 'ईश्वर' के कार्य तथा सिद्धों के कार्य का उल्लेख आवेगा। परन्तु असल में योग की नींव में जो पांच यम हैं वे सब (आधुनिक भाषा में कहें तो) परोपकार पर ही आश्रित हैं और उनमें पहला यम अर्थात् अहिंसा (जिसे कि व्यास जी ने भाष्य में सब यमों का एक यम कहा है) को यदि हम विधेयात्मक (Positive) रूप में लाकर देखें तो यह परोपकार ही है। एवं योग का आधार ही परोपकार पर है। इसीलिये आजकल जो लोग स्वानुभव से योग पर लिखेंगे, वे इसका स्पष्ट उल्लेख करेंगे। उदाहरण के लिये

आधुनिक प्रसिद्ध योगी श्री अरविन्द को पेश किया जा सकता है। उन्होंने अपनी 'योग का उद्देश्य' (Object of yoga) नामक पुस्तिका में पहला ही वाक्य यह लिखा है कि योग अपने लिए नहीं है, योग सब संसार के लिये होता है। सच्चे योगियों के जीवन भी (यदि हम उन्हें ध्यान से देखें) हमें यही बताते हैं। यद्यपि आपको आजकल कई सच्चे योगाभ्यासी महात्मा ऐसे मिलेंगे जो कि सिद्धान्ततः यह नहीं मानते दीखते कि योगी को परोपकार करना चाहिये, परन्तु यदि उनका जीवन देखेंगे तो पता लगेगा कि वे करुणा से भरे हुए हैं और वे सदा दूसरों के कल्याण में ही रत हैं। हां, वे बेशक व्याख्यान नहीं देते या लेख नहीं लिखते। पर जब हम अपने अन्तःस्थ करुणासागर में कुछ गहरे प्रविष्ट हो जायेंगे तो शायद हमें पता लगेगा कि परोपकार के साधन सैकड़ों हैं जो कि एक से एक महान हैं और जिनमें से ये दो साधन व्याख्यान और लेख अतिसाधारण बल्कि तुच्छ हैं। हमारे कई जोशीले राजनैतिक भाई कहा करते हैं कि श्री अरविन्द जो कि बड़ा देश का काम कर सकते थे, भला पांडीचेरी में बैठे क्या उपकार कर रहे हैं ? पर लेखक की नम्र सम्मति में वे एक महान् योगी की तरह जो ससार का अदृश्य किन्तु बड़ा उपकार अभी कर रहे हैं तथा भविष्य में जो उन द्वारा इससे भी बहुत बड़े कल्याण होने की सम्भावना है (जिनका कुछ निर्देश आगे आवेगा) उसे छोड़ भी दें तो भी जो उन्होंने अभी तक थोड़ी सी साहित्य सेवा की है 'आर्य' पत्रिका में लिखे उनके लेख तथा अन्य अमूल्य पुस्तकें—वही पर्याप्त बड़ा उपकार है जिसका कि हम अभी पूरी तरह अन्दाजा नहीं लगा सकते। अस्तु। श्री अरविन्द तो योग को संसार के लिये मानते ही हैं पर जो योगी ऐसा नहीं मानते दीखते, उनके जीवन में भी परोपकार का स्वयं आना इस बात का चिन्ह है कि योगमार्ग में परोपकार स्वाभाविक और अवश्यंभावी है। योग शास्त्र के सिद्धान्तों से भी यह सिद्ध है क्यों कि योगसाधन करने से अहंकार या अपनापन नष्ट होने लगता है, योग की परिभाषा में कहें तो उसका 'अस्मिता' नामक क्लेश का तनुकरण होने लगता है (यदि किसी अभ्यासी का स्वार्थ या अपनापन कम नहीं होता दीखता तो उसे समझना चाहिए वह योगमार्ग पर ठीक नहीं चल रहा) जितना जितना उस का यह 'अपनापन' नष्ट होता जाता है उतना-उतना उसके लिए यह असंभव होता जाता है कि वह अपने लिए कुछ करे। तब वह जो कुछ करता है, वह परोपकार ही करता है। एवं अभ्यासी में चित्तप्रसादन के साथ करुणाभाव का बढ़ना भी आवश्यक है (देखो योगसूत्र 1-33) यह करुणाभाव भी अन्ततः परोपकार में ही चरितार्थ होता है। अतएव यह देखा जाता है कि सच्चे योगाभ्यासी बड़े कारुणिक और परोपकारी होते हैं। पर यदि हम इन योगशास्त्र की बातें तथा योगियों के जीवनों को भी जाने दें और केवल थोड़ा सा अपनी बुद्धि से विचार कर के ही देखें तो भी हम इसी परिणाम कर पहुंचेंगे। यदि हम यह कल्पना कर सकें कि जिसने अपनी सब उन्नति कर ली है, प्राप्तव्य पा लिया है, जो आप्तकाम है अतएव जिसे अपनी कुछ इच्छा नहीं रही है (यद्यपि यह

बड़ी ऊंची अवस्था है जिसकी कि असल में हम पूरी तरह कल्पना भी नहीं कर सकते हैं, तो भी इतना समझ सकते हैं कि) वह उस समय सिवाय परोपकार के सिवाय खालिस परोपकार के और क्या करेगा ? और योग द्वारा विकसित अपनी इन शारीरिक, प्राणिक, मानसिक, बौद्धिक तथा ईक्षण (Will) शक्ति से (जो कि विकसित हो जाने पर एक से एक बढ़ कर आश्चर्यकारी शक्तियां हैं) वह जो कार्य करेगा वह कितना विस्तृत और कितना प्रभावशली होगा ! हमें यह भी पता होना चाहिये कि उस स्थान पर पहुंचा योगी इतना परोपकारमय हो जाता है कि वह अपने वैयक्तिक मोक्ष की इच्छा भी छोड़ देता है । (यह पाठकों को उलटा सा मालूम होगा पर यह सत्य है कि अपनी मोक्ष प्राप्तियोग्य उन्नति कर लेने पर आगे जब तक योगी को मोक्ष की इच्छा रहती है तब तक उसे मोक्ष नहीं प्राप्त होता । मोक्ष तो तब मिलता है जब कि अन्य सब इच्छाओं की तरह मोक्ष की इच्छा भी छूट जाती है) । तब उस के लिये 'त्रिषु लोकेषु किंचन, नानवाप्तमवाप्तव्यं' होता है । वहां पहुँचे हुए उस परोपकारी के परोपकार की कल्पना करनी चाहिये । ऐसे थे महायोगी श्री कृष्ण जी । अतः यह केवल कल्पना नहीं है । ऐसे और भी बहुत से पुराने इतिहासों में सुने जाते हैं । (और शायद अब भी कहीं ऐसे सिद्ध हैं और शायद सदा रहते हैं) । इन्हीं सिद्धों का उदाहरण देकर योगदर्शन में व्यास जी ने लिखा है 'जिन्हें अपना कुछ भी नहीं सिद्ध करना है, जो कि मुक्त हैं वे भी कारुणिक होकर केवल परोपकार के लिये ही—संसार के लिये ही—देह धरते हैं ।' ऐसा देखा जाता है, जैसे कि आदि विद्वान् कपिल सिद्ध मुनि ने 'निर्माण कार्य' लेकर (अर्थात् आत्म शक्ति से अपना शरीर बनाकर) आसुरि को (अद्भुत सांख्य) तंत्र का उपदेश दिया जो कि तंत्र फिर साठ बड़े-बड़े तंत्र (शास्त्र) होकर सब संसार में फैला । अस्तु, तात्पर्य यह है कि सब तरह से हमें यही अङ्गीकार करना होगा कि योग का अन्तिम फल परोपकार–शुद्ध और शक्तिशाली परोपकार ही है ।

यह सच है कि योग का अभ्यासी (साधक) अपना सब यत्न, अपनी सब शक्ति अपने पर ही संयोजित करता है तथा अपना सब ध्यान अपने विकास में ही खर्च करता है । पर असल में वह यह सब अपने को केवल केन्द्र बनाकर सब संसार के लिए करता है । परमात्मा ने मनुष्य का व्यक्तित्व (अहंकार तत्त्व) इसीलिए दिया है कि वह अपने को केन्द्र बनाकर सहजता से काम कर सके । जो पुरुष स्वयं जुदा है अर्थात् जिसने सब संसार से तथा संसार की परम आत्मा से अपना संबन्ध जुड़ा नहीं देखा उसके लिये योगमार्ग नहीं है । योग की प्रारंभिक सीढियाँ (यम और नियम) ही अभ्यासी को संसार के सब मनुष्यों से तथा परमात्मा से ठीक संबन्ध में जोड़ देते हैं । आगे वह योग के अग्रिम अंगों में ज्यों ज्यों बढ़ता है, त्यों त्यों उसका यह संबन्ध दृढ़ होता जाता है और अन्त में जब वह सिद्ध योगी होने लगता है तब वह सचमुच अपने आपको सब संसार में फैली हुई या सब संसार से जुड़ी हुई एक

शक्ति अनुभव करता है जिसका कि केन्द्र वह अपने व्यक्तित्व में देखता है। वहां उसे 'सब भूत आत्मा में तथा सब भूतों में आत्मा' दीखती है। पर इस सब जगत् से सबद्ध अपनी अवस्था को पाने के लिए विकास इसी केन्द्र का, इसी व्यक्तित्व का करना होता है। यही कारण है कि योग शास्त्र का सब जोर आत्मोन्नति पर ही है। इसीलिए हमें योगशास्त्र में 'स्वार्थ' की गन्ध आती है। और योग में अहिंसा यम को जो विधेयात्मक रूप में नहीं लिखा है, निषेधात्मक रूप में लिखा है इसका भी एक कारण शायद यही है क्योंकि 'अहिंसा' की जगह 'परोपकार' कहने में आत्मोन्नोति का भाव छिप जाता है। पर यह अनिवार्य है, क्योंकि हम अपने को ही धीरे धीरे विकसित करके सब संसार के बन सकते हैं, यही एक उपाय है। एवं हमने देखा होगा कि किस तरह योग मार्ग में आत्मोपकार और परोपकार सम हो जाते हैं, एक हो जाते हैं।

योग का साधक अपनी तरफ से बेशक अपनी ही उन्नति में लगता है, पर उस द्वारा परोपकार भी उसी समय साथ ही शुरू हो जाता है, क्योंकि उसका यह प्रारम्भिक साधन भी जगत के लिए है तथा उस साधन का चारों तरफ के जगत् पर प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता। क्योंकि उसके बिना चाहे, बिना यत्न किये उसके मानसिक विकास की सुगन्धि चारों तरफ फैलती है जो कि लोगों को लाभ पहुँचाती है। वैसे तो प्रत्येक मनुष्य ही अपने मन की विचार लहरों से चारों तरफ के मनोमय आकाश को प्रभावित किया करता है, परन्तु जहां अयोगी अपने असंयत, रागद्वेष से पूर्ण, कलुषित मन द्वारा बिना जाने अपने साथ अन्य लोगों को भी हानि पहुँचाता है वहां एक योगाभ्यासी जो कि चित्तवृत्तियों को नाना तरह संयत और निरुद्ध करने द्वारा अपने मन को प्रसन्न, स्वच्छ, पुण्यमय बना रहा है, अपने इस विकसित होते मन द्वारा चारों तरफ के जगत् का बड़ा अदृश्य उपकार करता है (ठीक उसी तरह जैसे कि एक विकसित पुष्प द्वारा चारों तरफ का वायु मण्डल अपने आप सुगन्धि से भर जाया करता है) और ज्यों ज्यों योगी का यह आत्म विकास बढ़ता है त्यों त्यों इस सुगन्ध का विस्तार और बल भी बढ़ता जाता है। इसलिए यह सत्य है कि बड़े बड़े सिद्ध योगियों का संसार में रहना (बिना उनके कुछ अन्य कार्य किये) ही बड़ा भारी उपकार है।

पर यह बात नहीं कि योगी यह अदृश्य उपकार ही करता है, अपितु कुछ आगे चलकर ज्यों ज्यों अभ्यासी में अन्दर से शक्ति निकलती है त्यों त्यों वह उस नव प्राप्त शक्ति से दृश्य उपकार भी परिमाण के साथ करने लगता है (जैसा कि ऊपर कहा है कि योगाभ्यासी परोपकाररत देखे जाते हैं) पर वह उपकार में उतना ही पड़ता है जितने से कि उसके असली कार्य (अर्थात् आत्म विकास की साधना) को क्षति न पहुँचे या (दूसरे शब्दों में) जितने के लिए उसके पास वास्तविक शक्ति विद्यमान होती है या (अन्य शब्दों में) जितना परोपकार करना उसके आत्म विकास में सहायक होता है। अतएव यह स्वाभाविक है कि प्रारम्भ में वह ऐसा दृश्य उपकार सर्वथा नहीं करता,

तब तक सब समय सीधा अपने विकास के लिये ही देता है । इसलिए हमारी प्राचीन आश्रम व्यवस्था में पहिले पचीस वर्ष मुख्यतया केवल आत्म विकास (आजकल भी विद्यार्थी को सार्वजनिक आन्दोलनों में क्रियात्मक भाग लेने से रोका जाता है) के लिए होते थे और उस आश्रम में उसके लिए 'योगाभ्यास' नित्यकर्म होता था । उसी समय 'योगमार्ग' में दीक्षित हो जाने पर आगे जब वह स्नातक होता था और तब उपकार कार्य भी करता था तो वह उपकार कार्य भी उसके योग साधन का ही अंग होता था । यह 'कर्मयोग' नामक योग की एक अवस्था होती थी । पर अभ्यासी को उस समय भी उतना ही यह उपकार कार्य करना चाहिये जितने के लिए कि उसके पास रक्षित शक्ति विद्यमान है अर्थात् जितना उसके आत्म विकास के लिये आवश्यक है । यह सत्य है कि ऐसा कर्म योग अभ्यासी की उन्नति के लिए होता है । यदि वह उस समय कर्मयोग न करे तो उसके आत्मिक विकास में न्यूनता पड़ेगी, उसे क्षति पहुंचेगी । गीता में सत्य लिखा है कि आत्म विशुद्धि के लिए निष्काम कर्म करने चाहिएं । जब अभ्यासी प्रथम बार स्वयं स्वाभाविकतया कुछ ऐसा दृश्य उपकार करता है तो उससे उसको अगले आत्म विकास में सहायता मिलती है और फिर उस नयी विकसित शक्ति से वह उसी के अनुसार और कुछ अधिक उपकार करने के योग्य हो जाता है । इसी तरह (बहुत से जन्मों में चलता हुआ) ज्यों ज्यों वह आगे बढ़ता है त्यों त्यों उसकी आत्मोन्नति की आवश्यकता घटती जाती है और परोपकार की शक्ति तथा क्षेत्र बढ़ता जाता है जिससे अन्त में सिद्धयोगी होकर उसका परोपकार ऐसा पूरा जगत् व्यापक हो जाता है कि वह अब केवल उपकार ही करता है—स्वोपकार के लिए कुछ भी कर्त्तव्य नहीं रहता (ठीक इसी तरह जैसे के प्रारम्भ में वह केवल स्वोपकार (आत्म विकास में ही लगा था और दृश्य परोपकार कुछ भी न करता था) ।

एक बार यह लेखक कुछ दिनों के लिये एक जंगल के बंगले में रहता था जहां कभी दूसरे चौथे दिन किसी मनुष्य प्राणी की मूर्ति दिखायी देती थी । वहां एक दिन जंगल के एक 'रेन्जर' महाशय आये और बात करते हुए कहने लगे— "आप यहां व्यर्थ जंगल में क्यों पड़े हैं ? आप पढ़े लिखे हैं, कुछ कार्य करना चाहिये ?" इत्यादि । वैसे तो लेखक को यह बात सुनकर प्रसन्नता हुई कि भारतवासी अब साधुओं के निठल्लेपन को इतनी घृणा की दृष्टि से देखने लगे हैं कि उन्हें जंगल में भी चैन नहीं लेने देगें और मन में ऋषि दयानन्द तथा अन्य ऐसे प्रचारकों का धन्यवाद किया, पर उन्हें यह समझाया कि "आप जब थक कर रात को पड़े सो रहे हों जिसका अर्थ है कि अगले दिन (और अधिक) कार्य करने की शक्ति संचय कर रहे हों तब मैं आपको पकड़कर जगाऊं और उठा दूं कि काम करो, मनुष्य को काम करना चाहिये तो आप क्या कहेंगे ? अतः मुझे भी नींद ले लेने दीजिये ।"

आत्मोपकार और परोपकार में शयन और जागरण का सा ही सम्बन्ध प्रतीत होता है । जब हम केवल आत्मोन्नति में लगे होते हैं तो हम बेशक संसार के लिए सो रहे होते हैं, पर यह शयन हमारे अगले जागने के लिए—जागकर नये परोपकार कार्य की शक्ति लाने के लिए—आवश्यक होता है । एव अभ्यासी कुछ समय लगातार आत्मोन्नति में लगता हुआ और फिर जो कुछ कमाया है उसे परोपकार में खर्च करने के लिये अगला कुछ लगातार समय विशेषतया परोपकार में लगाता हुआ—सोता हुआ और नयी शक्ति से जागता हुआ–चलता है । और यदि वह अपना नैत्यिक साधन ठीक तरह जारी रखता है। (परोपकार काल में भी) तो उसे यह स्वयं पता लग जाता है कि उसे अब परोपकार के लिए जागना चाहिए या जब उसकी वह शक्ति समाप्त होने लगती है अर्थात् जबकि वह बिना नयी शक्ति पाये परोपकार को सच्ची तरह जारी नहीं रख सकता तब भी पता लग जाता है कि उसे अब सोचकर नयी शक्ति पानी चाहिए । यह शयन या जागरण एक पूरे जन्म तक चलते हों यह भी सम्भव है । पर ज्यों-ज्यों उन्नति होती है त्यों-त्यों अगला शयन थोड़ा होता है और जागरण बढता है जबकि सिद्ध के लिए जागरण ही केवल रह जाता है । (अथवा ठीक शब्दों में कहें तो वह दिन रात से ऊपर हो जाता है और हम उसकी अवस्था को अपनी मति के अनुसार केवल दिन या केवल रात कहते है । असल में हमें उसे दिन समझना चाहिए) ।

यहां यह भी स्पष्ट है कि जिनका सिद्ध होना तो दूर रहा, जिन्होंने योग की प्रारम्भिक शक्तियां भी नहीं पायीं वे यदि 'परोपकार' की धुन में इसे ही जारी रखते हैं, अर्थात् जिन्हें कभी विश्राम लेकर आत्मोन्नति करने की इच्छा ही नहीं पैदा होती उन्हें समझना चाहिए कि उन्हें 'अनिद्रा' का रोग हो गया है । यदि इसकी चिकित्सा न करेंगे तो उनका देह थक कर थोडी देर में इतना खराब हो जायेगा कि आगे परोपकार तो (कम से कम 'सच्चा परोपकार') कर ही नहीं सकेंगे, पर साथ में यह भी पूरा डर है कि उनमें स्थित वह परोपकार का बीज भी कहीं नष्ट न हो जाये जो कि यत्न द्वारा विकास पाकर कभी बड़े भारी परोपकार का वृक्ष बन सकता है ।

परोपकार करने के दो रास्ते हैं । एक योगी का, दूसरा अयोगी का । उदाहरणार्थ, एक आम की गुठली यदि अपने को परोपकार में खर्च करना चाहे तो दो तरह से कर सकती है । एक तो यह है कि वह पृथ्वी में (गुफा में) घुसकर अपने को —अपनी गर्भित शक्तियों को–धीरे-धीरे करके योग द्वारा एक विशाल आम्र-वृक्ष के रूप में विकसित करे । दूसरा उपाय यह है कि वह जैसी है (बिना योग-साधन किये) वैसी ही अपने को शीघ्र ही परोपकार में खतम करना चाहे । दूसरी अवस्था में उससे अधिक से अधिक उपकार शायद यह हो सकता है कि कोई वैद्य उससे कुछ औषधि बना ले या कोई भूखा प्राणी जिसे इससे उत्तम अन्न न मिल सके वह इसे या इसकी गिरी को खाकर कुछ उपकृत हो जाये । पर यदि वह गुठली

(यत्न से और बेशक बहुत देर में) योग द्वारा आम्रवृक्ष बन जाती है तो न जाने कितने प्राणियों का सहस्रों सुमधुर फलों के रूप में उत्तम भोजन देती है, वैद्य को सहस्रों गुठलियाँ दे सकती हैं, बहुत बार धूप से संतृप्त जीवों को अपनी शीतल छाया देकर उपकार करती है, अपनी लकड़ी से यज्ञ की अग्नि तथा अन्य अग्नियों की समिधा बनती है, लकड़ी रूप में और न जाने कितने काम आती है, वायु से प्राणवायु खींच कर संसार के लिए देने का साधन बनती है, कुछ अंश में बादलों के बरसाने में भी सहायक होती है, इत्यादि इत्यादि । तात्पर्य यह है कि योग द्वारा अपनी गुप्त आत्मशक्तियों के विकास से जितना भारी परोपकार होता है, उसका हजारवां भाग भी हम बिना आत्मोन्नति किये नहीं कर सकते ।

पर सच बात यह है कि इस योग मार्ग में जाने के लिए बड़ा भारी धैर्य चाहिए । असल में यह धैर्य की कमी है जो हमें उस मार्ग से डराती है, नहीं तो यह समझना कठिन नहीं है कि वास्तव में हम परोपकारी उधर ही जाकर हो सकते हैं । प्रारम्भ में योग मार्गावलम्बी में वह 'श्रद्धा' का बल चाहिए जिससे कि वह अनजान लोगों के कहने की परवाह न करे जबकि वे कहते हैं कि "यह जमीन में व्यर्थ घुसा पड़ा है ।" अपनी श्रद्धा द्वारा उसे यह असंदिग्ध दीखना चाहिए कि जमीन के अन्धकार में पड़ने से वह वास्तव में संसार का उपकार ही कर रहा है। सत्कार्यवादी योगी लोग तो अपनी उच्च प्रज्ञा से देखने के कारण "कारण और कार्य में भेद नहीं देख सकते ।" उन्हें उस भूमिस्थ गुठली में ही सब फलों से लदा वृक्ष दिखाई देता है । अतः वे क्षण भर के लिए भी नहीं भूलते कि वे इस सब लम्बे समय में (जो अन्यों को एक व्यर्थ नष्ट होता बड़ा लम्बा समय दीखता है) परोपकार नहीं कर रहे हैं । इस श्रद्धा में अविचलित बने रहने से फिर उसमें 'वीर्य' आ जाता है जिसके कि सामर्थ्य से वह वीर अपने को मिट्टी में गला देने से भी भय नहीं खाता, क्योंकि वास्तव में योग साधन द्वारा अभ्यासी को एक बार मर जाना होता है और मर कर कुछ और बनना होता है (एक प्रकार का पुनर्जन्म पाना होता है) । एवं स्मृति और समाधि की अवस्था के भी बाद जब उसमें 'प्रज्ञा' का अंकुर उदय होता है तब कुछ लोगों को समझ में आता है कि इससे शायद बड़ा भारी परोपकार हो । (देखो योगसूत्र 1–20) । इस प्रकार यह योग मार्ग बेशक बड़ा कठिन है, पर इसी मार्ग से हम क्षुद्र लोग भी अब की अपेक्षा अनन्तों गुणा परोपकारी बन सकते हैं ।

अब पाठक इस योगी के परोपकार की तुलना में अयोगी के परोपकार पर भी एक दृष्टिपात कर सकते हैं । जिसने योग द्वारा अपनी शक्तियों को विकसित नहीं किया अतएव जिसे आत्मतृप्ति का कुछ भी मजा न मिलने के कारण जो नाना प्रकार की असंख्य इच्छाओं और कामनाओं से पीड़ित है, पर वह किसी कारण चाहता है परोपकार करना, तो इसका क्या परिणाम होगा, यह पाठक स्वयं सोच सकते हैं । इसका परिणाम होता है ढोंग । जो जितने अंश में एक परोपकार कार्य के अयोग्य होता हुआ उसे करता है, उसे उतने अंश में वहां ढोंग करना पड़ता है । अर्थात्

परोपकार के नाम से वह स्वार्थ साधन (उतने अंश में) करता है, निष्काम के नाम से सकाम कार्य करता है। और क्योंकि उसके ये कर्म निष्काम नहीं होते, अतएव ये कर्म (उतने ही अंश में) कर्मयोग नहीं बनते, जैसे कि योगी के परोपकार (निष्काम) कर्म कर्मयोग होते हैं (यद्यपि उसके ये कर्म अयोगी की अपेक्षा मात्रा में कम होते है, क्योंकि वह अपनी योग्यता से आगे बढ़ कर तनिक भी 'परोपकार' नहीं करता। फलत: इन कर्मों से न तो उसकी आत्मा की विशुद्धि ही होती है, और न लोगों का कुछ भला होता है। लोगों को लाभ तो तब हो जबकि उसमें वास्तव में उस परोपकार करने की शक्ति, योग्यता विद्यमान हो। जो कुछ शक्ति होती है वह थोड़ी देर में समाप्त हो जाती है और उसका सच्चा उपकार भी तभी समाप्त हो जाता है। आगे उसे उचित तो यह है कि वह योगी बनकर उस कार्य के लिए योग्य होने लायक शक्ति को आत्मविकास द्वारा प्राप्त करे, पर वह प्राय: रजोगुण से सताया हुआ, मनोवृत्तियों का दास बना हुआ और षड्रिपुओंका भ्रमाया हुआ उसे छोड़ना नहीं चाहता, उसमें यूँ ही लगा रहना चाहता है। योगी की तरह उसे स्पष्ट पता भी नहीं लगता कि उसे अब (या कभी) आत्मोन्नति में लगने की जरूरत है। तो अब वह बिचारा क्या करे? अत: वह अपने उन्हीं स्वार्थमय परोपकारों में लगा रहता है।

वास्तव में (एक वाक्य में कहें तो) योगी और अयोगी के कर्मों में भेद यह है कि अयोगी जो परोपकार करता है वह भी स्वार्थ के लिये होता है और योगी जो साधन काल में अपना कार्य करता है वह भी परोपकार के लिये होता है। पर सिद्ध योगी हो जाने पर, साधनकाल हो जाने पर, तो वह परोपकार के लिए भी कुछ नहीं करता अपितु सब परोपकार ही करता है। ऊपर जो गुठली के आम्रवृक्ष रूप में आजानेपर उसके परोपकार का कुछ विस्तार से वर्णन किया गया है वह यूँ ही नही किया है। वह इस बात को हृदय पर अच्छी तरह अंकित करने के लिए किया है कि वास्तव सिद्ध पुरुषों का उपकार इतना ही विशाल, इतना ही अनन्तगुणित, इतना ही व्यापक और सर्वतोमुख होता है। योगी यद्यपि साधनावस्था में भी नाना तरह से दृश्य और अदृश्य उपकार करता हुआ आगे बढ़ता जाता हैं परन्तु उसका असली महान् शुद्ध केवल उपकार सिद्ध बनने पर ही प्रारम्भ होता है, जैसे कि आम्रबीज में असली उपकार तभी होता है जब कि वह पूर्ण विकसित फलशाली विशाल वृक्ष बन जाता है। पर भेद इतना है कि उन सिद्धों के ये व्यापक महान उपकार हमें इन स्थूल चर्मचक्षुओं से दिखलायी नहीं देते। पर इससे यह नहीं समझना चाहिये कि वे अपनी प्राप्त विभूतियों से (जो कि नि:संदेह केवल परोपकारार्थ ही वहां है) हम पर उपकारों की वर्षा नहीं कर रहे हैं। कई बार मन में आया करता है कि हम अज्ञानी लोगों द्वारा नित्य किये गये इतने पापों से भरा यह संसार दिनों दिन नीचे गिर नष्ट नहीं हो जाता, इसका कारण संसार में ऐसे परम कृपालु, स्वयं आप्तकाम, किन्तु 'सर्व भूतहिते रत' मुक्त पुरुषों की सत्ता का होना ही है। ये लोग स्थूल

बन्धनों से मुक्त हो आत्मा की (मानसिक, बौद्धिक, शारीरिक आदि) सूक्ष्म (अतएव महाबलशाली) शक्तियों से निरन्तर संसार को मार्ग दिखा रहे हैं और नाश से बचा रहे हैं। क्या मालूम हम में जो बहुत बार एकदम नये ज्ञान की स्फुरणा सी हो जाती है वह इन्हीं के चल रही हुई मनोधाराओं में किसी के स्पर्श का फल होता है और क्या आश्चर्य कि भाई परमानन्द जी के देवतुल्य सरल हृदय में जो इस तरह अकर्मण्यता का खण्डन करने की प्रेरणा होती है, उसके मूल में भी ऐसे ही किन्हीं महापरोपकारी, अदृश्य, सिद्ध योगी की शक्ति ही हो ? जो हो, यह सत्य है कि हमारी उन्नति की पराकाष्ठा हो जाने पर परोपकार ही एक मात्र कृत्य रह जाता है और अन्त में परमगुरु परमात्मा जहाँ कि ज्ञान की तरह अन्य सब गुणों की भी पराकाष्ठा है संसारस्थ अपने अनन्तों पुत्रों के लिए केवल परोपकार स्वरूपी पिता हैं। व्यास जी ने योगभाष्य में उनके प्रसंग में कहा है कि वे परम कारुणिक भगवान संसारार्णव में डूबते जीवों के उद्धार के लिए अपने सत्वोत्कर्ष द्वारा संसार में वेद का दान करते हैं। "तस्यात्मानुग्रहाभावेऽपि भूतानुग्रहः प्रयोजनम् । ज्ञानधर्मोपदेशेन कल्पप्रलयमहाप्रलयेषु संसारिणः पुरुषानुद्धरिष्यामि इति"। यहां आत्मानुग्रहाभावेऽपि भूतानुग्रहः' इन शब्दों से शुद्ध परोपकार का स्वरूप बताया गया है। अस्तु।

पर (जैसा कि अभी कहा है) हमें न तो स्वयं भगवान् उपकार करते हुए दीखते हैं, नहीं उनकी इच्छा में अपनी इच्छा मिलाकर सिद्धता प्राप्त किये योगी ही उपकार करते दीखते हैं। इसी (स्थूल दृष्टि से) न दीखने के कारण ही हम लोग इस अज्ञान के शिकार हो जाते हैं कि ये योगी (या परमयोगी परमात्मा) उपकार करना छोड़ बैठे हैं। यदि हम जरा सोचेंगे तो पता लगेगा कि उनके उपकार कर्मों का (स्थूल में) न दीखना ही इस बात का चिह्न है कि उनके उपकार कर्म कितने अपरिमित हैं। चूंकि हम सूक्ष्म से स्थूल की तरफ ज्यों-ज्यों बढ़ते हैं त्यों-त्यों परिमितता बढ़ती जाती है (इस बात का अधिक स्पष्टीकरण अगले 'कर्म' के प्रकरण में आवेगा) अतः स्थूल की परिमितताओं और विविधताओं में फंसे हुए हम लोग सिद्धों के सूक्ष्म किन्तु (शक्ति और विस्तार में) अपरिमित उपकारों को नहीं देख पाते। और उन्हें तो जरूरत है ही नहीं कि वे हमें जतलाते फिरें कि हम द्वारा ये इतने महान उपकार हो रहे हैं। यह तो हम अशुद्ध तथा स्वार्थ मल दूषित उपकार करने वालों की इच्छा हुआ करती है कि उपकृत को पता लगे कि 'मैंने' उपकार किया है। हमें उपकार करने का अभिमान भी होता है कि मैं यह उपकार कर रहा हूँ। पर हमें यह खूब समझ लेना चाहिये कि यह अभिमान ही हमारे उपकार के विशुद्ध होने में सबसे बढ़ी रुकावट है। अर्थात् हम में उपकार करने का जितना अभिमान होता है (अतएव दिखाने की इच्छा होती है) उतना ही वह उपकार स्वार्थमय होता है, उसकी पहुंच, प्रभाव, बल भी उतनी ही मात्रा में कम (परिमित) होते हैं। शुद्ध परोपकारी को यह 'भान' होना ही बन्द हो जाता है कि 'मैं' उपकार करता हूँ। 'मैं' का अभिमान जाता रहता है। अतः सिद्ध लोग उपकार करते हैं।

यह कहने की अपेक्षा ऐसा कहना अधिक ठीक है कि सिद्धों द्वारा परोपकार 'होता है-स्वयमेव होता है।' संसार में सूर्य चन्द्र पृथिवी आदि देवों को देखना चाहिये कि ये कैसे निरभिमान और निर्मान होकर इतना बड़ा भारी परोपकार चला रहे हैं। सिद्ध योगियों का परोपकार भी इसी कोटि का होता है । ये सिद्ध भी एक मात्र परमोपकारी परमात्मा के अनन्त उपकार कार्य के लिए सूर्य चन्द्रादि की तरह ही उनके हाथ में एक बड़े भारी (निरभिमान, निर्मान, जडसदृश और अदृश्य) साधन बन जाते हैं। केवल सर्वथा परोपकारी बनने के लिए यही विधि है । यहां हम यह भी देख सकते हैं कि कई सच्चे योगी जो अपने सन्मुख परोपकार को सिद्धान्ततः नहीं रखते हैं इस का क्या अभिप्राय है। वास्तव में ही परोपकार हमने करना नहीं है, वह स्वयं हम से होगा। यदि पाठकों ने पिछला विवेचन ध्यान से पढ़ा है तो उन्होंने यह देखा होगा कि साधनावस्था में (सिद्धावस्था से पहिले) भी योगी का परोपकार ऐसा ही सहज परोपकार होता है (जो स्वयं सामने आता है, वह हठ से नहीं किया जाता)। अस्तु तात्पर्य यह कि यह जान कर कि चूंकि वास्तविक परोपकार निरभिमान और सूक्ष्म होने के कारण साधारणतया दृश्य नहीं होता है, हमें उस महान परोपकार की सत्ता से इनकार नहीं करना चाहिये, अपितु स्वयं स्थूल से ऊंचा उठकर उसे देखने का यत्न करना चाहिये।

आशा है अब यह स्पष्ट है कि योगमार्गावलंबी प्रारंभ से अन्त तक सच्चे अर्थों में परोपकारी होता है तथा अन्य में उसी के लिए 'परोपकाराय सतां विभूतयः' यह वाक्य ठीक उतरता है, क्यों कि उसी सत्पुरुष के पास सच्चे अर्थों में विभूतियां होती हैं और वही एकमात्र शुद्ध परोपकार कर सकता है और स्वभावतः करता है ।

इसलिये यदि कोई धीर पुरुष इस दिव्य आत्म विकास के कार्य के लिए समाज से जुदा होते दिखाई देवें तो इसे बुरा न मानना चाहिये, बल्कि इसे अपरिमित परोपकार का प्रारंभ समझ इसमें उनकी यथाशक्ति सहायता करनी चाहिये । कुछ काल तक कोई दृश्य उपकार होता हुआ न देख कर अधीर नहीं होना चाहिये। आम्रबीज से आम्रफल एक दिन में नहीं मिल सकते । पाश्चात्य देशों के व्यापारी (जिनका उद्देश्य कुछ उच्च नहीं होता, प्रायः तो दूसरे निर्बल देशों का आर्थिक शोषण करना होता है) अपने यहां आविष्कारों के लिये वैज्ञानिकों को रखते हैं । यह कार्य एक वैज्ञानिक के जीवन भर और कभी कभी पुश्तों तक चलता रहता है पर कोई इष्ट आविष्कार नहीं निकलता । इस पर भी वे घबराते नहीं । उनमें दूर दृष्टि होती है जिस से कि वे जानते हैं कि यदि सौ वर्षों में भी एक आविष्कार उनके उस व्यापार का सहायक हो जायगा तो उससे सब क्षति पूर्त्ति हो जायेगी । वहां वे इस कार्य को 'समय बरबाद करना' नहीं कह सकते । पर हम पतंजलि आदि ऋषियों की सन्तान योगसाधन के कार्य (जिससे अपना तथा जगत् का कल्याण ही होता है) में बहुत सा काल लगाने से डरें, यह कितने आश्चर्य की बात है। आशा है जब हम योग-

मार्ग की परोपकारमयता को समझ जायेंगे तो सौ वर्ष ही नहीं बल्कि कई जन्मों (जीवनों) तक को हम योगसाधन में लगाने के लिए उद्यत होंगे।

अब हम कमण्यंता के विषय पर आते हैं। योग का अकर्मण्यता से संबन्ध जोड़ना तो एक दृष्टि से बडा हास्यास्पद है, क्योंकि संस्कृत दार्शनिक साहित्य से परिचित लोग जानते हैं कि योग का तो कर्म से घनिष्ठ संबन्ध है। सांख्य और योग ये दो समान तन्त्र हैं। इन में जो कुछ परस्पर भेद है वह यही है कि 'सांख्य' में जो ज्ञान विचार रूप में कहा गया है, उसका अनुभव क्रियात्मक रूप में 'योग' से किया जाता है। योग का अभ्यासी तो दिन भर कर्म ही करता है, बड़े-बड़े कठिन और दुःसाध्य कर्म करता है। एक विधिवत् कर्म को बार बार करना ही अभ्यास कहाता है। योग तो चीज ही करने की है।

पर असल में जब हम 'योगी कर्म नहीं करते' ऐसा कहते हैं तो हमारा 'कर्म' से 'एक विशेष प्रकार का कर्म' मतलब होता है। हमारी दृष्टि में बहुत से ऐसे कर्म आये हुए हैं (जिन्हें प्रायः हम करते भी हैं या करने का यत्न करते हैं) जिन्हें कि हम समझते हैं कि ये कर्म हर एक को करने चाहियें, ये ही लाभदायक उपकारक कर्म हैं। इन्हीं कर्मों को योगी नहीं करते दिखायी देते, अतएव हम उन्हें 'अकर्मण्य' की उपाधि देते हैं। नहीं तो कर्म तो योगी भी करते ही हैं। पर उनके ये कर्म हमें निरर्थक तथा व्यर्थ समय खोना प्रतीत होते हैं और इन्हें हम कर्म की गिनती में ही नहीं गिनते। अतः हम चाहते हैं कि योगी लोग भी 'आंख मीच कर बैठे रहने' जैसे अपने व्यर्थ कर्म या अकर्म को छोड़ देवें तथा हमारी तरह (प्रचार करने, व्याख्यान देने, लिखने जैसे) कर्म करें।

यह स्वाभाविक है कि मनुष्य को स्वयं जिस प्रकार के कर्म का अनुभव होता है, जिसे करने से उसे लाभ होता दीखता है, वह उसे ही 'कर्म' शब्द से पुकारता है। उदाहरण के लिए एक ऐसे ग्रामीण किसान की कल्पना कीजिये जो पढ़ने लिखने की बात से सर्वथा अपरिचित है, जिसे इस विषय का जरा भी ज्ञान नहीं है। वह यदि मुझे दिन भर काले धब्बों की पंक्तियों से अंकित कागजों के बंधे समूह (अर्थात् पुस्तक) को देखते हुए (अर्थात् पढ़ते हुए) तथा सफेद कागजों को नाना तरह काला करते हुए (अर्थात् लिखते हुए) देखे, तो यही समझेगा कि मैं व्यर्थ समय गँवा रहा हूं। मैं कोई बड़ा जरूरी या बड़ा लाभदायक कार्य कर रहा हूं, यह उसकी समझ के बाहर है। वह तो हल चलाना, बैलों के पीछे डंडा लेकर चलना, बोना, नुलाना, सींचना आदि खेती के कार्यों को (बल्कि हुक्का पीने को भी) ही कर्म व काम समझता है। यदि मैं उसे कहूं भी कि यह कागज काला करना आदि नहीं है, इसका नाम "लिखना पढ़ना" है, इससे सब दुनिया के काम चलते हैं, संसार की सब सरकारें इसी द्वारा हुकूमत चलाती हैं, खेती के कामों में भी बड़े-बड़े परिवर्तन कराने में यही साधन होता है. इस से बड़े-बड़े आन्दोलन किये जाते हैं, संसार में बड़े-बड़े युद्ध और क्रांतियां हो जाती हैं,

तो भी वह न मानेगा। मन में यही सोचेगा कि 'खेती से तो अनाज पैदा होता है उससे पेट भरता है, पर इस कागज काले करने से क्या बनता है ? खेती के कामों में इससे कुछ भी परिवर्त्तन कैसे हो सकता है ?'

यदि हमने इस उदाहरण को समझा है। (जो कि केवल कल्पना नहीं है किन्तु कभी और कहीं वास्तविक बात है) तो हम देख सकते हैं कि कर्म कैसे-कैसे होते हैं, इसके समझने में हम कितने भ्रम में रह सकते हैं। कर्म और अकर्म को समझना सुगम नहीं है। 'गहना कर्मणो गतिः' कह कर श्री कृष्ण जी ने इस विषय की जटिलता को प्रकट किया है। इस जगत में चूंकि बहुत बार कर्म भी अकर्म दीखता है तथा इसके विपरीत अकर्म कर्म दीखता है, इसीलिए श्री कृष्ण जी ने कहा है कि कोई 'युक्त' और 'मनुष्यों में बुद्धिमान' ही अकर्म में (ठीक) कर्म को तथा कर्म में (वास्तविक) अकर्म को पहिचानता है। इस सब कथन का तात्पर्य यह है कि ऊपर से देख कर निर्णय करना कि कौन सत्य अर्थ में कर्म करता है, कठिन है । क्या मालूम जब हम योगी के 'आंख मीच कर बैठने' के कर्म को अकर्म कहते हैं तो हम भी उपरिवर्णित किसान की ही बात करते हों। संभव है कि उसके इस अकर्म (?) में इतना बड़ा भारी कर्म छिपा हो कि हमारे लिखाई पढ़ाई के संसार में भी बड़े-बड़े महापरिवर्त्तन करने का वही कर्म कारण होता हो।

यह कैसे संभव है इसकी कुछ झलक निम्नलिखित विवेचन से मिल सकती है।

ज्यों-ज्यों मनुष्य उन्नत होता है त्यों-त्यों उसका कर्म स्थूल की जगह सूक्ष्म से प्रवृत्त होने वाला होता जाता है। स्थूल से सूक्ष्म तक पहुँचाने वाले इस मार्ग पर वैसे तो बहुत से पड़ाव, पद या पर्व हैं, किन्तु विचार की सहूलियत के लिये मोटे तौर पर केवल चार भागों में इस मार्ग को विभक्त किये लेते हैं:—

1	स्थूल	शारीरिक कर्म	अन्नमय स्थूल शरीर से किया जाने वाला
2	सूक्ष्म	वाचिक कर्म	स्थूल (बैखरी) वाणी से किया जाने वाला
3	सूक्ष्मतर	मानसिक कर्म	मन आदि अन्तः करणों से किया जाने वाला
4	सूक्ष्मतम	आत्मिक कर्म	आत्म शक्ति द्वारा किया जाने वाला

अतिस्थूल दृष्टि वाले लोग केवल शारीरिक कर्म (अर्थात् हाथ पैर आदि की चेष्टाओं से किये जाने वाले कर्म) को ही कर्म समझते हैं। पर हम जानते हैं कि इससे सूक्ष्म किन्तु इससे बहुत प्रभावशाली वाणी का कर्म है। एक प्रबल वाणी रखने वाला पुरुष अपनी वाणी से हजारों लोगों के हाथ पैर हिलवा सकता है, उनके हाथ पैरों से बड़ा कर्म पैदा कर सकता है। इस वाणी के क्षेत्र को 'भाषा' ने और भी बहुत अधिक विस्तृत कर दिया है। अतएव पढ़ने लिखने के कर्म का और भी व्यापक प्रभाव होता है तथा जैसा कि ऊपर कहा है इससे सरकारें चलती हैं, एवं बड़ी से बड़ी क्रान्तियां हो जाती हैं। पर इस वाणी के जगत् के ऊपर इससे सूक्ष्म किन्तु इसकी अपेक्षा बहुत व्यापक मानसिक जगत् का राज्य है। संसार की वाणियों को संस्कार के सब मौखिक या लिखित साहित्य (Platform और Press) को प्रभावित करने वाला मन होता

है। संसार के मनस्वी महापुरुष का मन होता है। इन महापुरुषों की सोची हुई बातों का, इनकी भावनाओं का, इनके 'स्वप्नों' का ही अन्त में संसार पर संसार की वाणी द्वारा स्थूल प्रभाव घटित होता है। अत: हम यह भी समझ सकते हैं कि मानसिक कर्म वाचिक कर्म से भी अति अधिक प्रभावशाली है। इसलिये हम लोग भी मानते हैं कि 'Ideas rule the world या sentiment rules the world'

मनुस्मृति में भी वाचिक जप और मानस जप का भारी भेद बतलाते हुए यही कहा है कि वाचिक से मानस कर्म शतसहस्रगुना फलदायी होता है। (देखो मनु० 2-85) पर इसके भी पीछे अतिसूक्ष्म और अत्यन्त प्रभावशाली आत्मिक जगत् है जो कि असल में सब कर्मों का स्रोत है। यह विचारों और भावों (Ideas और Sentiments) की भी अधिष्ठात्री शक्ति है। यही आत्मिक शक्ति (मानसिक वाचिक जगत् द्वारा) सब संसार को वास्तव में हिलाती है। सिद्ध योगी का कर्म इसी शक्ति से होता है।

संसार पाठशाला के पहिली श्रेणी के लोग मुख्यतया स्थूल शारीरिक कर्म करते हैं और इसे ही सर्वोत्तम साधन समझते हैं। दूसरी श्रेणी के लोग वाणी की शक्ति से कर्म अपेक्षया अधिक करते हैं, इनमें साधारण शिक्षित जन आते हैं। मानसिक कर्म विशेषतया करने वाले तीसरी श्रेणी के हैं, ये कुछ असाधारण पुरुष होते हैं और सब साधक योगी लोग इनमें आ जाते हैं। अन्त में सिद्ध लोग चौथी प्रकार के पुरुष हैं।

एवं देखने में तो बेशक प्रथम श्रेणी का मनुष्य ही बहुत कर्म करता दीखता है, क्योंकि चेष्टायें और स्थूल चेष्टायें-वहीं होती है। पर उसका कर्म वहीं खतम हो जाता है और कहीं उसका प्रभाव नहीं होता। इसके विपरीत वाणी का कर्म बहुत से शारीरिक कर्म को उत्पन्न और प्रभावित करता है, मानसिक कर्म संसार के वाचिक कर्म समुदाय को प्रभावित करता हुआ फैलता है और आत्मिक शक्ति से हुए कर्म अन्त में सब मनोमय जगत् को भी प्रभावित करते हुए असल में सब जगत् को चलाते हैं। एवं ज्यों-ज्यों कर्म सूक्ष्म अदृश्य होता जाता है अर्थात् उसमें चेष्टा और स्थूल गति कम होती जाती है त्यों-त्यों उसका प्रभाव और शक्ति और विस्तार बढ़ता जाता है (क्यों कि अगला-अगला क्षेत्र भी निर्बाध और विस्तृत होता जाता है)।

वास्तव में चेष्टा का अधिक होना कर्म की कमी, कर्म की निर्बलता का ही चिह्न होता है। लोक में भी यह प्रसिद्ध है। लौकिक कहावत 'अधजल गगरी छलकत जाय' इसी बात की सूचक है कि अपूर्णता के कारण ही गति या चेष्टा अधिक होती है। सब वाचिक शक्ति के विषय में भी कहावत है (जो गरजते हैं वे बरसते नहीं) अर्थात् जल से अपूर्ण शून्य होने पर ही गरजना होता है। जब मन पूर्ण (भरा) होता है तो वाणी की चेष्टा जो कि शरीर की चेष्टा की अपेक्षा पहले ही सूक्ष्म है वह भी) भी बन्द हो जाती है। ' (Words are few, when heart is full')

यह कहावत एक अंश में इसी सत्य की तरफ निर्देश करती है। पर स्पष्ट तौर पर ही हम देखते हैं कि गम्भीर विद्वान पुरुष कम बोलने वाले होते हैं। अर्थात् वे वाचिक कर्म भी कम करते हैं। मुनि लोग अर्थात् जो मननरत, ध्याननिष्ठ होते हैं उनके कर्म का नाम 'मौन' है (व्याकरण के अनुसार 'मौन' का अर्थ यही है। मुनेः कर्म = मौनम्।) पर उनका यह उच्च कर्म वाचिक कर्म के त्याग द्वारा किया जाता है अतः अब मौन का अर्थ ही 'वाचिक कर्म का बन्द करना' हो गया है। आगे जब मनुष्य मन से ऊंचा उठता है तो उसे अपना आत्मिक कर्म करने के लिए मन की सूक्ष्म चेष्टाओं को भी-मानसिक कर्म को भी--रोकना होता है। तब वह जिस अवस्था में होता है उसका नाम 'अथर्व' है (अर्थात् चेष्टा या गतिरहित) अथवा 'स्थितप्रज्ञ' (जब कि प्रज्ञा भी ठहर जाती है, गति नहीं करती) अथवा जिसके विषय में अन्यत्र कहा है "बुद्धिश्च न विचेष्टते।" इस समय का कर्म सब से ही अधिक प्रभावशाली और अचूक होता है। पर आत्मा में भी शायद कोई अलक्ष्य सूक्ष्म गति हो, किन्तु अन्त में परम आत्मा तो जो कि सब के मूल में अपनी परम शान्त किन्तु अनन्त अगम्य क्रियाशक्ति द्वारा सब ब्रह्माण्डों को-उनके एक-एक अणु को-हिला रहा है बिल्कुल ही निश्चेष्ट है, अचल है, कूटस्थ है।

महात्मा गांधी जी सन् 1921 के बड़ी हलचल वाले वर्ष के अन्त में जब सारे देश का दौरा समाप्त करके लौटे कि अब वर्ष के शेष दो महीने अपने स्थान पर ही स्थिर रह कर कार्य करेंगे तो 'नवजीवन' में उन्होंने जो "मुसाफिरी खतम", "शान्ति ही प्रवृत्ति है" आदि दो तीन बड़ी सारगर्भित टिप्पणियां लिखी थीं वे इस प्रकरण में पढ़ने योग्य हैं। उन्होंने भी परमात्मा का दृष्टान्त देकर लिखा 'ईश्वर के मौन को कौन पहुँच सकता है। और साथ ही उसकी प्रवृत्ति को भी कौन पा सकता है?', 'उसकी गति की तो सीमा ही कहां है, शान्ति रखते हुए भी वह अधिक से अधिक काम करता है, इससे हम यह सबक क्यों न लें कि शान्ति में ही अधिक से अधिक शक्ति है।' आगे 'शांति का अर्थ' बताते हुए उन्होंने लिखा 'इस दिव्य शांति का अर्थ जड़ता नहीं, मूढ़ता नहीं, और कमजोरी भी नहीं। यह तो शुद्ध चेतना, ज्ञान, शूरवीरता है। जो अपनी काया को पत्थर बनाकर रहता है वह एक ही जगह बैठा हुआ सारे संसार को हिलाया करता है।' इसके आगे उन्होंने भारतवासियों से या असहयोगियों से ऐसे ही 'चेतन पत्थर' बनने की अभ्यर्थना (अपील) की है।

यहां स्मरण आता है कि जो भाई परमानन्द जी ने समाधिस्थ योगियों को 'हिमालय के वृक्ष' कहा है वह भी ठीक है, पर वहां भी इतना विशेष सा और लगा लेना चाहिये कि वे 'चेतनामय वृक्ष' हैं। अतएव वे उसी जगह अचल स्थिर ठहरे हुए भी संसार को हिलाते हैं—उस अधिक से अधिक निश्चेष्ट अवस्था में होते हुए अधिक से अधिक गति और प्रवृति को चलाते होते हैं। उनकी इस महान गति को अनुभव करने के लिए हमें उनके नजदीक होना चाहिये-सूक्ष्म बनना चाहिये। क्योंकि

उनके आत्मिक कर्म का सीधा प्रभाव उनके नजदीकी तीसरी श्रेणी के लोगों (अर्थात जिन्होंने मानसिक शक्तियों का विकास खूब प्राप्त कर रखा है) पर पड़ता है। उनके द्वारा संसार का वाचिक कर्म प्रभावित होता है और उस द्वारा फिर स्थूल जगत में घटनायें होती जाती हैं-हाथ पैर हिलते हैं। यह है रीति जिससे कि योगी की आत्मिक शक्ति संसार को हिलाती है।

ये सिद्ध लोग अपने स्थूल शरीरों को बिलकुल बन्द कर के, सुला करके बल्कि बहुत बार बिलकुल छोड़ कर (मुक्त होकर) आत्मिक शक्ति से काम करते हैं। पर इस का यह मतलब नहीं कि वे स्थूल कर्म कर ही नहीं सकते या कभी करते नहीं। जरूरत होती है तो वे मानसिक, वाचिक और बिलकुल कायिक कर्म भी करते हैं। सिद्ध योगी हल चलाते देखें जायें, यह भी संभव है। पर उनके ये स्थूल कार्य भी सीधे अपनी आत्मशक्ति से प्रेरित होने के कारण अद्‌भुत प्रभाव रखते हैं। योगीश्वर श्रीकृष्ण वन में गौवें भी चराते फिरे थे। यह कायिक कर्म था। योगीश्वर व्यासजी ने महाभारत जैसे ग्रंथ रचने का बड़ा साहित्यिक कर्म किया। भगवान बुद्ध ने उपदेश देते फिरने का वाचिक काम किया। और बहुत दृष्टान्त हैं। पर हम जानते हैं कि उनके ये सब साधारण कर्म भी कितना आश्चर्यमय आकर्षण व शक्ति रखते थे। योगीश्वर कृष्णजी की छोटी पुस्तक गीता को देखिये जो कि हजारों वर्षों से लाखों मनुष्यों का जीवन पलटती आयी है और आगे भी न जाने कब तक पलटती रहेगी। महायोगी के स्थूल कर्म में भी ऐसी शक्ति होती है, क्यों कि वह आत्मशक्ति से प्रेरित (असल में आत्मिक कर्म ही) होता है। ऐसे योगियों के इन स्थूल कर्मों का कभी तुरन्त बड़ा प्रभाव न होता देख कर भी हमें भ्रम में नहीं पड़ना चाहिये, क्योंकि बहुतवार उनके महान कर्म इस विधि से किये जाते हैं कि उनके अद्‌भुत फल शताब्दियों बाद दृष्टिगोचर होते हैं। पर इसमें संदेह नहीं है कि इन आत्मशक्ति से कर्म करने वाले सिद्धों के स्थूल छोटे कर्म भी अन्त में अचूक तौर पर बड़ा भारी फल लाने वाले होते हैं।

एवं मानसिक शक्ति से प्रेरित कर्म करने वाले योगी वाचिक और शारीरिक कर्म भी किया ही करते हैं, यह हम जानते हैं। पर उनके ये स्थूल कर्म भी उसी तरह उच्च शक्ति (मनः शक्ति) से प्रेरित होने के कारण बहुत अधिक प्रभावशाली होते हैं।

अन्त में हम साधारण लोगों के कर्म वाणी या शरीर से ही प्रेरित होने के कारण अति तुच्छ होते हैं। वैसे आत्मा और मन तो हमारे भी हैं परन्तु हमारी आत्मा और मन बद्ध हैं (स्वाधीन नहीं है) अतः यद्यपि हमारे सब कर्म आत्मा और मन की शक्ति की सहायता से ही होते हैं, पर वे आत्मा व मन से प्रेरित नहीं होते। जो जितना ऊंचा गया है अर्थात् अपने उच्च स्वरूप की स्वाधीनता प्राप्त की है, उसका कर्म (उसका स्थूल कर्म भी) उतने ही ऊंचे से प्रेरित होता है अतः उतना ही अधिक प्रभावोत्पादक होता है।

एवं स्थूल देह से भी काम लेने वाले पूर्ण योगी का शरीर संसार रूपी विराट् शरीर का पूर्ण नमूना होता है। जैसे उसकी आत्म शक्ति के आधीन उसकी मानस क्रिया, तथा उसके आधीन वाचिक और शारीरिक कर्म होते हैं, वैसे ही इस विश्व शरीर में आत्मिक शक्ति के स्थान पर विश्व के सिद्ध लोग हैं जिनके आधीन तीसरी और दूसरी श्रेणी के लोग (जो कि विश्व शरीर में क्रमश: मन और वाणी है उनसे प्रभावित होकर कर्म करते हैं और अन्त में विश्व शरीर के स्थूल भाग पहिली श्रेणी के लोग हैं जो कि हाथ पैर की तरह उनके आधीन हिलते हैं। अब यह भी स्पष्ट है कि हम निचली श्रेणी के लोग बेशक अपने स्थूल, चेष्टा पूर्ण बहुत से कर्म करते हुए समझते हैं कि हम बड़ा काम कर रहे हैं पर हमें यह ज्ञान नहीं है कि हमारे ये कर्म स्थूल से ही प्रेरित होने के कारण जहां उतना ही थोड़ा सा परिमित प्रभाव वाले हैं वहाँ ये कर्म परतंत्र भी हैं-(हमारे वासनाओं और कामनाओं से बद्ध होने के कारण चारों तरफ के उच्च जगत के नियमों से प्रभावित और परवश किये गये हैं। अतएव वे कर्म हमें बांधते भी हैं क्योंकि हम जो कुछ (सकाम) करते है वह दृश्य बहुत सी अवस्थाओं में तो जैसे शिवाजी के कार्यों के मूल में श्री राम दास के मानसिक या आत्मिक कर्म थे वैसे सब संसार के इतिहास में बहुत सी घटनाओं के प्रेरक कारण दृश्य महात्मा के रूप में ढूंढे जा सकते हैं। श्री कृष्ण जी की प्रेरणा से अर्जुन का लड़ना, सिक्खों के महान कार्यों के मूल में उनके प्रारंभिक गुरू नानक जी का होना इत्यादि बहुत से दृष्टान्त पाठक स्मरण कर सकते हैं। या अदृश्य उच्च शक्तियों से प्रभावित होकर और उनके नियमों के बन्धन में आये हुए ही करते हैं। दूसरी तरफ योगी लोग जब सूक्ष्म जगत में स्थित होकर कार्य करते हैं तो वे उनके स्वाधीन (अबद्ध) कर्म निचले लोगों को परवश कर उनके द्वारा स्थूल में प्रकट होते हैं, पूरे होते हैं। और जब वे अपने ही स्थूल शरीरों द्वारा अपने सूक्ष्म प्रेरित कर्म को स्थूल में लाते हैं तब तो वे सीधे ही पूर्ण और अचूक कर्म होते हैं।

यहाँ यह भी लिख देना चाहिये कि योगी के कर्म संबन्धी इस सब कथन से कोई यह अशुद्ध परिणाम न निकाले कि हमें जैसे तैसे सब स्थूल कर्म छोड़ देना चाहिये। यह तो हम जानते ही हैं कि साधक को प्रारंभ में स्थूल कर्म ही बहुत करने होते हैं, क्योंकि सूक्ष्म कर्म करने के योग्य होने के लिए पहिले स्थूल देह का सिद्ध (तैयार) होना आवश्यक है और यह स्थूल कर्मों द्वारा (जिन्हें कि हठयोग के कर्म कह सकते हैं) ही प्राप्त की जाती हैं। पर जो इस मार्ग से नहीं चलते या जो उच्च (यहां तक कि सिद्ध) हो जाते हैं, उन्हें भी स्थूल कार्य तो स्थूल कर्म द्वारा ही करने में सुगमता होती है। अतएव देखा जाता है कि मुक्त पुरुषों को भी स्वयं स्थूल कार्य संपन्न करने के लिये स्थूल देह ग्रहण करने पड़ते हैं। वैसे जब तक देह हैं (फिर देही चाहे सिद्ध जीव-मुक्त हो या असिद्ध) तब तक स्थूल कर्म सर्वथा छूट नहीं

सकते और नहीं यह वांछनीय होता है। अतएव अपने स्थान पर स्थूल कर्म पूरा महत्वशाली है, यहां यह कहने से कि सूक्ष्म कर्म का प्रभाव स्थूल से अपरिमित गुना अधिक होता है, उस स्थूल का महत्व जरा भी नहीं घटता है। वहां वही सब कुछ है। अस्तु।

अब स्पष्ट है कि योग मार्ग पर चलने वाला साधक साधना द्वारा अवश्य स्थूल कर्म की तरफ से सूक्ष्म कर्म की तरफ जाता है। अतएव यदि कहीं योगी के लिए कर्म त्याज्य भी लिखा हो (यद्यपि लेखक ने ऐसा कोई स्थल अभी तक देखा भी नहीं है) तो बहुत संभव है कि उसका अभिप्राय स्थूल कर्मों का अधिकार समाप्त करके, उन्हें त्याग करके सूक्ष्म कर्मों में प्रवृत्त करना होगा। "ततः क्लेशकर्मविनिवृत्तिः" इस योग सूत्र में व्यासजी प्रभृति सभी टीकाकार 'कर्म' शब्द का अभिप्राय कर्मवासना या सकाम कर्म लेते हैं। इसका अभिप्राय कर्म (क्रिया) का त्याग नहीं है। योगी कर्म का परित्याग कभी नहीं करता। बल्कि उसके कर्म की शक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। जब हम ऊपर यह देख चुके हैं कि योगमार्गावलंबी प्रारंभ से अन्त तक सच्चा परोपकार करता हुआ चलता है तो अब हम यूं कह सकते है कि योग का साधक प्रत्येक अवस्था में अधिक से अधिक लाभदायक (अर्थात् परोपकारक) कर्म करता हुआ उन्नत होता है और अन्त में सिद्ध होकर ऐसा परोपकार कर्म करता है। अपने वास्तविक स्थान आत्म तत्त्व में पहुँचकर वहाँ की अपरिमित शक्ति द्वारा ऐसे सर्वमंगल कारक कर्म करता है जो कि परिपूर्ण होते हैं, अबद्ध होते हैं और अतएव अपरिमित फलोत्पादक होते हैं।

योगमार्ग में प्रवृत्ति रोकने वाला तीसरा कारण है इस मार्ग में 'अपने परिचित सुख का अभाव' देखना। पातंजल दर्शन पढने से मन पर कई बार ऐसी ही छाप पड़ती है कि योगाभ्यासी पुरुष उदास, मुरझाये चेहरे वाला दुःखी सा होता होगा। विशेषतः जबकि हम योग सूत्रों में यह लिखा देखते हैं 'विवेकी पुरुष के लिए सब कुछ दुःख ही दुःख हो जाता है। (यो 2.15) कम से कम लेखक ने जब योग दर्शन पढ़ा था तो उसे जहां एक ओर उसमें वर्णित विभूतियां आदि को देखकर आकर्षण और रुचि होती थी, वहां दूसरी तरफ यह दुःखचर्चा देखकर बहुत हटाव और अरूचि होती थी। इसलिए उसने एक दिन अपने दर्शनोपाध्याय जी से अकेले में जिज्ञासुभाव से पूछा भी था कि 'स्वरूपस्थिति या कैवल्य में क्या हालत होती होगी? यह तो कुछ मालूम नहीं होता कि वहां कोई सुख व आनन्द की प्राप्ति होती होगी।' यह शंका और अरुचि कुछ न कुछ आगे भी रही, पर उसके बाद से नये विचारों को उत्पन्न करते हुए और नये अनुभव लाते हुए बारह वर्ष बीत गये हैं और अब लेखक को ऐसा कोई भय या आशंका नहीं रही है। अतः आशा है इस विषय के विचार प्रस्तुत करना अन्य लोगों के लिए भी कुछ सहायक हो सकेगा। लेखक ने एक बार ईसाइयों द्वारा योगदर्शन की निन्दा में लिखी हुई एक पुस्तिका देखी थी जिस में अन्य बातो के साथ योगदर्शन में मिलने वाली 'संसार की दुःखमयता' की बात की भी

हंसी उड़ायी गयी थी। आशा है उसका भी समाधान (यदि किन्हीं को समाधान की आवश्यकता होगी) निम्नविवेचन से हो सकेगा।

पहिले तो हमें स्पष्ट तौर पर यह देख लेना चाहिये कि योगसूत्रों में ही सुख अभीष्ट वस्तु के तौर पर कहा गया है और दुःख को योग का विघातक कहा है। योगसूत्रों में अभ्यासी को यह कहीं नहीं कहा गया है कि वह दुःखी रहे, उलटे यह कहा है 'दुःख दौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वास प्रश्वासाः विक्षेपसहभुवः' (यो सू. 1–31) जिस का यह अर्थ है कि इससे पहिले सूत्रमें जो चित्त विक्षेपक व्याधि आदि नौ विघ्न गिनाये हैं, उनके साथी ये दुःख दौर्मनस्य आदि हैं। अतः दुःख और दौर्मनस्य भी योग में बाधक हैं, यह मतलब निकला। वैसे भी यह स्पष्ट है कि जो दुःखग्रस्त होगा, दुर्मना, अप्रसन्न, उदास, चिड़चिड़ा होगा उसका चित्त कैसे एकाग्र होगा ? वह योग क्या करेगा ? प्रसन्न-चित्त, सुमना शान्त होकर ही योगसाधन का अभ्यास कार्य किया जा सकता है। अतएव योगसूत्रों में ही अन्तःशौच के फल क्रमशः गिनाते हुए जो 'सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजात्मदर्शनयोग्यत्वानि च' लिखा है इनमें सत्वशुद्धि के के बाद सौमनस्य को (जो कि दौर्मनस्य से उलटा है) को बताया है जिस के बिना अगला फल 'एकाग्र्य' नहीं मिलता। व्यास जी ने भी यहीं बात अन्यत्र कही है, क्योंकि उपरिवर्णित (1—32) सूत्र की टीका में दुःखदौर्मनस्यादि के विषय में उन्होंने लिखा है 'व्युत्थितचित्तस्यैते भवन्ति, समाहितचित्तस्यैते न भवन्ति।' फलितार्थ यह हुआ कि दुःखदौर्मनस्य से व्युत्थितता होती है, समाहितता नहीं (समाहितता के साधन सुखसौमनस्य हुए)। पर इन मानसिक दुःखों से भी पहिले योगाभ्यासी को शारीरिक दुःख हटाने चाहिये। अत एव 'व्याधि' को (1—30) सबसे पहिला अन्तराय बताया है। जो आसन लगाकर योगाभ्यास के लिये बैठना होता है, उसे भी स्थिर और सुख कहा है। (2—46) यदि आसन से शारीरिक पीड़ा होती रहे तो उस आसन से योग नहीं किया जा सकता। और यदि योगशास्त्रानुसार सुख अभीष्ट पदार्थ न होता तो संतोष नियम के पालन का फल 'अनुत्तम-सुखलाभ' (2—12) किस लिये वर्णित किया जाता ? एवं पातंजल सूत्रों से भी यह स्पष्ट है कि दुःख योगसाधन में विघातक है और सुख अभीष्ट है। इसलिये यह कल्पना ठीक नहीं कि योगाभ्यासी प्रसन्न, मुदितमुख और आनन्दवर्षक होने की जगह उदास, रुदितमुख और दुःखमूर्त्ति होता है या होता होगा।

तो फिर 'सर्वमेव दुःखं विवेकिनः' वाले सूत्र (2—15) का क्या आशय है ? यह अवश्य मननीय विषय है। यह तो स्पष्ट है कि इस सूत्र में प्रयुक्त 'दुःख' शब्द तथा 'दुःखदौर्मनस्य' इस (1—31) सूत्र में प्रयुक्त 'दुःख' शब्द समानार्थक नहीं हैं। क्योंकि ऐसा मानने पर विरोध आता है। यह संभव नहीं कि पतंजलि मुनि एक जगह दुःख को योग का विघातक (विक्षेपक) कहें और दूसरी जगह योगी के लिये 'सब के प्रति दुःखी रहने' की अवस्था को उचित बतलावें। यदि दुःख विक्षेपक भी हो (जैसा कि है) और योगी को दुःखी रहना भी ठीक हो तो उपर्युक्त व्यास जी

के वचन (व्युत्थितचित्तस्यैते भवन्ति) के अनुसार ऐसा योगाभ्यासी सदा व्युत्थित ही रहेगा, समाहित कभी नहीं हो सकेगा (समाधि कभी न पा सकेगा) ।अतः यहां दुःख शब्द का अभिप्राय कुछ और है । असल में यहां 'दुःख' शब्द का अर्थ है 'सुख का अभाव' जो कि राग के अभाव से (यो० 2-7) से जनित है । 'सुख के अभाव' के लिए दुःख शब्द प्रयुक्त किया जा सकता है । जहां इस सूत्र के 'दुःख' का अर्थ प्रचलित दुःख लेने से से योगशास्त्र में विरोध आता है, वहां इसका अर्थ 'सुख का अभाव' ऐसा लेने से शास्त्र का अर्थ अति सुसंगत होता है, क्योंकि सुखाभाव अर्थात् रागाभाव (वैराग्य) तो योग में बड़ा भारी अवश्यंभावी साधन हैं । तब इस सूत्र का अर्थ होता है कि विवेकी के लिए सब वस्तुओं में रागमूलक सुख का अभाव होता है । दूसरी तरह से भी हम देख सकते हैं कि यहां 'दुःख' शब्द प्रचलित दुःख अर्थ में नहीं प्रयुक्त हुआ है । हम जिस चीज से दुःख पाते हैं उसके प्रति हमारे अन्दर द्वेष की वासना पैदा होती है । 'दुःखानुशयी द्वेषः' (यो० 2-8) । अतः यदि विवेकी को संसार की सब वस्तुएं दुःख देती हैं (हमारे प्रचलित अर्थ में दुःख देती हैं) तो वह संसार की सब वस्तुओं से द्वेष भी करता है । किन्तु यह मानने से भी योगशास्त्र में विरोध आता है, क्योकि द्वेष योगशास्त्र में राग के साथ साथ पंच क्लेशों में गिना है (यो०- 2-3) जो कि योगी के लिए अत्यन्त त्याज्य है । योगी द्वेष किसी वस्तु से नहीं कर सकता, जैसे वह राग किसी वस्तु से नहीं करता । अतः इस सूत्र का अर्थ यह नहीं हो सकता कि विवेकी संसार की सब वस्तुओं से द्वेष करता है, इसका अर्थ यही है कि वह संसार की सब वस्तुओं में रागाभाव (वैराग्य) रखता है । इस तरह भी स्पष्ट है कि यहां दुःख शब्द का अर्थ 'दुःख' के स्थान पर 'सुख का अभाव' यही न्याय्य है ।

पर जब कि 'सुखाभाव' और 'दुःख' इस तरह एक चीज नहीं है तो सुखाभाव की जगह दुःख शब्द का प्रयोग करना क्या भ्रमजनक नहीं है ? क्या पतंजलि मुनि यहाँ पर सुखाभाव शब्द ही नहीं प्रयुक्त कर सकते थे ? इसका उत्तर यह है कि असल में यहां 'दुःख' शब्द का प्रयोग ही ठीक है, यद्यपि यह दुःख शब्द प्रचलित दुःख शब्द से बहुत भिन्नार्थक है । इस बात के स्पष्टीकरण के लिये हमें जरा सुख दुःख विषयक तत्त्वज्ञान की गहराई में उतरना पड़ेगा । वैसे तो सुख दुःख के विवेचन में पड़ना सब संसार के ही रहस्य की घोर उलझन में पड़ना है, पर हम यहां संक्षेप से अपनी काम लायक गहराई में थोड़ा सा जायेंगे, अधिक नहीं ।

जो पूर्ण योगी हैं अर्थात् पूर्ण सिद्ध हैं उनकी बात जुदा है । उनकी जो दृष्टि संसार के प्रति होती है वह न सुख की है, नहीं दुःख की । वहां सुख दुःख की पूरी और अन्तिम समता हो जाती है । अतएव यह सच है जब उनकी दृष्टि संसार के प्रति सुख की तरह दुःख से भी रहित होती है तो उस अवस्था को 'दुःख' नहीं कहा जा सकता बल्कि वह दुःख सुख से विलक्षण अवस्था-विलक्षण आनन्द की, परमानन्द की ही अवस्था होती है (जैसा कि आगे कहा जायेगा) । उस अवस्था को प्राप्त सिद्ध

के लिए संसार का संसारत्व ही नष्ट हो जाता है। संसार में दुःखता वे क्या देखेंगे? उनके लिए 'विवेकी' शब्द का प्रयोग भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि विवेक तो वहां किया जाता है जहां कि कुछ द्वैत, सापेक्षता या विषमता हो। जिसने (परमानन्द-में) पूरी और अन्तिम समता पा ली है उस के जरा भी सापेक्षता नहीं रहती। परन्तु विवेकी पुरुष के लिये [जिसने कि अभी कैवल्य (परमानन्द) प्राप्त करना है] इतनी सापेक्षता रहती है कि वह कैवल्य सुख की अपेक्षा से संसार में दुःख देखता है यद्यपि ससारके सब दुःख-सुखों में तो वह भी पूर्ण सम हो चुका होता है। स्वयं संसार में उसके लिए न कुछ सुख है और न दुःख। और इसी 'संसार संबन्धी सब सुख दुःखों में समता' प्राप्त करने के कारण ही वह कैवल्य जैसी अत्युच्च वस्तु के देखने के योग्य होता है। पर उसे देख कर जब वह इस कैवल्य के सुख की अपेक्षा में संसार को रखता है तो उसे यह दुःख प्रतीत होता है। क्योंकि वास्तव में सब सुख-दुःख सापेक्षिक ही हैं। यह ठीक है कि यह दुःख सामान्य दुःख से बहुत भिन्न है। जैसा कि अभी कहा जायगा कि ज्यों-ज्यों मनुष्य उच्च होता है त्यों-त्यों उसका दुःख और सुख सूक्ष्म और शान्त होता जाता है, परन्तु जब तक अन्तिम परम सुख (निरपेक्ष परम आनन्द) नहीं मिल जाता और उसमें समता नहीं हो जाती तब तक सूक्ष्मातिसूक्ष्म सापेक्षिक सुख दुःख रहते ही हैं। इस प्रकार का, कैवल्यसुखापेक्षाकृत दुःख विवेकी को भी होता है। उसका यह शान्त दुःख (जो कि किसी तरह कम नहीं कहा जा सकता) शान्तता के कारण या विवेकी की उच्चता के कारण उसमें द्वेष वासना नहीं पैदा करता, दौर्मनस्य (चित्तक्षोभ) को भी नहीं पैदा करता, ('इच्छाविघाताच्चेतसः क्षोभः' व्यास जी ने दौर्मनस्य का यही अर्थ किया है।) अर्थात् योगविघातक नहीं होता बल्कि केवल वैराग्य को दृढ़ करने वाला होता है अतः उसे 'दुःख' नहीं बोलना चाहिये, तो भी जब इस अवस्था को सुख-दुःख इन सापेक्षिक शब्दों में से ही कहना हो तो यह 'दुःख' शब्द से ही कहलायेगा। तात्पर्य यह कि यद्यपि यह प्रचलित अर्थों में दुःख नहीं है (उन अर्थों में तो विवेकी दुःख सुख में सम हो चुका होता है) तथापि वह उच्चावस्था का एक प्रकार का शान्त दुःख ही है और यद्यपि उसकी संसार के प्रति दृष्टि 'सुखा भाव' की (जिसमें दुःखाभाव भी शामिल है)—शान्त वैराग्य की, समता की होती है तथापि कैवल्य की अपेक्षा से यह 'दुःख' की ही है। यहां पर निम्नलिखित आख्यान स्मरण आता है जो कि व्यास जी ने 3—18 सूत्र के भाष्य में लिखा है।

भगवान जैगीषव्य को संस्कार साक्षात्कार करने से पिछले दस महासर्गों में अपने जन्मों के परिणामक्रम देखते हुए विवेकज ज्ञान पैदा हुआ था। एक बार उनसे भगवान् आवट्य तनुधर (जो कि निर्माणकाय की सिद्धि रखते थे) ने निम्न प्रकार संवाद किया—

आवट्य— आपने जो दस महासर्गों में भव्यता के कारण अपने अनभिभूत बुद्धिसत्व के प्रभाव से नरक, तिर्यक और गर्भ के दुःख देखते हुए देव मनुष्यों में बार बार जन्म लिये हैं तो वहां सुख दुःख में से अधिक क्या पाया?

जैगीषव्य—दस महासर्गों में भव्य होने के कारण अनभिभूत बुद्धिसत्व वाला रह कर नरक, तिर्यक, गर्भ दुःखों को देखते हुए मैंने बार बार देवमनुष्यों में उत्पन्न होकर जो कुछ अनुभव किया, वह सब मुझे दुःख ही दीखता है।

आवट्य—आप आयुष्मान का जो प्रधानवशित्व (देखो सूत्र 3-49) (वह ऐश्वर्य जिससे कि प्रधान को वश कर करके जैसे चाहे वैसी कायेन्द्रियसंपत दूसरे को दे सकता और अपने भी जितने चाहे शरीर बना सकता है) तथा 'अनुत्तम' संतोष सुख था क्या उसे भी दुःख में ही गिन लिया ?

जैगीषव्य—विषय सुख की अपेक्षा से ही संतोष सुख को अनुत्तम कहा है, पर कैवल्य सुख की अपेक्षा से तो वह दुःख ही है। यह (संतोष) बुद्धिसत्व का धर्म है जो कि त्रिगुण है, और सब त्रिगुण तो हेय पक्ष में हैं।

तात्पर्य यह है कि जब तक कि अन्त में कैवल्य सुख-में अन्तिम शान्त सुख में-भी समता नहीं हो जाती, तब तक भी सूक्ष्म सापेक्षिक सुख दुःख रहते हैं, सर्वथा दुःखाभाव नहीं होता। मनुष्य की उन्नति का मार्ग कुछ ऐसा सा है कि वह ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता है त्यों-त्यों अशान्त सुखों दुःखों को सम करके अगले उच्चतर शान्त सुख को पाता है जिसकी कि अपेक्षा से अब तक का सब कुछ (सम हुए सब दुःख सुख) एक शान्त दुःख में परिणत हो जाते हैं। (यह भी स्पष्ट है कि यह अगला शान्त सुख और दुःख पहिले से विस्तृत और ध्रुव भी होते हैं)। फिर इस शान्त दुःख और शान्त सुख में भी समता पाकर और अगले अधिक सूक्ष्म शान्ततर (जो कि विस्तृत और ध्रुवतर भी होता है) सुख को प्राप्त होता है जिसकी कि उपेक्षा से अब तक का सब कुछ एक अतिश्रेष्ठ शान्ततर दुःख में हो जाता है। अतएव वास्तव में कैवल्य को देखने वाले विवेकी के लिये सब संसार एक प्रकार का (उच्च) दुःख हो जाता है, जैसा कि पतंजलि मुनि ने कहा है; यद्यपि हमारे लिये वह केवल 'सुखाभाव' ही कहा जा सकता है क्योंकि हमें उस विलक्षण दुःख का (जो कि एक शान्त किन्तु बड़ा और गहरा दुःख होता है) कुछ भी अनुभव नहीं होगा।

असल में ऊपर चढ़ते हुए हमारे सुख दुःखों का मतलब ही बिलकुल बदलता जाता है, इतना बदलता जाता है कि नीचे का पुरुष उच्च पुरुष के सुख दुःखों की कल्पना तक नहीं कर सकता, यद्यपि सुख दुःख के सामान्य लक्षणों (अनुकूल वेदनीयत्व और प्रतिकूल वेदनीयत्व) के अनुसार वे कहाते सुख या दुःख ही हैं। अतः यह भी स्पष्ट है कि मनुष्य की उच्चता की पहिचान यह नहीं है कि उसमें सर्व प्रकार के सुख दुःखानुभव का अभाव हो गया या नहीं (क्योंकि सूक्ष्म सापेक्षिक सुख दुःख तो अन्त तक बने रहते हैं) पर यह है कि उसके दुःख सुख किस प्रकार के हैं। मनुष्य ज्यों-ज्यों उच्च भूमिकाओं में पहुंचता है, उसका सुख दुःख नये नये प्रकार का होता जाता है। उसकी इस उच्चता के साथ क्यों कि उसके सुख दुःखों का आपेक्षिक भेद करने वाला अपेक्षा बिन्दु भी ऊंचा होता जाता है इसलिए अपेक्षा बिन्दु की उच्चता से उसका अगला अगला सुख अधिक अधिक विस्तृत, अधिक अधिक शान्त और फलतः

अधिक अधिक ध्रुव होता जाता है। अतएव अन्तिम परम आनन्द (जिसकी प्राप्ति परम लक्ष्य है) परम शान्त है, इतना विस्तृत है कि सर्व व्यापक ('भूमा वै सुखं नाल्पे सुखमस्तीति') है और बिलकुल ध्रुव है अर्थात् अक्षय व शाश्वत है।

एक नवजात शिशु माता के अपने से जरा दूर होते ही बुरी तरह रोने लगता है और जरासी बात से खिलखिला उठता है। आगे, आठ दस वर्ष का बालक इतनी छोटी-छोटी बातों पर दुःखी सुखी नहीं होता। उसका अपेक्षा-बिन्दु कुछ ऊंचा हो जाता है, पर वह भी पेंसिल खो जाने से दुःखी होता है, तसवीरें देखकर सुखी होता है। फिर एक पूर्ण युवा मनुष्य को देखिये जो कि पेंसिल खोने और तस्वीर देखने के जैसे दुःख-सुखों में प्रायः सम हो जाता है, पर वह अपने किसी प्रिय सम्बन्धी के मरने पर दुःखी होता और एकदम बहुत सा धन पा जाने से सुखी होता है। दुःख-सुखों में भेद होते जाने के इन उदाहरणों को प्रायः हम सब जानते हैं। इनमें भी यह स्पष्ट है कि अबोधावस्था के सुख दुःख छोटे-छोटे 'अल्प, अल्प' होते हैं, अचिरस्थायी होते हैं, अधिक उद्वेगयुक्त और अशान्त होते हैं, आगे-आगे ये गम्भीर शान्त होते जाते हैं, अधिक व्यापक (भूमा) और चिरस्थायी होते जाते हैं। हम यह भी समझते हैं कि आगे जो विशाल हृदय उच्च पुरुष होते हैं वे अपने संबन्धियों की मृत्यु या विवाहोत्सवों से कुछ भी दुःख या सुख नहीं अनुभव करते, पर वे देश के दुःख से दुःखी होते हैं और सर्वजन कल्याण के कार्य को देखकर सुखी होते हैं। एवं इनसे भी उच्च 'अक्षिपात्रकल्प' विवेकी होते हैं जो कि इन से भी सूक्ष्म सुख दुःखों को अनुभव करते हैं। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश हम में से किसे दुःखी करते हैं ? पर ये ही पांच योगशास्त्र में क्लेश हैं (यो. 2—3)। योगी के लिए सब दुःखों की जड़, महादुःख ये ही हैं। पर हमारे तो सब सुख इन्ही अविद्या आदि के सहारे हैं। हमारी और विवेकी की सुख दुःख कल्पना ही परस्पर बिल्कुल उल्टी हो जाती है। इसी तरह विवेकी की प्रसन्नता भी हमसे सर्वथा भिन्न है। हम तो विषयभोग के अशान्त, उत्तेजक क्षणिक सुखों में प्रसन्न होते हैं। पर योग में चित्त की एकाग्रता, स्वच्छता, प्रशान्तवाहिता का नाम चित्त प्रसादन (चित्त की प्रसन्नता) है। यह चित्त-प्रसादन क्या है ? यह है प्रचलित (हमारे) दुःख सुखों से अप्रभावित रहना, उनमें सम, शान्त रहना। विवेकी को हमारे ये सुख जो कि परिणाम में तापकारक हैं तथा हमारे ये दुःख जो कि सीधे ही ताप कारक हैं दोनों एक जैसे सम दीखते हैं। मन की प्रशान्तता समाहितता (उनकी प्रसन्नता) की अपेक्षा में दोनों ही एक बराबर दुःख दीखते हैं। वह आगे बढ़ता है तो उसे सभी (सुख के और दुःख के) संस्कार तक दुःख दीखने लगते हैं क्योंकि तब उसे ऋतंभरा प्रज्ञा (जिसके संस्कार अन्य संस्कार-प्रतिबन्धी होता है) लानेवाली सबीज समाधियों का सुख मिलने लगता है। इस सुख की अपेक्षा संस्कार मात्र दुःख दीखने लगते हैं। एवं पर वैराग्य हो जाने पर गुणमात्र (तीनों गुण) अर्थात् सब प्रकृति (यो॰ 1—16) ही दुःख दायक हो जाती है, क्योंकि तब निर्बीज समाधि द्वारा कैवल्य का परम सुख दीखने लगता है

और त्रिगुणातीत होने में ही एकमात्र चैन पर शान्ति (आनन्द) दीखती है। एवं जब तक कुछ भी सापेक्षता है तब तक सूक्ष्मातिसूक्ष्म सुख दुःख बने रहते हैं। अबाध परमशान्त सर्वव्यापी भूमा शाश्वत सुख तभी मिलता है जब कि सापेक्षता बिल्कुल हट जाती है, पूर्ण समता हो जाती है।

सापेक्षिक सुख के साथ तो (वह चाहें कितना उच्च सुख क्यों न हो) उतना ही सापेक्षिक दुःख अवश्य रहता है। जो सर्वथा दुःख रहित परम सुख है वह निरपेक्ष है। अतएव उस निरपेक्ष सुख को अन्यों से जुदा करने के लिए कई विद्वानों ने उसका नाम 'आनन्द' रखा है, उस के लिए वे 'सुख' शब्द का प्रयोग नहीं करते।

अतः अन्त में हमें सुख दुःख के विषय में यह ज्ञान पाना है कि सापेक्षता ही दुःख है अर्थात् जब तक सापेक्षता का द्वन्द्व नहीं मिटता तब तक निर्बाध्य शाश्वत सुख (आनन्द) नहीं मिलता जो कि निरपेक्ष है। निरपेक्ष होने का अर्थ होता है स्वाश्रय होना, पराश्रय बिल्कुल न होना, क्योंकि सापेक्षता तो पराश्रय के साथ ही रहती है। अतः यह सापेक्षता तब तक नहीं हटती (स्वाश्रयता तब तक नहीं आती) जब तक कि हमारा सुख किसी बाहर की, हम से जुदा वस्तु का आश्रय करता है। 'सर्व परवशं दुःखं सर्वमातमवशं सुखम्' यह मनुवचन सुख दुःख के मार्ग पर अन्त तक सत्य है। जिन पुरुषों का सुख बाहर के स्थूल विषयों पर अवलंबित है (अर्थात् जिनके अपने अन्दर अपना स्वाश्रय सुख कुछ नहीं) वे इन नाना विषयों के मारे-मारे इधर उधर भटकते फिरते हैं, क्योंकि उनका क्षणिक सुख जल्दी खत्म होकर उन्हें गहरे दुःख में ढकेलता जाता है। एवं इनसे तंग आकर इन्हें इन अशान्त सुख दुःखों में सम होना पड़ता है, गम्भीर होना पड़ता है और वे किसी ऐसे सुख की तलाश में लगते हैं जो कि पराश्रय न होकर स्वाश्रय हो, स्ववश हो, स्वाधीन हो। तब मनुष्य को यह उच्च ज्ञान मिलता है कि सब दुःख सुख मेरे मन का ही बनाया है, बाहर की ओर किसी वस्तु के आश्रित नहीं है। पर आखिर मन भी अपने से (आत्मा से) जुदा चीज है अतः मुमुक्षु को उस उच्च अवस्था से भी अपनी अभीष्ट शान्ति, आनन्द नहीं मिलता। एवं अन्त में जब तक "कैवल्य का सुख", "ब्रह्मका आनन्द" यह भी दीखता है तब तक भी हमारा सुख परवश रहता है। पूरा आतमवश (स्वाश्रय) सुख शाश्वत निरपेक्ष आनन्द तब मिलता है जब कि "कैवल्य के सुख" को देखने (उसके लिये तरसने) की जगह वह 'स्वयं केवली' हो जाता है या ब्रह्म के आनन्द को देखते हुए उसकी इच्छा करने की जगह उस आनन्द में मग्न हो जाता है (जिसे कि 'स्वयं ब्रह्म हो जाना' भी कहा जाता है)। यह है पूर्ण स्वाश्रय सुख। एवं योगी को यह महान् सत्य सूर्य की तरह स्पष्ट जानना होता है कि सुख सब अपने में है, स्व में, आत्मा में है, कहीं भी बाहर नहीं। जब तक मनुष्य अपना सुख अपने से बाहर, अपने से दूर विषयों में ढूँढता रहता है तब तक वह अन्दर से सुख से खाली (शून्य) रहता है, पर ज्यों ज्यों वह अपने अन्दर को आता है (अर्थात् बाह्य वस्तुओं में उसके लिए सापेक्षिक सुख दुःख हटता जाता है) त्यों त्यों उसमें आत्म (स्वाश्रय) सुख भरता

जाता है, उसका सुख निरपेक्ष और अन्दर गहरा होता जाता है और अन्त में जब अपने आनन्द रूप सर्वानन्द स्रोत आत्मा को देख लेता है तब उसमें पूर्ण सुख भर जाता है। वह आनन्द का पूर्ण समुद्र बन जाता है।

एवं योगमार्ग—जो अपने अन्दर जाने का मार्ग है—पूर्ण सुख को जल्दी से जल्दी पहुँचाने वाला ऐसा मार्ग है जिस पर चलते हुए आगे आगे नये नये, श्रेष्ठ श्रेष्ठ, ध्रुव ध्रुव सुख प्राप्त होते जाते हैं जिनकी कि अपेक्षा में निचले निचले सुख फीके होते जाते हैं। इसलिये इस मार्ग पर सुख से वंचित होने का भय करना कितना अज्ञान है! यह ठीक है कि अपने निचले अशान्त, उद्विग्न, क्षणिक सुखों और दुःखों की समता बिना किये अगला शान्त आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता और इस समता को प्राप्त करने के लिए हमें इन अध्रुव दुःखों को सहना-खुशी से सहना होगा, यही तप है। तथा इन अध्रुव सुखों से हर्षित होना छोड़ना होगा, इनमें वैराग्य पाना होगा। बाहर की चीजों में राग या द्वेष होना इस बात का चिह्न है कि हम अन्दर से भरे नहीं हैं— हम में स्वाश्रय सुख नहीं है। जब पूरा दीख जाता है कि बाहर किसी वस्तु में सुख दुःख नहीं हैं—वे सब चीजें हमारे इस विषय में बिलकुल खाली हैं अर्थात् हम अपने अन्दर से भर जाते हैं तो बाहर की किसी भी चीज में संसार भर में राग या द्वेष किस लिये रह सकता है? पर हम अज्ञानवश यह नहीं समझते कि हमारे ये रागद्वेष वाले सांसारिक, विषयाश्रय क्षणिक सुख उस निरपेक्ष स्वाश्रय अक्षय परम सुख के पाने में बाधक हैं। अतः हम एक तरफ अपने इन परिचित सुखों को त्यागने से डरते है पर दूसरी तरफ सत्य यह है कि इन्हें बिना त्यागे (बिना समता पाये) अगला सुख दीखता तक नहीं और बिना देखे उसके पाने के लिए ये कठिन यत्न कोई क्यों करने लगा? यही सब मुश्किल है। अतः किसी तरह मनुष्य को यह अनुभव हो जाना चाहिये कि इन स्थूल सुख और दुख की समता पाना अगले आनन्द के लिए आवश्यक है तथा वास्तव में सब सुख अन्दर ही है। इन दो अनुभवों को पाकर ही मनुष्य योग में प्रवृत्त हो सकता है और शाश्वत सुख पा सकता है। इन दो सत्यों में अटल श्रद्धा ही वह वस्तु है जिसके कारण योगाभ्यासी सदा प्रसन्नचित्त और प्रफुल्ल वदन रहता है। यह पूरी तरह जानकर कि इसी तरह अगला अभीष्ट आनन्द मुझे मिलेगा (बल्कि मिलता जाता है) वह अपने दुःखों को खुशी से सहता हुआ, और सुखों की कुछ परवाह न करता हुआ हंसता हुआ आगे बढ़ता जाता है और उसकी यह शान्त प्रसन्नता (सौमनस्य) उसे अधिक अधिक योग के योग्य बनाती जाती है। हमारी तरह योगी पर भी सुख की तरह दुःख तो हर समय आते ही रहते हैं बल्कि उसके शान्त दुःख और सुख दोनों हमारी अपेक्षा गहरे और चिरस्थायी होते हैं, तो भी वह सदा प्रसन्न इसलिये रहता है क्योंकि उसकी प्रसन्नता इन सुख दुःखों पर आश्रित नहीं होती। इनमें तो वह सम रहता है। संसार के सापेक्ष अध्रुव दुःखों से वह अपने को दुःखी नहीं होने देता (यद्यपि उस पर हमारी अपेक्षा बड़े और गहरे दुःख आते हैं) ऐसा यत्न करता है कि उनके कारण अपना

मुख तक म्लान होने से रोकता है, एवं संसार से सापेक्ष अध्रुव सुखों से हर्षित नहीं होता, फूलता नहीं (यद्यपि उसको हमारी अपेक्षा बड़े भारी सुख मिलते हैं) उनके कारण अपने मुख पर प्रसन्नता नहीं आने देता, परन्तु जो एक निरपेक्ष, स्वाश्रय (सदा अपने पास), ध्रुव आनन्द है उसी के कारण (प्रारम्भ में श्रद्धा द्वारा उसे देखता हुआ और फिर दिनों दिन उसमें पहुँच मग्न होता हुआ) सदा, निरन्तर आनन्दयुक्त रहता है। उसकी यह प्रसन्नता चूँकि वाह्य अल्प वस्तुओं से पैदा न होने के कारण जहां क्षणिक नहीं होती वहां अशान्त उद्विग्न, उछलने वाली भी नहीं होती, अतः कई लोग भ्रम में पड़ जाते हैं। उन्हें यह दिखाई नहीं पड़ती। बात यह है कि सदा स्थूल दृष्टि से देखने वाले लोगों के लिए अभी तक असली तापमाप (अर्थात् दुःखमापक) यन्त्र नहीं बना है जिससे कि भौतिकतया दीख जाया करे कि इस मनुष्य में कितना दुःख (ताप) है और कितना सुख (ह्लाद) है। इसलिये ऐसे लोग प्रायः उन मनुष्यों को जो अन्दर दुःख से भरे होते हैं, सुखी समझा करते हैं और जो सुख से पूर्ण होते हैं उनकी तरफ उन्हें शंका तक नहीं होती कि ये सुखपूर्ण होंगे। पर सत्य यह है कि जब सुख अन्दर भरता जाता है तो उसका छलकना-उछलनाबंद होता जाता है। अतः उच्च सुख को सूक्ष्मदृष्टि वाले लोग पहिचानते हैं, सब नहीं। यह कहने की जरूरत नहीं कि वैसे चारों तरफ प्रसन्नता प्रसारक प्रभाव इस शान्त सुख का ही होता है। उछलने वाला अशान्त सुख उच्च नहीं होता इसीलिये साहित्य शास्त्र में भी जो कई प्रकार का हास्य बताया है उसमें 'अट्टहास' को निकृष्ट तथा 'स्मित' को सर्वोत्कृष्ट कहा है। जैसे नदी जब बढ़ने लगती है तो उसमें छोटी-छोटी बहुत सी तरंगें शोर करती हुई उठने लगती है, जब वह बहुत बढ़ती है तो उसकी तरंगें बहुत बड़ी-बड़ी किन्तु शान्त उठती हैं और जब समुद्र की तरह बिलकुल भर जाती है तो तरंगें ही बन्द हो जाती है। इसी तरह योगाभ्यासी के भरते हुए हृदय सरोवर में सापेक्ष सुख दुःखों की तरंगें उठती हैं और ये आगे-आगे बढ़ी हुई शान्त तरंगें बनती जाती हैं जब तक कि वह हृदय 'निस्तरंग महोदधिकल्प' नहीं हो जाता। यह स्वाश्रय आनन्द की पूर्णता है जिसे सदा देख सकने के कारण श्रद्धामय योगी निरन्तर प्रसन्न रहता है और जिसकी पूर्णता हो जाने पर ऐसे आनन्दपूर्ण सिद्ध के लिए सब संसार केवल लीला और खेल हो जाता है।

इस प्रकरण को समाप्त करते हुए योगमार्ग पर आने वाले आनन्दों का वाचिक वर्णन लिखने की कुछ आवश्यता नहीं प्रतीत होती। इन आनन्दों के क्रमिक विकास का व्यौरा देखना हो तो तैत्तिरीय आदि उपनिषद की 'आनन्दस्य मीमांसा, में देख लेना चाहिये जहां अगले-अगले लोक का आनन्द शत-शत गुणा बताया है। सोमरसास्वादन आदि द्वारा मस्त कर देने वाले इन आनन्दों का वर्णन वेद में भी बहुत है। श्वेताश्वतरादि बहुत सी उपनिषदों में स्थल-स्थल पर इनका वर्णन है। गीता में 'यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते' इत्यादि प्रकरण में योगानन्द का वर्णन है और मध्यकालीन कबीर, नानक, दादू आदि बहुत से सन्तों में सांसारिक

सुखों को नीरस कर देने वाले योगानन्द और ब्रह्मानन्दों के मधुर गीत गाये हैं—

कबीरा आया फिर गया, फीका है संसार।

अन्त में जो आनन्द स्वरूप की प्राप्ति है उसका तो वर्णन ही कौन कर सकता है ? वैसे तो सभी अननुभूत उच्च सुखों के लिये यही सत्य है कि—

(समाधिनिर्घूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत्।)

न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते।

अतः यही कहना होता है कि पाठकों को स्वयं ही इस मार्ग पर चल कर इनका अनुभव करना चाहिये।

जिसे योग मार्ग के विषय में उपर्युक्त तीन शंकायें नहीं हैं अतएव जो योगमार्ग पर चलने का इच्छुक है, उसके सामने भी जो एक भयजनक कठिनाई आती है वह है 'गुरु का न मिलना'। वास्तव में सद्गुरु की देख रेख में बिना रहे योगसाधन करने लगना बड़ा खतरनाक है, विशेषतया हठयोग की क्रियायें करने लगना। पर इसका यह मतलब नहीं कि जब तक गुरु न मिलें तब तक बैठे रहना चाहिये या तब तक योग का प्रारम्भ हो ही नहीं सकता। जो सचमुच योग जिज्ञासु है, उसे यदि पता लगेगा कि योग की आधार भूमि 'यम नियम' हैं तो वह यम नियमों का पालन तुरन्त शुरू कर देगा। यम नियमों का इतना महत्व है कि कई अधिकारी तो केवल यम नियमों के पूर्ण पालन करने का यत्न करते हुए ही अगली-अगली भूमिका को प्राप्त कर सकते और सिद्धि को प्राप्त हो सकते हैं। अतः जहां तक यम नियमों के स्वरूप को समझ सके, वहां तक उनका पूरी तरह पालन करना शुरू कर देना चाहिये और इस श्रद्धा के साथ कि 'जब मेरे कल्याण के लिए यह आवश्यक होगा तो गुरु भी स्वयं मिल जायेंगे' गुरु की तलाश में भी रहना चाहिये। वास्तव में एकमात्र व सबके अन्तिम गुरु परमात्मा ही हैं। इसीलिये हम देखते हैं कि पातंजल दर्शन में 'पूर्वेषामपि गुरु' परमात्मा का ही उल्लेख है, अन्य मनुष्य-गुरु की आवश्यकता का वर्णन नहीं है जैसा कि पीछे के हठयोग आदि के ग्रन्थों में गुरुमहात्म्य वर्णित है। अतः परमात्मा में श्रद्धा स्थिर करके किसी मनुष्य गुरु के लिये अधीर नहीं होना चाहिये अर्थात् न मिलते देख कर दुःखी नहीं होना चाहिये। जब हमारी ज्ञान की अवस्था किसी मनुष्य गुरु के ग्रहण करने के योग्य हो जाती है या जब हमारे अग्रिम कल्याण के लिए मनुष्य गुरु की सहायता पाना आवश्यक हो जाता है तो गुरु अवश्य मिलते हैं यह परमात्मा की सृष्टि का नियम है, इसमें पूरा विश्वास रखना चाहिये। ऐसी अवस्था में सुदूरस्थ गुरु भी आ मिलते हैं। और इसके विपरीत यदि हमने यम नियमों के पालन तथा अन्य स्वयं प्राप्त साधनों के उपयोग से अपने अंतःकरण को शुद्ध नहीं किया है तो समीप विद्यमान गुरु से भी हम लाभ नहीं उठा सकते अर्थात् समीपस्थित गुरु भी हमें नहीं मिलते। अतः जिज्ञासु को चाहिये कि वह यम नियमों का पालन पूरे दिल से करना शुरू करे तथा अन्य भी जो कोई स्पष्ट निर्दोष साधन (इन्द्रियों को विषयों से जुदा करने के, मनःशुद्धि के तथा

मनोनिरोध आदि के साधन) विदित होवें, उन्हें भी करना शुरू करें तो समय पाकर उसे प्राणायाम, धारणा, ध्यान, समाधि के उत्तम साधन भी (यदि वे उस के लिये आवश्यक होंगे) किसी गुरु से मिल जायेंगे। अतः ऐसा योगजिज्ञासु जिसकी परम गुरु परमात्मा में श्रद्धा है (और योग जिज्ञासु ऐसा ही होना चाहिये) न तो अधीर होकर केवल लिखी हुई बिना समझी बातें या किसी अयोग्य 'गुरु' की बातें मानकर किसी ऊट पटांग साधन में लगेगा और नहीं निराश होकर "मुझे कोई गुरु नहीं मिलते, मेरा क्या होगा ?" इस तरह भयभीत होगा, किन्तु धीर और आशापूर्ण रह कर अपने सहज प्राप्त ज्ञान के अनुसार यम नियमादि का साधन शुरू कर देगा।

योग का क्षेत्र बड़ा विस्तृत और अद्भुत है ! इस क्षेत्र में वे ही विशाल हृदय वीर पुरुष सफलता पूर्वक प्रविष्ट हो सकते हैं जो कि उपनिषद् के शब्दों में 'धीर' हैं। आजकल कई भारतवासी भी पाश्चात्य लोगों की नकल में 'बाईसिकलों पर दुनिया की सैर' जैसे साहसपूर्ण आरम्भ Expe ition) करने लगे हैं। ये भी कुछ जीवन के चिह्न हैं, अतः अच्छे हैं। परन्तु भारतवासियों को शोभा देने वाले साहसारंभ तब होंगे जब कि कुछ नवयुवक किन्हीं योगोक्त सिद्धियों को प्रत्यक्ष करने के लिये अपने जीवन अर्पण करते हुए कभी सफलता दिखलायेंगे। वे ही सच्चे भारतीय साहसारंभ होंगे। यहां यह प्रश्न छेड़ने की कुछ आवश्यकता नहीं कि सिद्धियों (योगविभूतियों) में फंसना चाहिये या नहीं। लेखक की नम्र सम्मति में कुछ सिद्धियां तो मनुष्य के उन्नति के मार्ग में स्वयमेव आती हैं या आनी चाहिये और जब ये आ जायेंगी तब यह प्रश्न होगा कि वह उनमें फंसे या उन द्वारा परमात्मा की इच्छा पूरी करे। हमारा अभी से सिद्धियों को घृणा की दृष्टि से देखना बहुत कुछ 'अंगूर खट्टे हैं' की कहावत चरितार्थ करना है। वहां पहुँचकर यदि वे खट्टी दीखेंगी तो खायेंगे (भोगेंगे) नहीं, तब जो कुछ उनका सच्चा उपयोग होगा (जिसके लिए वे बनी हैं) वह करेंगे। पर एक सर्वोत्तम प्रकार की शक्तियों के तौर पर, इन शक्तियों के पाने का प्रबल और अश्रान्त यत्न तो धार्मिक धीर पुरुषों को अवश्य करना चाहिये। कम से कम यह यत्न कभी अश्लाध्य नहीं हो सकता। इसलिये यदि किन्हीं नव-युवकों को इस दुर्गम क्षेत्र में जाने की महत्वाकांक्षा उत्पन्न होती हो तो उन्हें यह खटका छोड़कर कि वे इस मार्ग पर 'स्वार्थमय' या अपरोपकारी हो जायेंगे (बल्कि इस पूरे निश्चय के साथ कि इसमें बीतता हुआ एक एक क्षण परोपकारमय है) इस अधिकाधिक सूक्ष्मकर्मों के प्रबल कर्ममय क्षेत्र में पूर्ण श्रद्धा से कूद पड़ना चाहिये। यह उत्तरोत्तर बढ़ते हुए आनन्द का (बड़ा ही रोचक) मार्ग है। और इस मार्ग का सच्चा पथिक शीघ्र ही परम गुरु प्रभु की छत्रच्छाया में आ जाता है। अतः बाह्य भयों और दुःखों को साक्षात् आत्मकल्याण रूप देख सकने वाले वीरों के लिए तो इस मार्ग पर कुछ भी भय नहीं है, सब कल्याण ही कल्याण है।

परमात्मा करें कि यह भारत देश फिर से योगियों की लीला भूमि बन सके।

———

योग-भय

यह लेख 'अदिति' के वर्ष 3, अंक 3 (अगस्त 1945) में छपा था। यही 'तरंगित हृदय' और 'योग विचार' (श्री अरविन्द योग पर अनुभवपूर्ण लेखों का संग्रह) में भी संकलित है।

—सम्पादक

मनुष्य पहले ही नानाविधि भयों से आक्रान्त है। रोग-भय, मृत्यु-भय, धननाश-भय, निर्बल हो जाने का भय, नौकरी छिन जाने का भय, दूसरे के अप्रसन्न हो जाने का भय, अपमान भय, पतन भय आदि-आदि न जाने कितने-कितने प्रकार के भय हैं, जिनसे पहिले ही मनुष्य आक्रान्त, पीड़ित और त्रस्त रहता है। इन अनगिनत भयों में कम से कम एक और भय की वृद्धि हो गयी दीखती है।

'योग-भय' नाम से इस नये भय का नाम आपने चाहे सुना हो या न सुना हो, पर इस भय से पीड़ित व्यक्ति तो मैंने बहुत से देखे हैं।

एक अध्यापक अपने विद्यार्थी का सी. आई. डी. की तरह इसलिए पीछा करते और पता लगाते रहते थे कि वह कहीं योग की बातें करने वाले अमुक व्यक्ति के पास तो नहीं जाता। ऐसे अनेक माता-पिताओं को जानता हूँ, जो बड़ी ईमानदारी के साथ अपने पुत्रों को 'जीवन बर्बाद करने वाले' इन योगाभ्यासियों के 'फन्दे' में पड़ने से बड़े यत्न से बचाना चाहते हैं, यद्यपि वे धर्म तथा ईश्वर की बड़ी-बड़ी बातें और बढ़-बढ़कर करते हैं। एक महानुभाव अपने एक विद्वान् सम्बन्धी के विषय में बड़े चिंतित थे क्योंकि उन्हें कुछ ऐसा दीखता था कि उसे 'पांडिचेरी की बीमारी' होती जा रही है। मेरे एक मित्र की पत्नी अपने पति के धौति, नेति (हठ योग की शारीरिक शुद्धि के उपकरण) आदि वस्तुओं को मौका पाकर छिपा देती या फेंक देती थी। कई पति भी ऐसे देखे गए हैं जो कहते हैं कि उनकी पत्नी न जाने क्या 'वाहियात' योग-वोग करने लगी है और वे डरते हैं कि वह अमुक प्रसिद्ध साधु संन्यासियों के पास इनके लिए क्यों जाती है।

योग से दुनियावी सम्बन्ध विच्छेद हो जाने का जो एक भय होता है वह तो है ही, पर उसके अतिरिक्त भी बहुत से लोग बिना कुछ जाने ही वैसे ही योग से हौवे की तरह या 'एक बला' की तरह डरते हैं।

मैं यह नहीं कहना चाहता कि योग से किसी को भी और किसी अवस्था में भी डरना नहीं चाहिए। पर यह जरूर कहना चाहता हूँ, और इसके कहे जाने की बहुत जरूरत है कि अन्य भयों की तरह यह योग-भय भी प्रायः काल्पनिक होता है,

अज्ञान के कारण होता है। जैसे साधारण धारणा यह है कि योग में प्रवृत्त होने पर दुनिया का सब सुख छिन जाता है, परन्तु योग से जो अपार अक्षय सुख का द्वार खुल जाता है, उसे वे नहीं जानते। इसी तरह लोग योग में पड़ अपना घर कुटुम्ब खत्म हो जाने से डरते हैं, पर यह जरूरी नहीं है और यदि यह खत्म होता है तो उससे बहुत अधिक विशाल तथा उससे बहुत अधिक सच्चे और दृढ़ प्रेम से युक्त घर कुटुम्ब मिल जाता है। बहुत से लोग योग मार्ग को बिल्कुल सूखा नीरस समझते हैं, पर उन्हें ठीक योग मार्ग का पता न होने से ही वे ऐसा समझ बैठते हैं। सच तो यह है कि जिस योग में उत्तरोत्तर सरसता, सुख, सौन्दर्य, स्वास्थ्य, शांति नहीं, तो उस योग में कुछ कमी है, गलती है। वह वास्तविक योग नहीं है।

योग के नाम से डरने वाले एक मेरे सुशिक्षित मित्र ने जब एक बार श्री अरविन्द के योग-आश्रम को जाकर अच्छी तरह देख लिया तब उनका योग विषयक वह महाभय जाता रहा।

उन्होंने तब कहा 'यदि योग-जीवन यह है, योग का परिणाम यह है, तब तो योग बड़ी अच्छी और अत्यन्त उपयोगी वस्तु है, यही है जिसकी मनुष्य को वास्तव में आवश्यकता है।'

तो भी इसका यह मतलब भी नहीं कि योग से किसी को हानि नहीं होती या किसी को कुछ खतरा नहीं हो सकता। गलत तरीके से योग करने के कारण बिगड़े हुए, क्षत विक्षत, आहत तथा विक्षिप्त हुए लोग हमें जगह-जगह मिल सकते हैं। बहुत बार लोग विपरीत भाव से ही योग करते हैं। उनके लिए 'मातृवाणी' में कितना ठीक कहा गया है—

"खतरे और कठिनाइयां तो तब उपस्थित होती हैं जब कोई भगवान् के लिये योग साधना नहीं करता, बल्कि इसको किसी शक्ति की प्राप्ति के लिए करता है और योग की आड़ में किसी महत्वाकांक्षा की पूर्ति करना चाहता है। यदि तुम महत्वाकांक्षाओं से छुटकारा नहीं पा सकते तो इसका स्पर्श मत करो। यह आग है जो जला देती है।"

परन्तु यदि हम ठीक तरीके से और ठीक भाव से योग करते हैं तो यही आग हमें तीव्र वेग से मानव जीवन के परम ध्येय, उच्चतम कल्याण की तरफ ले जाती है क्योंकि तब भगवतीमाता की कृपा हम पर रहती है और तब हमारे लिये भय का कोई भी कारण नहीं रह सकता। इसलिये श्री अरविन्द हमें परम आश्वासन देते हुए कहते हैं—

"और जब भगवती माता का वरद और रक्षक हाथ तुम्हारे ऊपर होगा तब फिर कौन है जो तुम्हारे ऊपर उंगली उठा सके या जिससे तुम्हें भय करना पड़े? इसकी अत्यल्प मात्रा भी तुम्हें सब विघ्न बाधाओं और संकटों के पार कर देगी; इसकी पूर्ण सत्ता से घिरकर तुम अपने रास्ते पर निरापद आगे बढ़े चले जा सकते हो क्योंकि यह रास्ता माता का है, यहाँ किसी विभीषिका की चिन्ता नहीं, किसी शत्रु का भय नहीं, वह चाहे कितना ही बलवान हो, इस जगत् का हो या किसी अन्य

अदृश्य जगत् का। माता के वराभयहस्त का स्पर्श कठिनाइयों के सुयोग में, विफलता को सफलता में और दुर्बलता को अविचल वल में परिणत कर देता है। कारण मां भगवती की दया भगवान् की अनुमति है और आज या कल उसका फल निश्चित है—पूर्व-निर्दिष्ट है, अवश्यंभावी और अकुण्ठ है।'

और असल में देखें तो योग में भय की वात ही क्या है, क्योंकि योग तो एक अत्यन्त स्वाभाविक वस्तु है। "सब जीवन ही योग है"—श्री अरविन्द के इस वचन को जितना दोहराया जाय उतना थोड़ा है। योग से डरना जीवन से डरना है, मृत्यु की तरफ जाना है। अधिक प्रचलित अर्थ में कहें तो भगवान् की तरफ जाने के लिए जीवन बिताना ही योग है। वैसे तो श्री अरविन्द की विशाल दृष्टि में, हर एक मनुष्य ही जाने अनजाने भगवान् की ओर ही जा रहा है, विना जाने योग कर रहा है। पर वह जब आत्मा में जागकर भगवान् को पाने के लिए यात्रा शुरू करता है तब प्रत्यक्ष 'योग करने वाला' हो जाता है तो योग का अर्थ है। तीव्र गति से परमेश्वर की तरफ यात्रा करना। मानो पैदल या बैल गाड़ी में यात्रा करने के स्थान पर रेल पर या हवाई जहाज से भगवान् की तरफ यात्रा करना। सचमुच योग द्वारा कई जीवनों का काम एक जीवन में या कुछ वर्षों में पूरा हो जाता है।

यह ठीक है कि तीव्रगति से यान पर सवारी करने में खतरा भी अधिक हो सकता है। पर यह जरूरी नहीं है। यदि अच्छे चालक द्वारा चलाये जाने वाले दृढ़ और उत्तम यान पर सवारी करोगे तो वहाँ कोई खतरा नहीं होगा। श्रेष्ठ गुरु की अधीनता में सच्चे उत्कृष्ट योगमार्ग पर चलोगे तो बड़ी तेजी से चलते हुए भी तुम्हें कोई भय नहीं हो सकता। भारतवर्ष में शायद कुछ लोग अब भी ऐसे मिल जायें जो कि रेलगाड़ी पर इसलिए सवारी न करें, क्योंकि कभी-कभी रेलें टकरा भी जाती हैं। पर भारत में भी आज प्रायः सभी लोग दिन-रात रेल का सफर निःशंक होकर कर रहे हैं। यह सवारी एक आम सवारी हो गई है। बल्कि कुछ ही दिनों में हवाई जहाज की सवारी भी आम हो जाती दीखती है।

और समय आने वाला है, बड़ी तेजी से वह समय आ रहा है, जब कि योग एक आम वस्तु हो जायेगी। समय आ रहा है जब योग घर-घर में दीपक की तरह जलेगा और घर भर को अपने अध्यात्मप्रकाश से प्रकाशित करेगा। हृदय-हृदय में इसकी पवित्र अग्नि प्रदीप्त होगी और मानव-जीवन को प्रकाशमान और सुगन्धित करेगी। शायद कोई भी आदमी इससे अछूता न रह सकेगा। ऐ योग से डरने वाले! निश्चय जान एक दिन तेरा दरवाजा भी वह खटखटायेगा। उस समय तू उस नये से आगन्तुक को देखकर चौंक न जाना, डर के मारे अपना दरवाजा बन्द न कर लेना क्योंकि इससे बढ़कर अकल्याण की वात और कुछ न होगी। तू तब बिल्कुल निर्भय होकर इस परम कल्याणकारी अभ्यागतदेव को हृदय से अपनाना, इसके लिए अपना सारा घर निःशंक होकर खोल देना और इसे उसमें बसा लेना।

गीता का योग

यह लेख 'वेदसुधा' त्रैमासिक के अगस्त 1967 अंक में प्रकाशित हुआ था।

गीता केवल कर्मयोग का शास्त्र नहीं है किन्तु उतना ही ज्ञान योग और भक्ति योग का भी शास्त्र है। गीतोक्त योग में कर्म, ज्ञान और भक्ति का समन्वय है, यह बहुत स्पष्ट देखा जा सकता है। योग क्या है? इसका सहज भाव से वर्णन करते हुए गीता ने एक जगह कह दिया 'समत्वं योग उच्यते' तो दूसरी जगह कहा है 'योगः कर्मसु कौशलम्' तो ये दोनों परिभाषायें भिन्न-भिन्न योगों की नहीं है। 'समत्व' के विना कर्म में 'कौशल' नहीं आ सकता है और कर्म को जरा विस्तृत अर्थों में लें (जिसमें ज्ञानक्रिया और भक्तिक्रिया भी समाविष्ट होती है) तो वह सब कुशल कर्म समता को लाने वाला भी होता है।

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कितना सुन्दर कहा है कि हमारे प्राचीन ऋषियों ने कर्म को अनासक्त होकर के करने को कह मानो कर्म रूपिणी सर्पिणी के मुख में से विष भरे दांत निकाल दिये हैं। कर्म रूपी सर्पिणी से खेला भी जाए पर उससे डसा न जाए। बस इस कौशल का नाम ही योग है। कर्म को बिल्कुल त्याग देना भी सुगम है जैसा कि आमतौर से माना जाने वाला योग या साधु सन्तों का मार्ग समझा जाता है। कर्मरत होना, दिनरात आसक्त होकर कर्म करना भी सब दुनियावी लोग कर ही रहे हैं। यह भी सुगम है। पर असली योग, 'कर्मसु कौशलम्' इसमें है कि कर्म भी करना और अनासक्त रहना। यह अनासक्त रहना ही उस कौशल की कुंजी है। महात्मा गाँधी को गीता की शिक्षा की केन्द्रीय वस्तु 'अनासक्ति' ही लगी है इसीलिए उन्होंने गीतोक्त योग को 'अनासक्ति योग' यह नाम देना पसन्द किया है।

अनासक्त होने की पहिली सीढ़ी शायद फल में अनासक्ति को कहा जा सकता है। सब वस्तुओं में पूर्ण अनासक्ति आना तो दूर की बात है। पर कर्म की दृष्टि से उसके फल में मनुष्य अनासक्त होना तो सीखे। इसके लिए गीता का प्रसिद्ध आदेश है—'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' कर्म में ही तेरा अधिकार है फल में नहीं। अतः तू सिद्धि में असिद्धि 'सम' होकर कर्म कर। समता का अर्थ हुआ समतोलता। समतोल रहना। इधर गिरना, न उधर गिरना। इस प्रकार मानो रस्सी पर चलना है। बल्कि 'क्षुर की धार' पर चलना है। न कर्मफल का हेतु बनाना, न कर्म में संग 'करना। न कर्मासक्त होना, न अकर्म में गिरना। न दुनियावी बनना, न तथाकथित संन्यासी बनना। समतोल होकर के चलना। यही योग की साधना है। सबसे पहले

फल में अनासक्ति साधना है। अनुकूल फल हो, प्रतिकूल फल हो—कुछ फर्क न हो। सुख हो दुख हो, जय हो पराजय हो, मान हो अपमान हो। दोनों में एक समान, अभेदयुक्त अचलायमान रहा जावे। इसी तरह अनासक्ति गहरी–गहरी होती जायेगी।

पर प्रश्न होता है यह 'अनासक्ति' ही क्यों ? यह क्या वस्तु है ? इसे क्यों अपनाया जाए ? मनुष्य तो 'अनासक्ति' या 'संग' के बिना कर्म ही नहीं कर सकता। हम रात-दिन देखते हैं कि 'आसक्ति' ही कर्म की प्रेरक है। घर और गृहस्थी का कर्म, सामाजिक कर्म, राजनीति का कर्म, संस्था संचालन का कर्म सर्वत्र यही है कि जितनी ही अधिक आसक्ति होती है उतना ही जोरदार कर्म होता है। श्री कृष्णजी तो भले कहते हैं—

> योगस्थ: कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय।
> सिद्ध्यसिद्ध्यो: समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।

पर यदि हम यह 'संग त्याग' कर दें, सिद्धि असिद्धि में सम हो जायं, यह 'समत्व योग' करें तो कर्म की प्रेरणा ही जाती रहेगी। हम कर्म क्यों करेंगें ? कर्म में फिर मजा ही क्या रहा ? बस इस बात का जिसे उत्तर मिल जाता है वही असल में योगी होता है, हो सकता है। श्री अरविन्द के यहाँ योग समन्वयात्मक है। कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग का भेद प्रारम्भ में ही है। आगे चलकर के तो तीनों एक हो जाते हैं। जिसे उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर मिलता है कि तू यज्ञ के लिये कर्म कर वह कर्मयोगी है, उसे 'यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्म बन्धन: यज्ञायाचरत: कर्म समग्रं प्रविलीयते' इस प्रकार के गीतावचन बहुत प्यारे लगते हैं। पर जिसे भगवान यह कहते दिखाई देते हैं कि देख—

> न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषुलोकेषु किंचन।
> नानवाप्तमवाप्तयं वर्त एव च कर्मणि ॥

वह ज्ञानयोगी है और भगवान् पुकार कर कहते हैं 'अरे तू मेरे प्रेम के लिए कर्म कर' वह भक्तियोगी है। उसे लगता है मानो निम्न अमृत वचन भगवान् ने साक्षात् उसे ही सम्बोधित करके कहे हैं और बहुधा कहे जा रहे हैं—

> यत: प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
> स्वकर्मणा तमभ्यचर्य सिद्धिं विन्दति मानव: ॥
> सर्वं धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
> अहं त्वां सर्वं पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच: ॥
>
> यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
> यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

तात्पर्य यह है कि जिसे 'जब मुझे कुछ लेना नहीं, कुछ देना नहीं, कुछ आसक्ति नहीं, तो मैं कर्म क्यों करूं ?' इस प्रश्न का कुछ भी सच्चा उत्तर मिल गया है, बस वही योगी हो गया, वह गीतोक्त योग का योगी हो गया।

श्री अरविन्द की योग पद्धति

और पातञ्जल योग

यह लेख 'अदिति' के नवम्बर 1943 अंक में छपा था। यही 'योग विचार' में भी संकलित है।

—सम्पादक

जैसे मेरे साथ हुआ है उसी तरह, इस प्रकार के बहुत से लोग होंगे जिन्होंने योगजिज्ञासु होने पर पहले पातंजल योगशास्त्र का अध्ययन किया है और अब एक जीवित महान् योगी—श्रीअरविन्द—का नाम सुनकर, उनकी महिमा जानकर, उनके वचनों आदि से प्रभावित होकर उनकी योगपद्धति को समझना चाहते हैं। तो ऐसे लोगों के लिए ही अर्थात् पातंजल योग की पृष्ठ भूमिका में श्रीअरविन्द-योग को समझना चाहने वालों के लिए ही यह लेख लिखा जा रहा है।

पहले हम दोनों योगों का सदृशता द्वारा विवेचन करेंगे।

योगदर्शन का पहला पाद, समाधि पाद, असली योगियों के लिए है। इसे ही असली पातंजल योद-पद्धति कहना चाहिये। दूसरे 'साधन पाद' में जो वर्णन है, वह प्रारम्भ करने वालों के लिए है कि वे भी कैसे योग तक पहुंच सकें। उसमें योग के अष्टाँग में से पहले पांच बहिरङ्गों का ही वर्णन है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार ये पांच बहिरङ्ग हैं। असली योग तो अन्तरङ्गों का शेष तीन अङ्गों का—ध्यान, धारणा, समाधि का है—जिनका कि पातंजल योग के तीसरे पाद में वर्णन है क्योंकि सब विभूतियाँ, सिद्धियाँ योग के अन्तरङ्गों से, आन्तरिक योग से ही प्राप्त हो सकती हैं। पातंजल योग शास्त्र के अन्तिम (चौथे) पाद में और भी ऊँची ज्ञानचर्चा है। सो श्रीअरविन्द की योगपद्धति में भी साधारणतया आसन, प्राणायाम आदि बहिरङ्गों की, दूसरे शब्दों में हठयोग की कोई आवश्यकता नहीं। उनके आश्रम में हठयोग की क्रियायें करना प्रायः मना है। वैसे श्रीअरविन्द सब महापुरुषों की तरह, समन्वय-दृष्टि वाले हैं, बलिक एक विशेषतया महान् समन्वयवादी हैं। उन्होंने Synthesis of yoga (योग का समन्वय) नाम 'Arya' (आर्य) में जो अद्भुत लेखमाला लिखी थी, उसमें हठयोग का भी एक उचित स्थान

हैं। आज से बीस-इक्कीस वर्ष पूर्व जब मैंने अपना फोटो भेजकर अपने बारे में श्री अरविन्द से पूछा था, तो उन्होंने मुझे ही मेरे सिर में कुछ रुकावट बतलाते हुए, हठयोग करने की सलाह दी थी। परन्तु साधारणतया हठयोग उनके यहाँ त्याज्य हैं क्योंकि हठयोग की क्रियायें कुछ नीचे दर्जे की शक्तियों को उद्बुद्ध कर डालती हैं जिन पर (किसी महान् गुरु की सहायता के बिना) काबू नहीं पाया जा सकता। बहिरङ्गों की अपेक्षा ध्यानादि अन्तरंगों की ही श्री अरविन्द की योग पद्धति में महत्ता है।

पर इसका यह मतलब नहीं कि बाहर की वस्तुओं के प्रति इस योग में उदासीनता है। असल में तो आगे चलकर अन्दर बाहर एक हो जाता है और श्री अरविन्द के योग में बाहर का भी बहुत महत्व है, पर वह अन्दर से निकला होना चाहिये। ऊपर से आये अन्दर के सत्य के अनुसार बाहर भी ठीक-ठीक करना, पूरा-पूरा सुव्यवस्थित रूप से सौन्दर्य पूर्वक अभिव्यक्त करना उनके योग की विशेषता है। श्री अरविन्द के कथनानुसार असल में सम्पूर्ण जीवन ही योग है। अन्त:सत्य की स्थूल में बाह्य अभिव्यक्ति तो योग का उद्देश्य ही है। अत: बाह्य कर्म भी ठीक आन्तर स्थिति से किया हुआ होने पर योग ही है, और आवश्यक योग है। ऐसे कर्म के बिना योग अधूरा है। दूसरे शब्दों में गीतोक्त कर्मयोग श्री अरविन्द को अभीष्ट है। गीता पर उन्होंने जो निबन्ध लिखे हैं, वे उनके योग को पूरी तरह समझने के लिये अवश्य पढ़ने चाहियें। पर उनका यह कर्मयोग भाग भी पातञ्जल योगदर्शन के क्रिया-योग से भिन्न नहीं है जिसका वर्णन योगदर्शन के द्वितीय पाद के प्रथम सूत्र में है। तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान को क्रिया-योग कहा गया है। ईश्वर प्रणिधान का अर्थ करते हुये भाष्यकार व्यासजी ने बिल्कुल वही लिखा है जो गीता में बार–बार वर्णित है या जो श्री अरविन्द अपनी पुस्तकों में कहते हैं 'ईश्वर प्रणिधानं सर्वक्रियाणां परमगुरावर्पणं तत्फलसंन्यासो वा' [ईश्वर प्रणिधान है सब क्रियाओं का परमगुरु (भगवान्) में अर्पण या उनका फलत्याग], अस्तु। अभिप्राय यह है कि श्री अरविन्द का योग अन्त:मूलक, अन्तरात्मप्रेरित होकर बाहर अन्तिम छोर तक पहुंचने वाला है और पातञ्जल योग में भी अन्तरङ्ग की ही महिमा है, यद्यपि बहिरंगों का भी वहां एक आवश्यक स्थान है।

श्री अरविन्द अपने स्वीकृत योग को पूर्ण योग या सर्वाङ्गीण (Integral) योग नाम से कहना पसन्द करते हैं। यह कहा जा चुका है कि उन्होंने सब योगों के समन्वय से अपनी योग पद्धति प्राप्त की है। हठयोग, राजयोग, (पातञ्जल योग राजयोग ही है), तन्त्रयोग आदि के और दूसरी तरफ ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्ति-योग के समुचित समन्वय से उनकी योगपद्धति बनी है। उनके मार्ग में शक्ति या माता की सहायता प्राप्त करना अनिवार्य है। वह अन्तिम रूप में विकसित तन्त्रयोग से ली गई कही जा सकती है। वैसे शक्ति का वर्णन योग में सर्वत्र ही है। हठयोग की साधना में

ही कुण्डलिनी शक्ति, शक्ति या योगशक्ति को जागृत करना अनिवार्य है। पर ऊंचे रूप में वही शक्ति माता हो गयी है। माता को अपने आपको प्रेमपूर्वक बिना समर्पण किये और उसकी सहायता बिना प्राप्त किये श्री अरविन्द के योग में सिद्धि नहीं होती है। सो ईश्वर को (और फलत: उसकी शक्ति को) यह व्यक्तित्ववान् रूप देना भी पातंजल दर्शन में देखा जाता है। सांख्य के पुरुष और प्रकृति सूखे हैं, उनके प्रति 'भक्ति' हो सकना कठिन है। पर योगदर्शन और सांख्यदर्शन में, इनके परस्पर सजातीय दर्शन होते हुये भी, जो कुछ भेद हैं उनमें एक मुख्य भेद यही है कि योग दर्शन ईश्वर का प्रतिपादन करता है और उसकी भक्ति करना योगसिद्धि के लिए उपाय मानता है। पातंजलि का प्रसिद्ध सूत्र है—

ईश्वर प्रणिधानाद्वा ॥ 1–23 ॥

इस पर भाष्य करते हुए व्यास मुनि लिखते हैं, "प्रणिधान से अर्थात् भक्ति विशेष से अभिमुख किया हुआ परमेश्वर उसे अभिध्यान मात्र से अनुगृहीत कर लेता है"—

प्रणिधानाद् भक्ति विशेषादावर्जित—
ईश्वरस्तमनुगृह्णात्यभिध्यानमात्रेण।

यह पतंजलिका प्रणिधान वही वस्तु है जिस पर श्री अरविन्द समर्पण (या भक्ति) नाम से बहुत जोर देते हैं। यद्यपि इसी तरह माता रूप से (दिव्य) प्रकृति के प्रति भक्ति का स्पष्ट उल्लेख पातंजल दर्शन में नहीं है; फिर भी ईश्वर के प्रति भक्ति उसकी (दिव्य) शक्ति के प्रति भी आसानी से हो सकती है। जैसे व्यास मुनि इससे दो सूत्र पहले के बीसवें सूत्र के भाष्य में श्रद्धा के विषय में कहते हैं कि वह कल्याणकारी माता की तरह योगी की रक्षा करती है—"सा हि जननीव कल्याणी योगिनम् पाति।" साधारणतया प्रकृति शब्द तो पुरुष से विपरीत (अदिव्य) वस्तु को दर्शाने के लिये ही पातंजल योग में आया है, पर दिव्य शक्ति को भी कम से कम वैयक्तिक दिव्य शक्ति को–"दृक् शक्ति (2–6), स्वामी शक्ति (2–23) चिति-शक्ति (4–34), नाम से इन योगसूत्रों में पुकारा गया है। श्री अरविन्द का योग निस्सन्देह भक्ति प्रधान है। ज्ञान और कर्म आवश्यक हैं और अन्त में ये तीनों एक ही हो जाते हैं तो भी यह कहना ही अधिक ठीक है कि भक्ति में ही ज्ञान और कर्म सार्थक होते हैं।

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥ 2–45 ॥

इस सूत्र में "ईश्वरार्पितसर्वभावस्य समाधिसिद्धिः" यह जो व्यास जी ने लिखा है, ठीक वही श्री अरविन्द के योग की गति है। सर्वभाव से ईश्वरार्पित होने से सब सिद्धि प्राप्त हो सकती है। यह समर्पण-भाव और इस प्रकार की भक्ति ही, तप की अपेक्षा श्री अरविन्द का योग-मार्ग है। जैसे यह समर्पण-भाव ईश्वर में चाहिये, वैसे ही उसकी दिव्य शक्ति (माता) में भी। क्योंकि ईश्वर और उसकी

शक्ति आखिर अभिन्न ही हैं। पर वह दिव्य योगशक्ति योग को आगे-आगे चलाती है। यह तो पातंजल योग में भी माना गया है—जैसे 3–6 के भाष्य में कहा है —

योगेन योगो ज्ञातव्य:, योगो योगात् प्रवर्तते ।।

श्री अरविन्द के योग को विज्ञानमय योग नाम से भी कहा जाता है; क्योंकि ऊपर उठकर मन से परे अतिमानस विज्ञान—तत्व की प्राप्ति और उसके द्वारा नीचे का रूपान्तर इस योग की मुख्य विशेषता है। यह श्री अरविन्द के योग की तीसरी विशेषता कही जा सकती है। पर इस बात में भी पातंजल योग की साक्षी मिलती है—बल्कि इसमें तो यह बहुत ही स्पष्ट है। मन से ऊपर के प्रकाश को, प्रज्ञालोकों को पाना ही तो पातंजल योग में समाधिका भी लक्ष्य है। साधारणतया योग-जिज्ञासु लोग समाधि को ही लक्ष्य समझते देखे जाते हैं। पर पातंजल योग में भी समाधि तो आठ योगांगों में से (चाहे अन्तिम ही सही) एक अङ्ग ही है, और इन योगांगों का (समाधि का भी) उद्देश्य है ज्ञानदीप्ति; विवेक ख्याति तक ज्ञानदीप्ति। योगसूत्र कितना स्पष्ट है---

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्याते: ।। 2–28 ।।

एवं प्रकाश के आवरण को हटाना योग साधना का प्रयत्न है, यह बार-बार कहा है—

तत: क्षीयते प्रकाशावरणम् ।। 2–52 ।।
प्रकाशावरणक्षय: ।। 3–43 ।।

और जहाँ "उपायप्रत्यय" नामक असली योगियों का मार्ग क्रम बताया गया है, उस सूत्र में भी समाधि से अगला क्रम प्रज्ञा (ज्ञान प्रकाश) कहा है—श्रद्धावीर्य-स्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्' 1–20, फिर धारणा-ध्यान-समाधि से, संयम से, जो वस्तु प्राप्त होती बताई गयी है वह भी है प्रज्ञालोक अर्थात् ज्ञानप्रकाश—

तज्जयात प्रज्ञालोक ।। 3–5 ।।

इसी प्रज्ञालोक के विविध भूमिकाओं में विनियोग करने से नाना विभूतियां, सिद्धियां प्राप्त होती हैं (देखो–3–6)।

आगे इस विभूति पाद में ही प्रातिभ ज्ञान का—जिसे तारक ज्ञान भी कहते हैं—वर्णन है जिसके उदित होने पर योगी सब कुछ जान सकता है—"प्रातिभाद्वा सर्वम्" ।। 3–33 ।। पर यह प्रातिभ भी जिस महाज्योति का पूर्वरूप है, जैसे ऊषा सूर्य का पर्वरूप होती है, वह है विवेकज-ज्ञान जिसका वर्णन इसी पाद के 52 और 54 सूत्रों में है श्री अरविन्द ने उच्च मन से लेकर अतिमानस (विज्ञान) तक जिन उत्तरोत्तर प्रकाश परम्पराओं का वर्णन किया है उन्हीं में से इन प्रातिभ और विवेकज ज्ञान का स्थान भी सम्भवत: ठहराया जा सकता है। पर यहाँ इतने विस्तार में जाने की गुन्जायश नहीं।

अध्यात्मप्रसाद से होने वाली "ऋतम्भरा प्रज्ञा" तो बिल्कुल उसी दिशा की

वस्तु है जिसे श्री अरविन्द विज्ञानमय प्रकाश (Supramental light) कहते हैं, जिसका प्रथम पाद के इस प्रसिद्ध सूत्र में वर्णन है—

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ।। 1—48 ।।

एक बार श्री अरविन्द से मैंने इस बारे में पूछा भी था। उन्होंने उत्तर दिया था कि ऋतम्भरा प्रज्ञा या तो स्वयं विज्ञानमय प्रकाश की अवस्था हो सकती है या बहुत सम्भव है उच्चतर सत्य प्रकाश से (स्वयं विज्ञानमय प्रकाश से नहीं) भरी हुई अवस्था।

इसी प्रकार 4—31 सूत्र में उस अनन्त ज्ञान प्रकाश का वर्णन है जिसमें पहुंचकर ज्ञेय न कुछ रह जाता है, जिसके सामने शेष अल्प हो जाता है। इस तरह यह स्पष्ट है कि उच्च प्रकाशों और अवस्थाओं की प्राप्ति का जो मार्ग श्री अरविन्द ने विस्तार से लिखा है वह पातञ्जल योग में भी दर्शाया गया है।

आरोह अवरोह (Ascent और Descent) का जो श्री अरविन्द के योग में वर्णन आता है वह तो थोड़े बहुत रूपों में सभी पद्धतियों में है। केवल श्री अरविन्द के योग के विशाल और व्यापक होने से योग की यह द्विध गति यहाँ विशाल रूप में आती है। पर श्री अरविन्द इस द्विध गति द्वारा जिस दिव्य रूपान्तर (Transformation) की बात करते हैं, उसकी भी प्रक्रिया का वर्णन निम्न योग सूत्र में सुगमता से पाया जा सकता है—

जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात् ।। 4—2 ।।

मेरी समझ में इस सूत्र में प्रसिद्ध तीन परिणामों के अतिरिक्त यह जात्यन्तर-परिणाम भी बताया गया है जो प्रकृति के "आपूर से" होता है, अस्तु।

सारांश यह है कि पातञ्जल योग में बीज रूप से पीछे से विकसित हुए भी सब सच्चे योगमार्ग निहित हैं, सो इस रूप में श्री अरविन्द का मार्ग भी इसमें है ही, जो कि जगत् की वर्तमान अवस्थाओं में और मानव के वर्तमान विकास क्रम में सबसे अधिक स्वाभाविक और पूर्ण प्रतीत होता है।

हम इन दोनों योगों का सदृशता द्वारा विवेचन कर चुके हैं। अब विसदृशता द्वारा विवेचन करेंगे क्योंकि इन दोनों दृष्टियों से ही देख लेने से वस्तुओं का पारस्परिक स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।

जब इन दोनों योगों में विसदृशता की, भेद की बात मैं कहता हूँ तो पहले यह बता देने की जरुरत है कि मैं पातञ्जल योग उसे मान लेता हूं जो योग पातञ्जल सूत्रों से और विशेषतया उस पर हुये व्यास-भाष्य से सूचित या अनुमित होता है। पतंजलि द्वारा सूत्रित योग-पद्धति आज उस रूप में कोई जीवित योग-पद्धति नहीं है जैसी कि श्री अरविन्द-योगपद्धति है जिसके कि प्रवर्त्तक जीवित रूप में विद्यमान हैं और जिसकी कि साधना उनके पथ-प्रदर्शन में सैकड़ों साधक जीवित जागृत रूप में करते हुए आज देखे जा सकते है। इसीलिये इस लेख के शीर्षक में मैंने

जहाँ 'श्री अरविन्द की योग-पद्धति' ये शब्द प्रयुक्त किये हैं वहाँ दूसरी तरफ 'पातञ्जल योग' इतना ही कहा है, इसके साथ 'पद्धति' शब्द प्रयुक्त नहीं किया। जिस समय पातञ्जल योग लिखा गया, उस समय इसकी कोई क्रिया-पद्धति या पद्धतियाँ जीवित रूप में अवश्य प्रचलित होंगी परन्तु इस समय तो हम उसका अन्दाज ही कर सकते हैं। पुस्तकीय बात और क्रियात्मक बात में जो अन्तर होता है, वही अन्तर अब यहां हो चुका है। इस समय पातञ्जल योग बहुत कुछ पुस्तकीय वस्तु है। योग के जानने की प्रबल उत्कण्ठा होने पर मैंने विद्यार्थी काल में जो कुछ योग विषयक साहित्य गुरुकुल में उस समय मिल सका, वह सब पढ़ा था। पातञ्जल योगदर्शन भी बड़ी श्रद्धा से पढ़ा था पर सिवाय प्रणव जप के और कुछ क्रियात्मक चीज उसमें से नहीं समझ में आई या मिली। आसन, प्राणायाम की क्रियात्मक विधि—बल्कि प्रणवजप की भी विधि—किसी जानकार अनुभवी गुरु से सीखने की चीज है, यही सब तरफ से मालूम हुआ। योगशिक्षकों की तलाश में घूमने पर जब बहुत से योगाभ्यासियों से परिचय हुआ तब यह और भी स्पष्ट हो गया कि प्रचलित योग की पद्धतियाँ बहुत हैं, उनके भी बहुत से सम्प्रदाय हैं और उनमें से भी जो राजयोग या ध्यान योग करके प्रसिद्ध है, वह भी बिल्कुल पातंजल योग नहीं है। तब यह भी देखा कि यद्यपि सब योगशिक्षक पातञ्जल योग को आदर की दृष्टि से देखते हैं, पर उनकी पद्धतियां कुछ नई प्रकार की हैं। दो-एक ऐसे विद्वान गुरु भी मिले जो अपने योग को सर्वथा पातञ्जलानुसारी प्रतिपादित करते थे, पर उनके भी ध्यान आदि के प्रकारों में कुछ परम्परागत ऐसी विधियाँ (आवश्यक और उपयोगी विधियाँ) देखीं जिनका पातञ्जल योग में कहीं नाम तक नहीं था। सबसे अधिक प्रचलित तो मैंने देश में शक्ति-संचार योग (एक प्रकार का तन्त्रयोग) पाया है जिसका कि अनुष्ठान करने वाले बहुत हैं। दूसरे स्थान पर हठयोग, फिर हठयोग सहित राजयोग को पाया है। अस्तु, यह सब कहने का तात्पर्य यह है कि ठीक पातञ्जल योग क्या है, यह इस समय निश्चित बताना कुछ कठिन है। इसमें सभी योगों के संकेत मौजूद हैं।

पातञ्जल सूत्रों के साथ व्यासभाष्य की भी बात मैंने इसलिए कही है क्योंकि केवल सूत्रों के तो कई तरह अर्थ किये जा सकते हैं और किये गये हैं। स्वामी दयानन्द जी ने कई प्रसिद्ध योगसूत्रों की अपनी ही व्याख्या की है जो व्यासभाष्य से भिन्न है। मैंने भी एक जगह मूल सूत्रों को ही अपने अर्थ के लिए आधार बनाया है, न कि उन पर हुए भाष्यों को। प्राचीन और पूजित पुस्तकों के विषय में बहुधा ऐसा ही होता है कि पीछे से उनकी भिन्न-भिन्न प्रकार की व्याख्या होने लगती है, पीछे के लोग उनसे मतभेद प्रकट करने की अपेक्षा उनका अर्थ बदलने, उनकी नई व्याख्या करने का ही मार्ग ग्रहण करते हैं। इसलिए यह कह देना आवश्यक हुआ हैं कि इस लेख के प्रयोजन के लिए पातञ्जल योग (दर्शन और क्रियात्मक विधि) से मेरा मतलब वही है जो कि पातञ्जल सूत्रों पर प्रसिद्ध व्यासजी के भाष्य और वाचस्पति मिश्र की मानी हुई टीकाओं से प्रकट होता है।

तो सबसे पहिले श्री अरविन्द के योग और पातंजल योग में जो भेद है, वह योग के स्वरूप के विषय में ही है। पातंजल योग में तो योग है 'चित्तवृत्तिनिरोधः'; चित्त की वृत्तियों का निरोध (रुक जाना)। यह योग मन से सम्बन्ध रखता है, मानसिक है पर श्री अरविन्द के योग में मन से परे जाने पर सब जोर है। योग शब्द के विस्तृत अर्थ लिये जाते रहे हैं, जैसे कि उपनिषद् में कहा है 'योगो हि प्रभवाप्ययौ' (कठोप० 6—11)। मेरी समझ में यह जगद्व्यापक योग का वर्णन है। गीता में भी जो 'समत्वं योग उच्यते' तथा 'योगः कर्मसु कौशलम्' कहके दो जगह योग की परिभाषा की गई है, वह भी जीवनव्यापी योग की तरफ निर्देश करती है। पर पातंजल योग में योग को चित्तवृत्तिनिरोध तक ही सीमित कर दिया गया है। योग का जो अति प्रचलित अर्थ जोड़ना, मिलना है, वह भी पातंजल में नहीं प्रतीत होता। व्यासजी ने प्रथम सूत्र की व्याख्या में लिखा है—'योगः समाधिः,' इस पर लिखते हुए वाचस्पति मिश्र ने स्पष्ट लिखा है कि इसलिए यहाँ का योग शब्द 'युजिर् योगे' धातु से नहीं बना है, किन्तु 'युज समाधौ' से बना है।

'युज समाधौ' इत्यस्माद् व्युत्पन्नः समाध्यर्थो,
न तु 'युजिर् योगे' इत्यस्मात्संयोगार्थ इत्यर्थः।

सो पातंजल योग में योग का अर्थ केवल समाधि है, चित्तवृत्तिनिरोधरूप समाधि। मैंने लेख के पूर्वार्ध में जो कहा है कि समाधि का भी लक्ष्य प्रज्ञा है वह भी प्रचलित टीकाओं से अनुमोदित नहीं है। टीकाओं के अनुसार तो जिस समाधि से प्रज्ञा पैदा होती है वह सम्प्रज्ञात समाधि है, जब इन ऋतम्भरा आदि प्रज्ञाओं का भी निरोध हो जाता है तब जो असम्प्रज्ञात या निर्बीज समाधि होती है वह असली समाधि है, वह असली पूर्ण चित्तवृत्तिनिरोध है, असली योग है।

पर जैसा कि पहले कहा जा चुका है श्री अरविन्द के योग में सम्पूर्ण जीवन ही योग है, केवल चित्तवृत्तिका निरोध ही नहीं। पर केवल चित्तवृत्तिनिरोध का तो वहाँ साधन के तौर पर भी उतना अधिक महत्व नहीं क्योंकि यह योग मानसिक नहीं, आध्यात्मिक है। इसमें साधक को मन से ऊपर अतिमानस सत्यचेतना में जाना है और उससे भी मन को रोकना, निरुद्ध कर देना नहीं किन्तु उसकी शक्ति के अवतरण द्वारा इसको (मन को) बड़े यत्न ये शुद्ध क्रिया, दिव्य क्रिया के योग्य बनाकर इससे कार्य करना है। इसका यह मतलब नहीं कि इस योग में चित्तवृत्तिनिरोध अर्थात् मन को शांत, अचंचल, निश्चलनीरव करना साधन के तौर पर यह आवश्यक नहीं है। यह तो आवश्यक है पर इस योग में स्वाभाविक रूप से होना चाहिये। इसलिए श्री अरविन्द के योग में एक ऐसा व्यक्ति अधिक बढ़ा हुआ हो सकता है। जिसका मन अभी अचंचल या निरुद्ध नहीं है पर जिसे अध्यात्म-स्पर्श प्राप्त हो चुका है उस मनुष्य की अपेक्षा जिसने चित्तवृत्तिका हठ पूर्वक विरोध काफी समय का प्राप्त किया है पर अध्यात्मस्पर्श नहीं पाया है। यहाँ योग का अर्थ वस्तुतः जुड़ना, युक्त होना है (न कि समाधि), जीवात्मा और परमात्मा का जुड़ना, इन दोनों का सचेतन

सम्बन्ध स्थापित होना। हमारे चित्त व मन के पीछे जो अन्तरात्मा है, हमारे अन्दर की दिव्य सत्ता है, उसका ऊपर भगवान् के साथ सम्पर्क हो जाना, आदान प्रदान होने लगना, इनके जोड़ने वाले मार्ग का खुल जाना, उद्घाटित हो जाना, पुकार व पूर्ति का सम्बन्ध स्थापित हो जाना यही श्री अरविन्द के योग का स्वरूप है।

एक दूसरे रूप में कहें तो श्री अरविन्द के योग तथा पातंजल योग में मौलिक भेद यह है कि श्री अरविन्द का योग क्रियाशील (Dynamic) है, स्थितिशील (Static) नहीं। श्री अरविन्द के अपने शब्दों में यह भेद इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है—

"अन्य योग शिक्षाओं की अपेक्षा इस दिशा में मौलिक भेद यह है कि एक क्रियाशील (Dynamic) भागवत सत्य (विज्ञान) है और वह सत्य अज्ञान के इस वर्तमान जगत में अवतरित हो सकता है और एक नवीन सत्य चेतना का निर्माण कर सकता तथा जीवन को भागवत, दिव्यतामय बना सकता है। प्राचीन योग सब मन-बुद्धि से सीधे निरपेक्ष ब्रह्म की ओर चलते हैं और सारी क्रियाशील (Dynamic) सत्ता को अविद्या, माया या लीला मानते हैं; जहाँ तुम स्थितिशील (Static) और अपरिवर्त्तनीय दिव्य सत्य में प्रविष्ट हुये, तो तुम, उनका कहना है, इस सब विश्व सत्ता के पार हो जाते हो।"—(इस जगत् की पहेली)

इसी से हम अगले विषय पर आ जाते हैं।

श्री अरविन्द के योग का स्वरूप ऐसा इसलिए है क्योंकि उसका लक्ष्य भगवान् को पूर्णतया प्राप्त करना है, न कि कैवल्य प्राप्त करना।

कैवल्य का अर्थ भी बहुत से लोग परमात्मा की प्राप्ति समझ सकते हैं। स्वामी दयानन्द ने यह अर्थ लिया ही है। स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश के नवम् समुल्लास के अन्त में मुक्ति का बर्णन करते हुए पातंजल योग के आरम्भिक दो मुख्य सूत्रों को उद्धृत किया है –

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ 1 ॥
तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ 2 ॥

और न केवल 'एकाग्रता' का अर्थ परमात्मा और धर्मयुक्त कर्म में चित्त को ठहराना किया है किन्तु द्रष्टा के स्वरूप में ठहरने का अर्थ 'सबके द्रष्टा ईश्वर के स्वरूप में जीवात्मा की स्थिति' किया है। व्यासभाष्य आदि के अनुसार यहां परमात्मा या ईश्वर का कोई नाम निशान भी नहीं है। स्वामी जी जैसे समाधि की केवलता को परमेश्वर में स्थिति मानते हैं वैसे कैवल्य को भी परमात्मा-प्राप्ति मानते हैं। पर सांख्य और योग दर्शन की मानी हुई प्रचलित व्याख्या के अनुसार तो "कैवल्य" यह परिभाषा जिस अर्थ में प्रयुक्त हुई है वह पुरुष (आत्मा) का केवल हो जाना, संसार के खेल से तटस्थ हो जाना प्रकृति का उसके प्रति बिल्कुल निवृत हो जाना है जिसका कि वर्णन योगदर्शन में सबसे अन्तिम सूत्र द्वारा इस प्रकार हुआ है—

'पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति ।' यदि कैवल्य यही है तो इस वैयक्तिक मोक्ष को पाना श्री अरविन्द के योग का लक्ष्य नहीं है । श्री अरविन्द के योग की सिद्धि के लिये तो केवल नहीं होना है, किन्तु भगवान् से मिलना है, पूरी तरह मिलना है; जगत को नहीं छोड़ना, किन्तु जगत् पर भगवान् का राज्य स्थापित करना है, प्रकृति को त्याज्य (हेय) समझ प्रकृति से किनारा नहीं करना किन्तु प्रकृति का भी रूपान्तर कर उसे दिव्य खेल के योग्य बना देना है । इस योग का साधक इसलिये योगसाधना नहीं करता कि वह अन्त में भगवान में लीन हो जाय और खत्म हो जाय, वह तो इसलिये साधना करता है कि वह भगवान् के हाथों में उसका शुद्ध दिव्य यंत्र बन जाय, फिर भगवान् उसका जो चाहे करें ।

और इस योग में भगवान् को पाने का अर्थ यह नहीं कि केवल मानसिक जोर से (ध्यान या समाधि द्वारा) पाना, जैसा कि साधारणतया समझा जाता है । किन्तु सारे जीवन के द्वारा पाना या पूर्ण रूप से पाना है अर्थात् आत्मा, मन, प्राण और शरीर इन सबसे भगवान् को पाना है । इसका मतलब है कि आत्मा का परमात्मा की सत्य चेतना से सतत सम्बन्ध हो जाने पर मन और प्राण और शरीर का भी बड़ी भारी साधना द्वारा दिव्य रूपान्तर कर उसमें भगवान् को प्रतिष्ठापित करना; एक शब्द में पूर्णतया दिव्य बन जाना ।

और फिर यह भी कह देना चाहिये कि कुछ व्यक्तियों का इस प्रकार अपने को पूर्ण दिव्य बना लेने का स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि धीमे-धीमे कालान्तर में सम्पूर्ण मनुष्य जाति ही दिव्य, देवजाति बन सकेगी, इस पृथ्वी पर स्वर्ग आ सकेगा, यह मर्त्यलोक स्वर्ग धाम बन सकेगा, जैसा कि श्री अरविन्द ने हमारा योग और उसके उद्देश्य' नामक पुस्तक के प्रारम्भ में कहा है—'जिस योग की साधना हम करते हैं उसका उद्देश्य व्यक्तिगत मुक्ति नहीं है यद्यपि मुक्ति योग की आवश्यक अवस्था है, बल्कि यह है कि भागवत् आनन्द—ईसाका स्वर्गीय साम्राज्य या हमारा सत्ययुग—को पृथ्वी पर उतार लाया जाय ।" पर यह एक दूर का ध्येय है, भगवान् जो इस विश्व में योग कर रहे हैं, उसका भाग है । हमारे लिये तो इतना कहना पर्याप्त है कि श्री अरविन्द के इस क्रियाशील योग का दूसरे लोगों पर भी प्रभाव पड़ेगा ही और जो लोग मन से ऊपर जाने को तैयार होंगे उन सबको सहायता पहुंचेगी एवं सब जगत् दिव्यता की ओर अग्रसर होगा ।

उद्देश्य के अनुसार साधनों में भी भेद आ जाता है । पातजल योग में तो 'ईश्वर प्रणिधान' मनोनिरोध के मुख्य प्रयोजन के लिये बहुत से साधनों में केवल एक साधन है जैसा कि 'ईश्वर प्रणिधानाद्वा' इस सूत्र के 'वा' से स्पष्ट है यद्यपि पांच नियमों में से एक नियम के तौर पर और क्रियायोग के एक अंग के तौर पर यह पातञ्जल योग में भी अनिवार्य है । पर श्री अरविन्द के योग में यही सब कुछ है, ऐसा कहा जासकता है ।क्योंकि भगवान् को न केवल अपने सब बाह्य कर्म किन्तु

अपने अन्दर बाहर के सब अंगों की सभी क्रियायें और सब अंग और सब कुछ ही भगवान् को सौंपना यहाँ मौलिक वस्तु है। जितना ही पूर्ण समर्पण होगा, उतनी बड़ी भगवान् की शक्ति, माता की शक्ति हममें संचालित हो सकेगी।

इस योग की आरम्भिक वस्तु उद्‌घाटन के लिए भी समर्पण की आवश्यकता है। समर्पण और अभीप्सा द्वारा जब तक कि उद्‌घाटन नहीं हो जाता तब तक इस योग की वास्तविक क्रिया प्रारम्भ ही नहीं होती। उद्‌घाटन का मतलब है अन्दर अंतरात्मा, हृत्पुरुष का खुल जाना और ऊपर चेतना के सत्प्रकाश के मार्ग का खुल जाना। इस उद्‌घाटन के हो जाने से ही भगवान् की दिव्य शांति, प्रकाश, शक्ति, विशालता आदि हममें आ सकती हैं और हम दिव्य बन सकते हैं। श्री अरविन्द कहते हैं—

'इस योग का सम्पूर्ण सिद्धान्त यही है कि आपको भगवान् को सौंप दो, समर्पित कर दो, अन्य किसी को भी नहीं, अन्य किसी भी वस्तु को नहीं, और भगवती माता के साथ संयुक्त होकर विज्ञानमय भगवान् की पराज्योति, शक्ति, विशालता, शांति, पवित्रता, सत्यचेतना और आनन्द को अपने अन्दर ले आओ।'

पर इन दिव्य ज्योति, शक्ति आदि के हममें आने का उपकरण क्या है, यह भी जानना चाहिये। यह उपकरण है जागृत हुआ अंतरात्मा, हृत्पुरुष। पातंजल योग में जो मन का स्थान है वह यहाँ अंतरात्मा का है। इसलिए इस योग में पहला काम है हृत्पुरुष को जगाना, उद्‌घाटित करना। हमारे अन्दर जो कुछ है उसमें एक यही दिव्य सत्ता है, अतः यही भगवान् की दिव्य शक्तियों को सीधा ग्रहण कर सकती है। मन आदि द्वारा वह (सीधी) गृहीत नहीं हो सकती—

'अंतरात्मा या हृत्पुरुष सीधे भागवत् सत्य से सम्बद्ध रहता है, पर मनुष्य में इस हृत्पुरुष को मन, प्राण और देह छिपाये रहते हैं।' 'इस योग में हृत्पुरुष ही है जो शेष प्रकृति का मुख वास्तविक परम विज्ञान की ओर, अन्त में परम आनन्द की ओर खोल देता है।' [योग प्रदीप] सो हृत्पुरुष का उद्‌घाटन इस योग में पहला प्रयत्न है और 'पवित्रता, सरल सच्चाई तथा दम्भ और बनावट से रहित एवं अहंकार शून्य विशुद्ध आत्म-समर्पण का सामर्थ्य, ये ही हृत्पुरुष के पूर्ण उद्‌घाटन के साधन हैं।' इसलिए, श्री अरविन्द कहते हैं, इस योग में 'हृदय ही ध्यान का मुख्य केन्द्र होना चाहिये, जब तक कि चेतना की गति आप ही ऊपर की ओर न हो जाय।'

यह हृदय तथा ऊपर में दो ही स्थान हैं जहां श्री अरविन्द के योग की मुख्य गतियाँ होती हैं। जैसे हृदय की गति में हमें अन्तरात्मा को खोजकर पाना होता है वैसे ऊपर की गति में मन से भी ऊपर अतिमानस (विज्ञान तत्व) की पूर्ण सत्य चेतना को प्राप्त करना होता है। इस योगसाधना में साधक या तो हृदय में कार्य हो रहा अनुभव करता है या ऊपर की चेतना में। इन दोनों के बीच आरोहण और अवरोहण (अवतरण) की एक प्रक्रिया चलती है। आरोहण और अवतरण ये

दोनों परस्परपूरक होते हैं। "आरोहण से दिव्य अवतरण शक्य होता है, और अवतरण उसे पूरा करता है, सिद्ध कर देता है जिसके लिए कि आरोहण किया जाता है।" (इस जगत् की पहेली) इस आरोहण और अवतरण की प्रक्रिया द्वारा ही दिव्यता नीचे लाई जाती है। आरोहण द्वारा भगवान् की दिव्य चेतना तक हमारी पहुंच होती है और अवरोहण (अवतरण) द्वारा वहाँ से प्राप्त दिव्यता द्वारा आधार का दिव्य रूपांतर होता है।

पातंजल योग में जैसे यम-नियम- आसन आदि का उत्तरोत्तर चढ़ता क्रम है वैसे यहां आरोहण में मन, उच्चमन, प्रकाशित मन, स्फुरणात्मक मन. अधिमानस और अतिमानस (विज्ञान) की चढ़ती सीढ़ियां हैं। इन सीढ़ियों में न केवल आरोहण होता है किन्तु अवरोहण भी। आरोहण तो पातंजल योग में भी है, वह चाहे विज्ञान तक पहुंचता हो या न पहुंचता हो। पर अवरोहण श्री अरविन्द के योग की विशेषता है, क्योंकि दिव्य रूपान्तर इसी से होता है। यहाँ केवल आरोहण का अपने आप में कुछ मूल्य नहीं है, यहां आरोहण अवतरण के लिए हैं। कुछ न कुछ अवतरण भी आरोहण के साथ-साथ अन्य योगों में भी होता ही है, किन्तु वह अवतरण यहां काफी नहीं, यहाँ का अवतरण वह अवतरण है जो बदले की, रूपान्तर की शक्ति रखता है। पातंजल योग आदि में जो शांति, शक्ति, ज्ञान, प्रेम, आनन्द का अवतरण होता है, वह मुक्ति के लिए है, पर यहाँ का अवतरण मुक्ति के लिए नहीं किन्तु पूर्णता के लिये अवचेतना तक के रूपान्तर तथा पूर्णता के लिये होता है। इस भेद को हमें स्मरण रखना चाहिये।

सो इस योग में दोनों गतियों का होना आवश्यक है। जैसे ऊपर के केन्द्र की दृष्टि से आरोहण अवरोहण की गति है जिससे कि भगवान् की दिव्य शक्तियां नीचे लायी जाती हैं, वैसे पहले कहे गये हृदयकेन्द्र या हृत्पुरुष की दृष्टि से उसके इर्द-गिर्द होने वाली अन्दर बाहर की गति है जिससे कि वस्तुत: दिव्य रूपान्तर का काम होता है। श्री अरविन्द के अपने शब्दों में 'वस्तुतः हमारी सत्ता के संगठन में और इसके अंगों में दो प्रणालियां एक साथ काम कर रही हैं, एक केन्द्र के चारों तरफ चलने वाली है जिसमें अनेक घेरों और कोषों के बीच केन्द्र स्थान पर हृत्पुरुष स्थित है, और दूसरी प्रणाली है खड़ी, आरोहणावरोहणात्मक जैसे सीढ़ियों की चढ़ाई हो।' (इस जगत् की पहेली)। इन दोनों प्रणालियों का ही कार्य होना आवश्यक है। पहली प्रणाली के लिये हमें अपने हृत्पुरुष को उद्घाटित करना और उसे अग्रणी बनाना होता है, अर्थात् क्रमशः ऐसा सिद्ध कर लेना होता है कि हमारे मन, प्राण, शरीर अपने आप अपने ढंग से न चलें किन्तु हृत्पुरुष के अनुसार ही चलें और ढलें। यह भी बड़ा कठिन काम है। पर इतना अन्तरात्ममयीकरण (Psychicisation) भी इस योग के लिये पर्याप्त नहीं है। ऊपर से अन्तरात्मा में अवतरण भी होना चाहिये, आरोहण अवरोहण की प्रणाली भी चलनी चाहिये और जितनी ही अधिक

ऊपर की शक्ति उतरेगी उतनी ही वह अधिक दिव्य रूपान्तर कर सकेगी। एवं किसी उच्चतर चेतना का अवतरण और उस द्वारा अध्यात्ममयीकरण (Spiritualisation) भी काफी नहीं, क्योंकि पूर्ण दिव्य रूपान्तर करने की शक्ति अतिमानस (विज्ञान) तत्व में ही है। अतः इस योग की पूर्णता का अर्थ है ऊपर विज्ञानमय प्रकाश तक चढ़ना, पहुंचना और उसके पूर्ण रूपान्तकारी अवतरण द्वारा हृत्पुरुष के अनुसार चलने वाले बनाकर मन, प्राण और स्थूल शरीर तथा नीचे तक का रूपान्तर।

पाठक देखेंगे कि यह योग कितना लम्बा और कठिन है।

यह सब कार्य सम्पन्न होता है माता की शक्ति के द्वारा। यहाँ मन के संकल्प या मन के केन्द्रीकरण (संयम) से उत्पन्न होने वाले बलों का आश्रय लेना भी कोई मुख्य साधन नहीं है जैसा कि पातंजल योग में प्रतीत होता है। यद्यपि वहाँ भी एक योगशक्ति, मानसिक योग शक्ति काम करने लगती है। पर इस योग में तो साक्षात् उस दिव्य माता की शक्ति काम करने लगती है जिसका वर्णन श्री अरविन्द ने अपनी 'माता' पुस्तक में किया है। माता की शक्ति को संचालित करने के लिये साधक को उत्तरोत्तर बढ़ते हुए समर्पण और अभीप्सा की जरूरत होती है। समर्पण तो हृत्पुरुष का स्वाभाविक धर्म है और अभीप्सा है हृत्पुरुष की पुकार या प्रार्थना। इसके साथ तीसरी चीज है परित्याग, जिसकी कि साधक को अपने मन-प्राण-शरीर की निम्न विरोधी गतियों को हटाने के लिए सतत प्रयुक्त करने की जरुरत होती है। यह है हृत्पुरुष की प्रतीकार करने की, हटाने की क्रिया। मानो पातंजल योग के अभ्यास और वैराग्य की जगह यहाँ अभीप्सा और परित्याग हैं।

यह मैंने संक्षेप में श्री अरविन्द की योग-पद्धति को दिखाने का कुछ प्रयास किया है। अधिक जानना चाहने वालों को श्री अरविन्द के अपने ग्रन्थ ही पढ़ने चाहियें, विशेषत: 'योग-प्रदीप' और 'योग के आधार'। देखने में इस पद्धति की बातें अन्य योगों के साधनों से भिन्न नहीं लगेंगी। वस्तुत: आरम्भ में बहुत सी समानतायें हैं ही क्योंकि यह योग (हृत्पुरुष और विज्ञान तत्व की विशेषता के साथ) सब योगों का समन्वयात्मक योग ही है। पर इन सब प्रणाली को हमें समग्र रुप में देखना चाहिये। यह समग्रता ही श्री अरविन्द की योग पद्धति को बनाती है और यह अवश्य ही एक नई चीज है, नया मार्ग है। एक ऐसा नया मार्ग है जिसे कि श्री अरविन्द ने अपने तीस वर्षों की गम्भीर साधना से बनाया है जिससे कि उनके पीछे आने वाले अनुयायी उस पर चलकर महान् ध्येय को सिद्ध कर सकें। अस्तु।

आशा है इस सब विवेचन से पातंजल योग की पृष्ठ भूमिका में श्री अरविन्द योग को समझना चाहने वालों को कुछ सहायता मिलेगी।

योग चिकित्सा

यह लम्बा लेख पुस्तिका के रूप में श्री अरविन्द निकेतन, चरथावल से प्रकाशित हुआ है। पुस्तिका पर प्रकाशन वर्ष अंकित नहीं है।

सारे संसार में ही रोगों को दूर करने के लिए जो-जो चिकित्सा पद्धतियां बनी हैं, वे बहुत विभिन्न हैं। एक दूसरे की विरोधिनी तक हैं। एक की अति हो जाने पर उसकी प्रतिक्रिया रूप में विरोधिनी पद्धति का आविष्कार हुआ। जैसे ऐलोपैथी के विरोध में होमियोपैथी का आविष्कार योरोप में एक महात्मा हैनिमन द्वारा हुआ या प्रचलित रीति के अनुसार औषधें खिलाने पिलाने की प्रतिक्रिया में प्राकृतिक चिकित्सा का प्रचार पश्चिम में और फिर पूर्व में भी हुआ। फिर होमियोपैथी में भी, उसके अन्दर अपने-अपने सम्प्रदाय (स्कूल) हैं, कोई किसी बात पर जोर देता है, दूसरा दूसरी बात पर। इसी प्रकार प्राकृतिक चिकित्सा में भी कोई मिट्टी के ही इलाज पर जोर देता है, कोई जल की चिकित्सा पर ही, कोई दूध या नमक को अप्राकृतिक कहता है तो कोई दूध से या वलिक नमक से ही सब चिकित्सा करने का दावा करता है।

इन सभी चिकित्सा पद्धतियों के विरोध में है मानसिक चिकित्सा। उनका कहना है सभी दवा या उपचार (निसर्गोपचार भी) बाह्य हैं। असली जड़ मन है। मन को ठीक रखने से सब ठीक होगा। इसी क्रम में मंत्र, तंत्र, झाड़-फूंक तक के भी सब इलाज आ जाते हैं।

इन सभी चिकित्सा-पद्धतियों से लोग लाभ प्राप्त कर रहे हैं। जिसको जिससे लाभ होता है, वह उसी के गुण गाता है। संसार की सरकारें अधिकतर ऐलोपैथी को मान्यता देती हैं क्योंकि वे उसे ही विज्ञान (साइंस) से सिद्ध या संमत मानती हैं। पर होमियोपैथी, प्राकृतिक चिकित्सा आदि भी प्रबल-रोग दूर करने में इतनी सक्षम हो चुकी हैं कि सरकारें इन्हें भी कुछ न कुछ मान्यता देने को बाध्य होती हैं। और सरकार माने या न माने, जनता इन्हें मानती है। जो कोई रुग्ण, आतुर, पीड़ित होता है तो वह रुग्णता से, अपनी आतुरता से छुटकारा पाने के लिए, अपनी पीड़ा को किसी न किसी तरह दूर करने की इच्छा से सब दरवाजे खटखटाता है। जिन बातों में स्वस्थ दशा में वह विश्वास नहीं करता था, उन्हें भी करता है। बहुत से ऐलोपैथी मानने वाले रोग जाता न देखकर होमिमोपैथ के पास भी

जाते हैं। सब चिकित्सायें परख लेने के वाद भी आराम न मिले तो (हजारों रुपये खर्च कर चुकने के वाद) प्राकृतिक चिकित्सक के पास जाते हैं। स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी एक पंजाबी सिक्ख का जिक्र करते थे जो असाध्य राजयक्ष्मा (टी० बी०) से पीड़ित था कि मैंने उसे नाम लेकर कहा "अरे तूने मरना तो है ही, तू एक बार धौति (हठयोग की एक क्रिया) करके देख।" वे बताते थे कि वह धौति से बिल्कुल अच्छा हो गया। मैंने तथाकथित प्रामाणिक (Qualified) डाक्टरों को देखा है कि वे न केवल स्वयं होमियोपैथी, प्राकृतिक चिकित्सा की शरण लेते हैं और दूसरों को भी आयुर्वेदिक होमियोपैथी दवाई प्रकट या छिपे रूप में देते हैं, वल्कि झाड़फूँकवालों तक के पास जाते हैं और उनकी चिकित्सा को (सबके सामने न सही) आश्चर्यजनक गुणकारी वताते हैं। यहां तक कि आजकल अपना मूत्र पीने की चिकित्सा (जिसकी कि अखबारों में भी चर्चा चल रही है और जिसे होमियोपैथी या प्राकृतिक चिकित्सा के रूप में अपनाया जाता है) से आश्चर्यजनक लाभ होते देखे गये हैं।

आयुर्वेद की चिकित्सापद्धति आजकल हमारे देश में प्रचलित पद्धतियों में से देशी चिकित्सा की एक (दूसरी यूनानी मानी जाती है) पद्धति मानी जाती है। पर अपने प्राचीन मौलिक रूप में यह सर्वांगीण थी। बल्कि जगत् में चिकित्सा शास्त्र में होने वाले नये से नये सब आविष्कार भी उसमें सदा ही सम्मिलित किये जा सकते हैं। हम उसे (आयुर्वेद को) इसी विशाल, सर्वांगीण, सार्वकालिक, सार्वदेशिक रूप में दिखाना पसन्द करते हैं। आयुर्वेद में संसार की सब चिकित्सा पद्धतियों को स्थान है। वे सब उसमें समा जाती हैं। वह केवल ऐलोपैथी (विषम तत्व द्वारा इलाज) नहीं है। उसमें 'विषस्य विषमौषधम्', 'अग्नि दाधस्य अग्निनाप्रतापनम्' या 'हिमहतस्य हिमेनैव परिघर्षणम्' आदि रूप में होम्योपैथी (सम तत्व द्वारा इलाज) का सिद्धान्त भी स्वीकृत है। प्राचीन आयुर्वेद के पंच कर्म (जिन्हें आजकल के वैद्य जानते भी नहीं), स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन, वस्ति प्राकृतिक चिकित्सा के सुन्दर सिद्धांत हैं। मानसचिकित्सा, मन्त्रचिकित्सा बल्कि जिसे मैं योग चिकित्सा कहता हूं, वह भी आयुर्वेद में समाविष्ट है। यहां तक कि आगे विकसित होने वाली पद्धतियां भी आयुर्वेद में मूल रूप में विद्यमान हैं--यह कहना भी उचित है। पर यह सब कथन तभी कुछ अर्थ रखता है, यदि आयुर्वेद के माने हुए ज्ञाता और नेता लोग आयुर्वेद को इसी बिशाल रूप में स्वीकार करें।

प्राचीन आयुर्वेद के अनुसार रोग का मूल कारण असमता है। हम योग-चिकित्सा में कहेंगे कि रोग का मूल कारण कहीं असामंजस्य का हो जाना है। इसी तरह प्रत्येक चिकित्सा पद्धति का अपना-अपना एक दर्शन है जिस दर्शन (फिलासफी) के अनुसार उस पद्धति में रोग की उत्पत्ति समझी गयी है। जैसे मोटे तौर पर प्राकृतिक चिकित्सा वाले हमें बताते हैं कि अप्राकृतिक जीवन बिताने से

ही सब रोग उत्पन्न होते हैं अतः प्रकृति की शरण जाने से, प्राकृतिक उपायों का अवलंबन करने से (बिना औषध सेवन के भी) सब रोग दूर हो सकते हैं। होमियोपैथी के सन्त को यह दर्शन हुआ था कि औषध जितनी सूक्ष्म रूप में ले जायी जा सके, उतनी ही वह बलवती हो जाती है और वह विषम के स्थान पर सम रूपवाली हो जाती है। मानस चिकित्सा का दर्शन यह है कि मूलतः मनुष्य मानस प्राणी है अतः उसके सब रोगों का मूल मन में ढूंढा जा सकता है। एक मानसिक चिकित्सक कहा करते थे कि जब कोई रोगी मेरे सामने आता है तो मुझे अन्दर से पता लगता है कि उसके अन्दर कहां किस तत्व की (पंचतत्वों में से) कमी है तो मैं वहीं उस तत्व को मनः शक्ति से भर देता हूँ। वे कहा करते थे कि क्षय रोग भी भला कोई रोग है, वह एक प्रकार की निर्बलता है जो कि बल भर दिये जाने से समाप्त हो जाती है।

आजकल के डाक्टर लोग रोग की उत्पत्ति बहुत करके कीटाणुओं (Germs) के कारण मानते हैं। सो दुनिया में कीटाणुनाशक औषधियों का जोर हो रहा है। दूसरी तरफ इन डाक्टरों में से ही कुछ का कहना है कि केवल कीटाणुओं से—जीवित कीटाणुओं के शरीर में जाने से—भी रोग नहीं होता जब तक कि उस मनुष्य में 'रोगानुशयिता' न हो।

एक हमारे यहां के अध्यापकजी काश्मीर में बीमार थे। डाक्टर ने उन्हें असाध्य लाइलाज बताया और घरवालों को कह दिया कि इसने अब मरना तो है ही, इसे अन्त समय में जो खाना हो खाने दो। उन्हें मूली खाने की बड़ी इच्छा थी। उन्हें मूली लाकर दे दी गयी, वे खा गये। उन्हें और मूली खाने की इच्छा हुई सो वे बीसियों मूलियां खा गये और तब से वे अच्छे हो गये। सब रोग जाता रहा।

सोनीपत में एक बहन को बहुत दिनों से बुखार आता था। बहुत इलाज किये, अच्छा नहीं होता था। वह तैश में आकर आत्महत्या के लिए कुंवें में कूद पड़ी। पर लोगों ने उसे कुंवें से निकाल लिया। तब से उसका वह पुराना बुखार जाता रहा। बिलकुल ठीक हो गई।

एक गुरुकुल के स्नातक को काश्मीर में तपेदिक बताया गया। उसके थूक में भी इस बीमारी के जर्म्स पाये गये। उसे वहां के सैनीटोरियम में भरती कर दिया गया और विशेष भोजन तथा इन्जेक्शन प्रारम्भ हो गये। उसे कुछ सूझा और वह सैनिटोरियम से भाग गया और जयपुर की गर्मियों में रहा। वह आज तक ठीक है। उसे कोई व्याधि नहीं है। सब गृहस्थी के कार्य करता है।

देहली के एक वैद्य ने मुझे सुनाया कि एक बार एक गांव का मरीज मेरे पास आया जिसे बहुत बुखार था। वैद्य जी ने उसका बुखार देखने के लिए थर्मामीटर उसके मुँह में लगाया और बातों में लग जाने से वैद्य जी थर्मामीटर निकालना भूल गये। वह थर्मामीटर उसके मुंह में देर तक—आध घंटा, बीस मिनट तक लगा रहा। जब वैद्य जी को याद आया तो वे दौड़े और उसका थर्मामीटर मुंह से निकाला। तो वह ग्रामीण मरीज कहने लगा कि मेरा तो बुखार उतर गया। उस

ग्रामीण ने कभी थर्मामीटर भी नहीं देखा था। उसने समझा था कि यह कोई बुखार उतारने का यन्त्र है जिसे वैद्य जी ने मुंह में लगाया है। वैद्य जी ने पूछा कि तुम्हारा बुखार कैसे उतर गया तो उसने कहा 'इतनी देर तक जो यन्त्र मेरे मुंह में लगा रहा उससे उतर गया।'

एक बार रात को मुझे मुजफ्फरनगर से सहारनपुर तक रेल में ऊपरी दर्जे के डिब्बे में यात्रा करने का अवसर हुआ। उसी डिब्बे में एक सरकारी अस्पताल के कंपाउण्डर सारे रास्ते एक डाक्टर को इलाज के किस्से सुनाते रहे। वे सभी मजेदार थे। पर उसमें से एक यह था कि जेल में एक कैदी को पुराना अतिसार था। उस कंपाउण्डर ने उस पुराने कैदी को कह दिया था कि डिस्पेन्सरी की मेज पर तेरी दवा रख दूंगा, उसे उठाकर खा लेना। उसी मेज पर कम्पाउण्डर ने अपनी खुजली की दवा भी रखी थी। कम्पाउण्डर को जब पता लगा कि वह कैदी गलती से उसकी खुजली की दवाई खा गया तो वह बहुत घबराया कि वह कैदी मर जायेगा। उसके जी में आया कि कम से कम जेल सुपरिन्टेण्डेंट को यह सब खबर तो दे ही देनी चाहिये। पर अगले दिन सुबह जब वह कैदी उसे दीखा तो उसके होश कुछ ठिकाने आये। वह कैदी कहने लगा कि वह दवाई थी तो बहुत बदबूदार पर मेरी बीमारी तो बिलकुल चली गई। तो वह कम्पाउण्डर उस खुजली की दवाई के नुस्खे को डाक्टर को सुनाकर कहता था कि भला इस दवाई से क्या कभी किसी का अतिसार अच्छा हो सकता है।

ऐसे दृष्टांत सैकड़ों सुनाये जा सकते हैं। पाठक भी अपने यहाँ ऐसी अनेकों बातें देखते होंगे। इन दृष्टान्तों को देने का यही प्रयोजन है कि इन्हें देखकर मनुष्य सोचने लगता है कि फिर रोग क्या चीज है, और वह कैसे हटता है। सचमुच रोगों के कारण अनन्त हैं और उनके हटने के उपाय भी अनन्त ही हैं।

बेशक अनन्त होवें, पर क्या उनमें कोई नियम व सिद्धान्त नहीं है?

अवश्य है, पर उसे समझने के लिए, हमें यह समझ लेना होगा कि मनुष्य क्या है?

यद्यपि मनुष्य ऊपर से शरीर रूप दिखाई देता है (शरीर में ही रोग होते हैं) तो भी वह स्थूल शरीर नहीं है। उसके अन्दर प्राणमय शरीर भी है, अर्थात् वह भावयुक्त भी होता है, तीव्र भावों से प्रेरित होता है, प्रेम, दया, करुणा, ईर्ष्या, द्वेष, भय, चिन्ता आदि से नाना प्रकार प्रभावित होता रहता है। यदि वह केवल अन्नमय शरीर (स्थूल देह) वाला ही होता तो बहुत मुश्किल न होती। उसके स्थूल शरीर में ये प्राण के प्रभाव बहुत अधिक हस्तक्षेप करते हैं। फिर उसके भी अन्दर मनोमय आत्मा है। मनुष्य विचार करने वाला भी है, वह केवल भावुक नहीं है। बल्कि विचारयुक्त होना यह मनुष्य की विशेषता है। भाव तो पशु में भी होते हैं, अन्नमय शरीर तो वनस्पति का भी होता है। मनुष्य मन द्वारा श्रेष्ठ प्राणी बना है। पर मन भी अपने विचारों द्वारा शरीर को कम प्रभावित नहीं करता। अपने स्वास्थ्य

विषयक वस्तुओं के गुणों के विषय में, दूसरों के विषय में सम्मति बनाना, इस प्रकार के नाना प्रकार के विचार मनुष्य में बद्धमूल होते हैं जो निरन्तर उसके स्वास्थ्य पर प्रतिक्रिया करते रहते हैं। फिर उसके अन्दर एक नित्य निरामय पुरुष है, हृत्पुरुष है जो उसका सबसे अधिक अपना है अतएव 'आत्मा' कहलाता है। पर उसका अनुभव तो किसी-किसी ही पुरुष को होता है। उपनिषदों के अनुसार अन्नमय, प्राणमय और मनोमय पुरुष के बाद विज्ञानमय तथा आनन्दमय पुरुष का भी उल्लेख है। यह ठीक है कि यदि मनुष्य अपने असली आत्मा को पा जाय और उसके बाह्य मन, प्राण, शरीर उसके अन्दर के आत्मा के अधीन हो जायें तो वह रोग मुक्त ही नहीं हो जायेगा परन्तु आत्मा की अमरता, अजरता का भी साक्षात् अनुभव कर सकेगा। कम से कम श्री अरविन्द हमें यही बताते हैं। उनका कहना है कि कुछ उच्च मनुष्य मन द्वारा भी काफी नीरोगता का जीवन प्राप्त कर लेते हैं। परन्तु विज्ञानमय (Supramental) के प्रभावाधीन हो जाने पर वे स्वभावत: नीरोग हो जावेंगे। तब मनुष्य का नीरोग रहना स्वाभाविक हो जायेगा। परन्तु उस अन्दर के आत्मा की तो अभी हम बात ही करते हैं। पर यहाँ जिस बात की तरफ मैं ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूं, वह यह है कि मनुष्य केवल आत्मा भी नहीं हैं। केवल आत्मा होता तो भी रोगों से छुटकारा हो जाता। मनुष्य में न केवल आत्मा ने अन्य शरीर ऊपर ओढ़े हुए हैं, किन्तु उसमें उसका असली अन्दर का आत्मा खोया हुआ, सोया हुआ सा पड़ा है और मन, प्राण और देह एक से एक अधिक सक्रिय हुए हैं और सामने आये हुए हैं। इसलिए मनुष्य एक जटिल वस्तु बन गया है, सीधी सादी वस्तु नहीं रहा है। इसीलिए उसमें रोगों का उद्गम जटिल कारणों से होता है। वनस्पति के रोगों और पशुओं के भी रोगों की अपेक्षा मनुष्य के रोग बहुत अधिक जटिलता लिये होते हैं। यदि मनुष्य के रोग निवारण के उपायों में भी जटिलता दिखाई देवे तो उसमें कुछ आश्चर्य की बात नहीं।

रोग कहाँ से आते हैं यह कैसे जानें? ईस विषय में जो जटिलता है उस पर प्रकाश डालकर कैसे देखा जावे? आयुर्वेद में वात, पित्त, कफ की विषमता से सब रोगों की उत्पत्ति कही है। रज, सत्व, तम ये तीन गुण प्रकृति में वैसे ही कार्य कर रहे हैं जैसे स्थूल शरीर में वात, पित्त, कफ हैं। इन दोनों के बीच में उसी तरह प्राणमय, मनोमय, अन्नमय शरीर हमारी सत्ता में कार्य कर रहे हैं। मनुष्य की सत्ता में चाहे योग की दृष्टि से मुख्य वस्तु अन्दर की आत्मा हो पर सामान्य मनुष्य के लिए तो उसके प्राण, मन, देह में ही उसकी सत्ता है। तो इस प्राण, मन, देह में परस्पर किसी प्रकार की विसंगति, विषमता हो जाने से मनुष्य रुग्ण हो जाता है। यह आयुर्वेद के त्रिदोष सिद्धान्त की व्याख्या में ही कहा जा सकता है। पांडिचेरी आश्रम की माता जी ने भी रोग पर बहुत कुछ बहुत विस्तार से और बहुत प्रसंगों में कहा है। श्री अरविन्द ने भी बहुत कुछ कहा है। विशेष और मौलिक रुचि रखने वाले भाई माता जी के ही शब्दों में या श्री अरविन्द के अपने ही शब्दों में इस विषय

में पढ़ें तो बहुत उत्तम होगा। पर सारांशत: उसे यों कहा जा सकता है कि सब, सभी प्रकार के रोगों का कारण मन, प्राण और देह की (या इनके उपविभागों के, अंशों के) परस्पर या अन्दर के आत्मा के साथ इनकी किसी प्रकार की विषमता या संतुलन भंग ही होता है। यह संतुलन भंग सैंकड़ों प्रकार से हो सकता है और फिर किसी प्रकार समता स्थापन या संतुलन स्थापन से रोग से मुक्ति भी हो जाती है। यह रोग मुक्ति कभी-कभी पांच मिनट में भी हो सकती है। तब रोगों की उत्पत्ति और हट जाने के अन्य सब कहे जाने वाले कारण बिल्कुल गौण और तुच्छ या नहीं के बराबर हो जाते हैं।

पर यदि हम और आत्मा की तरफ बढ़ें तो इससे भी आगे चलकर देखेंगे कि सब रोग बाहर से आते हैं और उनका व्यक्तित्व होता है। श्री अरविन्द व माता जी जिस स्थिति में रहते हैं और अपने साधकों को जिस स्थिति में देखना चाहते हैं, वहाँ यही सत्य है। यह विचित्र सी बात लगेगी, क्योंकि हमें तो रोग अपने अन्दर उत्पन्न होते, बनते दीखते हैं। पर सत्य यही बात है। हम क्या हैं, मनुष्य क्या है इसे हम जरा बारीकी से देख सकें तो हम भी इसी सत्य पर पहुंचेंगे। आत्मा के दृष्टि बिन्दु से यही सत्य है। आत्मा तो, हृत्पुरुष तो निरामय, त्रिकाल में रोग रहित है, अजर, अमर, अभय है। पर उससे प्रभावित, उसके चारों ओर संगठित, आन्तर मन, आन्तर प्राण और आन्तर देह भी उसी तरह रोग आदि के आक्रमण से सर्वथा रहित हैं। फिर भी जो हमारे बाह्य मन, प्राण शरीर में रोग आता है वह बाह्य जगत् से आकर के हममें घुसता है। हम उसे घुसने देते हैं इसलिए वह आ घुसता है। यही नहीं वह प्राण के एक कवच को भेदन करके अन्दर घुसता है और हम अपने को रोगग्रस्त अनुभव करते हैं (जैसा कि श्री अरविन्द के आगे उद्धृत किये गये वचन में कहा गया है)।

श्री अरविन्द की दृष्टि में तो विचार भी सब बाहर से आते हैं। हमने मन से इतना अपना तादात्म्य कर रखा है इसीलिये हमें दीखता है कि विचार मन में पैदा होते हैं। इसी तरह हमने बाह्य मन, प्राण, देह से ऐसी एकात्मकता कर रखी है कि सब आधि व्याधि हमें अपने शरीरों में पैदा होती दीखती है। विचार और व्याधि हमारी अपनी नहीं है, बाहर से आने वाली वस्तुएँ, विजातीय वस्तुएँ हैं। जल चिकित्सा के आविष्कारक लुई कूने कहते हैं कि सब व्याधि विजातीय द्रव्य (Foreign Matter) से आती है। पर योग चिकित्सा कहती है कि व्याधि विजातीय द्रव्य से ही नहीं आती, किन्तु स्वयं विजातीय (Foreign) वस्तु है।

इस विषय की स्पष्टता के लिये यहाँ दो वचन श्री अरविन्द के 'योग के आधार' से लेना बहुत लाभ कारक होगा—

1. "समस्त रोग, भौतिक शरीर में प्रवेश करने से पहले, सूक्ष्म चेतना और सूक्ष्म शरीर के ज्ञानतन्तुमय या प्राण भौतिक कोश से होकर गुजरते हैं। यदि किसी को सूक्ष्म शरीर का ज्ञान है या वह सूक्ष्म चेतना से सचेतन है तो वह रोग को रास्ते

में ही अटका सकता है और उसे भौतिक शरीर में प्रवेश करने से रोक सकता है। परन्तु यह भी सम्भव है कि यह जब उसका ध्यान उधर न हो या जब वह निद्रा में हो तब आ जाय अथवा अवचेतन के रास्ते से या जिस समय वह आत्मरक्षा के लिये असावधान हो ठीक उसी समय एकदम आ घुसे; ऐसी अवस्था में इसके अतिरिक्त और कोई उपाय ही नहीं है कि इसने शरीर पर जितना अधिकार कर लिया हो वहां से उसको मार भगाया जाये। इन आन्तरिक साधनों द्वारा आत्मरक्षा इतनी सुदृढ़ हो सकती है कि शरीर क्रियात्मक रूप में रोगमुक्त हो जाय। ऐसे अनेक योगी हैं जो रोगमुक्त हैं। फिर भी 'क्रियात्मक रूप' में का अर्थ 'सर्वथा' नहीं है। सर्वथा रोग-मुक्तता तो विज्ञानमय परिवर्तन से ही होगी। कारण विज्ञानमय अवस्था के नीचे जो यह रोगमुक्तता होती है वह आखिरकार बहुत सी शक्तियों में से एक शक्ति का ही परिणाम होता है और जो समता उसमें स्थापित हो चुकी है उसके जरा भी भङ्ग होने से इस रोगमुक्तता में बाधा पड़ सकती है, किन्तु विज्ञानमय स्थिति में तो यह प्रकृति का स्वाभाविक नियम ही है। विज्ञानमय तत्व के द्वारा दिव्यीकृत शरीर का रोग से निर्मुक्त होना आप से आप होने वाला होगा, उसकी नवीन प्रकृति में स्वभावतः निहित होगा।

मनोमय लोक तथा अन्याय नीचे के लोकों में जो यौगिक शक्ति है, उसमें और विज्ञानमय प्रकृति में भेद है। जो वस्तु योग-शक्ति द्वारा मन और शरीर चेतना में प्राप्त की जाती है वह विज्ञानमय चेतना में स्वभावतः अन्तर्निहित है और उसकी विद्यमानता उसके कहीं से प्राप्त किये जाने पर निर्भर नहीं करती, किन्तु स्वभावतः है, यह स्वतः सिद्ध और निरपेक्ष है।"

2. "रोग के आक्रमण निम्न प्रकृति के या विरोधी शक्तियों के आक्रमण होते हैं जो प्रकृति में किसी प्रकार की कमजोरी देखकर उसका कोई दरवाजा खुला पाने पर अथवा उसका कुछ भी सहयोग मिलने पर अन्दर आ घुसते हैं—ऐसी अन्य सब वस्तुओं की तरह जो हमारे अन्दर आती हैं या जिन्हें हमें निकाल बाहर कर देना होता है, ये रोग भी हमारे अन्दर बाहर से ही आते हैं। जब ये आते हैं तभी यदि कोई इनके आने का अनुभव कर सके और इनके शरीर में प्रवेश करने से पहले ही इन्हें दूर फेंक देने की शक्ति और अभ्यास उसमें हो जाय तो ऐसा व्यक्ति रोग से मुक्त रह सकता है और जब यह आक्रमण अन्दर से उठता हुआ दिखाई देता है, तब भी यही समझना चाहिये कि यह आया तो बाहर से ही है पर अवचेतना में प्रवेश करने से पहले पकड़ा नहीं जा सका; और एक बार जहाँ यह अवचेतना में आ पहुँचा कि वह शक्ति जो उसको वहाँ लायी है जल्दी ही या देर में उसे अवश्य ही उभाड़ती है और तब यह शरीर को आक्रान्त कर लेता है। जब तुम्हें शरीर में घुस जाने के अनन्तर ही इसका अनुभव होता है तो यह इसलिए होता है कि, यद्यपि यह अवचेतना के द्वार से नहीं किन्तु सीधे ही अन्दर घुस आया है फिर भी जब तक यह अभी बाहर ही था तभी तुम इसको नहीं पकड़ सके। बहुधा यह इसी तरह आया करता

है, सामने से या पार्श्व से संपात रेखा में, सीधे, सूक्ष्म प्राणमय परिवेष्टन को, जो कि हमारे संरक्षण का प्रधान कवच है, भेदन करके बलात् अन्दर घुस आता है। परन्तु इसके भौतिक शरीर में घुस सकने से पहले ही इसे वहीं, उस प्राणमय परिवेष्टन में ही रोक दिया जा सकता है। इस हालत में यह हो सकता है कि साधक को रोग का कुछ असर हो—ऐसा हो सकता है कि ज्वर सा या जुकाम सा हो जाय परन्तु व्याधि का पूर्ण आक्रमण नहीं हो सकता। इससे भी कुछ पहले यदि इसे रोका जा सके या प्राणमय परिवेष्टन स्वयं इसका विरोध करे और अपने आपको दृढ़, सबल और अखंड बनाये रखे तो फिर रोग होगा ही नहीं; इस आक्रमण का शरीर पर कोई असर ही नहीं होगा और इसका कोई नाम निशान तक नहीं रहेगा।"

रोग बाहर से आते हैं तो बाहर का क्या मतलब है? जैसे मनुष्य एक पुरुष है, वैसे जगद्व्यापी भी एक पुरुष है जिसे विराट् कहते हैं। उस समष्टि में यह व्यष्टि (व्यक्ति) रहता है। 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' के अनुसार व्यष्टि और समष्टि का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस जगत में बहुत से, अनेक व्यक्ति हैं इतना ही नहीं है, पर यह विश्व भी एक बड़ा व्यक्ति, पुरुष हैं, जैसे व्यक्ति में एक व्यक्तिगत आत्मा है वैसे विश्व में भी विश्वात्मा है, जिसे ईश्वर भी कहा जाता है, जैसे हमारे मन, प्राण, शरीर हैं वैसे विश्वात्मा का भी एक व्यापक मन है, जिसमें से ही हमारा यह व्यक्तिगत मन उसमें पड़ी एक गांठ की तरह बन गया है, उसमें एक व्यापक प्राण है जिसमें से चक्राकार गति करता हुआ, पानी में पड़ी एक भंवर की तरह हमारा यह व्यक्तिगत प्राण बना है। उसका यह स्थूल आंखों से दिखाई देने वाला सब चराचर भूत शरीर है, जिसके जरा से अंश से हमारा यह अन्नमय शरीर बना है। तो हमारे व्यक्तिगत मन, प्राण, शरीर विश्वव्यापी मनोमय, प्राणमय, अन्नमय तत्व से प्रभावित होते रहते हैं। अच्छे और बुरे दोनों तरह प्रभावित होते रहते हैं। अच्छे रूप में प्रभावित होते हैं तो मन में ऊंचे विचार, प्राण में पवित्र भाव तथा शरीर में नीरोगता, स्वस्थता आदि आते हैं। बुरे रूप में प्रभावित होते हैं तो विकृतियां उत्पन्न होती हैं। श्री अरविन्द के अपने शब्दों में कहें तो जैसे काम, क्रोध, ईर्ष्या आदि प्राण प्रकृति के विकृत रूप हैं और भ्रांति, पक्षपात, मिथ्योपचार, मनोमय प्रकृति के विकृत रूप हैं वैसे ही रोग भौतिक शरीर के विकृत रूप हैं। यदि हमारे मन, प्राण, शरीर में विकृतियां न आ सकें तो हम पूर्ण रूप में स्वस्थ रहेंगे। जैसे काम, क्रोध, ईर्ष्या आदि बाहर की प्राण प्रकृति से हमारे अन्दर आते हैं, जैसे भ्रांति, पक्षपात आदि बाहर की मनोमय प्रकृति से हमारे अन्दर प्रविष्ट होते हैं वैसे ही सब रोग भी बाहर से, बाहर की सूक्ष्म भौतिक प्रकृति से, ज्ञानतन्तुमय या प्राणभौतिक कोष को तोड़कर, हमारे शरीर में घुसते हैं। यदि हममें सूक्ष्म ज्ञान, अन्तर्चेतना हो, शक्ति हो, अभ्यास हो तो हम जैसे काम क्रोधादि को, जैसे भ्रांति, पक्षपात आदि को, वैसे ही रोगों को भी अपने अन्दर घुसने से रोक सकते हैं।

तो अब रोग का स्वरूप स्पष्ट हो गया होगा। रोग विकृति रूप हैं, वे शुद्ध

प्रकृति में नहीं रह सकते, वे बाहर से आते हैं, अपनी, आत्मा की, वस्तु नहीं है। वे आत्मा के विरोधी हैं, उनका हम पर आक्रमण होता है। वे विजातीय हैं, इतना ही नहीं किन्तु वेद की भाषा में वे पाप रूप हैं। वैदिक भाषा में सब पापवाचक शब्द रोग वाचक भी होते हैं, जैसे कण्व, अंहः, रपः आदि। वेद के अनुसार रोगी होना पापी होना है। पाप स्थूल रूप धारण करता है तो रोग हो जाता है। रोग अन्धकार है, असत्य है, अभावात्मक वस्तु है। इस रूप में मनुष्य जब तक रोग को नहीं देख लेता, नहीं अनुभव कर लेता तब तक रोग के वशीभूत होता रहेगा और रोग से डरता रहेगा।

श्री अरविन्द ने जिस 'प्राणमय परिवेष्टन' का उल्लेख किया है, माता जी भी उसका बहुधा उल्लेख करती हैं। वह श्रद्धा, विश्वास, आशापूर्णता, प्रकाश, सामंजस्य व्यापक प्रेम का बना हुआ है। जब संशय, उदासी, अविश्वास, निराशा, भय इत्यादि हमारे प्राण में आते हैं तो इस परिवेष्टन में छेद कर देते हैं और रोग का प्रवेश होता है। यदि हममें श्रद्धा, विश्वास आदि दृढ़, सबल और अखंड रूप में होवें, बने रहें तो यह कवच ही रोग को हममें घुसने नहीं देगा, यह हमारा स्वभावतः संरक्षण करेगा।

जिन तत्वों का यह प्राणमय परिवेष्टन बना होता है, उनके निषेध रूप में ही रोग हैं। अतएव भगवान श्री कृष्ण ने कहा है:—

अज्ञश्चाश्रद्धधानश्च संशयात्मा विनश्यति।

संशय और अश्रद्धा ही नहीं किन्तु भय भी रोग को बुलाने का बड़ा भारी कारण होता है। यह असत्य नहीं है कि शायद नब्बे प्रतिशत बीमारी भय से आती है। भय एकदम उस कवच को तोड़ देता है। पर यह तो प्राण की दृष्टि से हुआ, क्योंकि स्थूल शरीर में आ घुसने वाले रोग इसी प्राणकोष में से गुजरते हैं। असल में किसी भी प्रकार का असामंजस्य, शरीर का मन से, शरीर का प्राण से, शरीर का शरीर से और इस प्रकार $3 \times 3 = 9$ तरह का यह असामंजस्य ही नहीं किन्तु इनमें से किसी का आन्तर आत्मा से असामंजस्य (जो कि बहुत गंभीर वस्तु है) या उपर्युक्त तीन तत्वों के विभिन्न स्तरों में से किसी प्रकार का असामंजस्य या संतुलन-भंग रोग को आवाहन करने वाला हो जाता है। किसी भी स्तर का यह संतुलन भंग उस लोक के साथ हमारा सम्बन्ध बिगाड़ देता है। **यह सम्बन्ध बिगड़ना,** यह विकृति, यह असमता, यह असामंजस्य या संतुलन भंग रोग का कारण होता है, इतना हममें से बहुत समझ सकते हैं और सूक्ष्मता में जावें तो वह विकृति ही, वह असमता ही रोग है, यह हम देख सकेंगे। वह संतुलनभंग रूपी रोग ही हम (व्यक्ति) पर किसी स्तर से आक्रमण करता है और हममें अपने अधिकृत आंशिक मन, प्राण, शरीर के स्वामी रूप हममें उसे रोकने की जांच, शक्ति नहीं होती, बल्कि हमारी दुर्बल प्रकृति में कोई वस्तु उसे अन्दर आने को आमंत्रित करती है अतएव रोग हममें (जो कि स्वभावतः निरामय हैं) आ घुसता है।

रोग का यह ठीक स्वरूप जान लेना ही हमें इस परिणाम पर पहुंचाता है कि रोग का ठीक इलाज योग ही है। रोग यदि संतुलन भंग और असमता है तो संतुलन कायम रखने में और समता स्थापित करने में ही उसकी ठीक चिकित्सा है और इसी का नाम योग है। 'समत्वं योग उच्यते' कहकर गीता में योग का लक्षण ही 'समत्वं' किया है। 'युक्ताहार विहारस्य' में युक्त शब्द जिस अर्थ में बोला जाता है, उसको आजकल की भाषा में बोलें तो 'संतुलित' यही बनेगा। पर योग शब्द का सबसे अधिक प्रचलित अर्थ अर्थात् आत्मा से, भगवान् से, परमतत्व से जुड़ना ही हम लेवें तो योग उस विद्या, उस क्रिया, उस परिपाटी का नाम है जिसके द्वारा मनुष्य अपनी आत्मा से या परम तत्व से जुड़ता है। अतः इस योग द्वारा अर्थात् अपनी वैयक्तिक आत्मा या विश्वात्मा या परात्पर आत्मा से जुड़ने, मेल के द्वारा सब असंतुलन, सब विषमता रूपी रोग, पाप, ताप क्षण में नष्ट हो जाते हैं, हो सकते हैं इसमें कुछ भी संशय नहीं है। अतएव योगचिकित्सा ही रोगों का जड़मूल से नाश करने वाली सर्वोत्तम और अचूक चिकित्सा है। मेरा यह भी विश्वास है कि योग चिकित्सा से हटाया हुआ रोग फिर कभी उस शरीर में नहीं आ सकता। एक योगी के शब्दों में कहूँ तो 'एक व्यक्ति को कोई दूसरा रोग हो सकता है पर योगशक्ति से हटाया गया रोग उसमें फिर कभी नहीं आ सकता।' अथर्ववेद का वचन है 'न सायक प्रणुत्तानां पुनरस्ति निवर्तनम्।' इस वेद वचन को मैं इसी अर्थ में लेता हूं। इसमें जो सायक शब्द है उसका अर्थ है वज्र, इन्द्रबल, आत्मशक्ति जो योग शक्ति के रूप में प्रकट होती है।

विचारात्मक रूप में तो यह बिल्कुल ठीक है और हमारे देश की परम्परा भी यह है। योग सर्वोत्कृष्ट वस्तु है जो कि भगवान् से मेल मिलाने का साधन है। अतएव रोग निवारण के लिये भी योग चिकित्सा सर्वोत्तम मानी जायगी। पर यह योग चिकित्सा व्यवहार में क्या है?

मैं इस योग चिकित्सा का अपने तौर पर एक परिभाषा या लक्षण करने से पहले पाठकों का ध्यान इस बात की तरफ खींचना चाहता हूं कि हमारे देश में योग की विभिन्न प्रणालियां विकसित हुई हैं। पहले हठयोग और राजयोग का भेद है जो कि क्रमशः शरीर और मन को परमेश्वर से मिलने का मुख्य साधन बनाते हैं। प्रसिद्ध त्रिमार्ग है, भक्ति मार्ग, ज्ञान-मार्ग और कर्म मार्ग जिनमें प्रेम, ज्ञान और कर्म द्वारा भगवान् के प्रति पहुँच की जाती है। फिर तन्त्रयोग है जिसका शक्ति ही मुख्य साधन है। श्री अरविन्द इन सब योगों का भी (जैसे अन्य सब विचारों का भी) समन्वय करते हैं। वे अपने समन्वित योग को पूर्णयोग या सर्वांगीण योग (Integral yoga) नाम से पुकारते हैं। उनके योग के सर्वांगीण होने के कारण ही उनके यहाँ साधक के शरीर से सब रोगों का निर्मूल हो जाना ही नहीं है किन्तु उनका शरीर रूपान्तरित होकर पूरा सामंजस्य युक्त तथा सुन्दर होना चाहिए, यह अभीष्ट है। अतः न केवल

समन्वित होने के कारण किन्तु शरीर चिकित्सा के इस प्रकरण में भी हम योग शब्द से उन्हीं के योग को लेंगे।

योग चिकित्सा उस चिकित्सा पद्धति का नाम है जिसमें सब रोगों का निवारण आत्मा या भगवान् की शक्ति को अमोघ और सर्वोपरि मानकर उसी के द्वारा किया जाता है और साधारणतया इस दिव्य शक्ति का प्रयोग रोगी के शरीर, मन, प्राण की या उनके किसी भी स्तर की गुप्त और सुप्त शक्तियों के जगाने और परिचालित करने से या किसी बाह्य वस्तु (स्थूल या शक्ति रूप) को वाहन बनाने से किया जाता है।

यह कहने की जरूरत नहीं कि हठयोग की क्रियाओं से देह की गुप्त और सुप्त शक्तियों का जागरण, हठयोग और राजयोग के प्राणायामों या अन्य प्राण क्रियाओं द्वारा प्राणमय शरीर की गुप्त और सुप्त शक्तियों का जागरण, एवं राजयोग के ध्यान की नानाविध क्रियाओं द्वारा मनोमय की गुप्त और सुप्त शक्तियों का परिचालन होना सम्भव होता है। इस दिव्य शक्ति का दूसरों में संचार करने के लिये समर्थ योगी लोग स्थूल चीज (जैसे भस्म, पुष्प, ध्यान आदि) और शक्ति रूप (जैसे शब्द, मन्त्र, यन्त्र आदि) को वाहन बनाते हैं।

योग पद्धतियों में हठयोग उस पद्धति का नाम है जिसमें शरीर को मुख्य साधन मानकर आत्मा को, भगवान् को पाने की विधि (उससे युक्त होने, योग करने की विधि) बताई गई हैं। अतः स्वभावतः शरीर के रोगों को दूर करने की क्रिया सर्वप्रथम इसी योग पद्धति से सम्बन्ध रखती है।

शरीर को आद्य साधन मानकर उसमें से रोग निवारण के लिए हठयोग की शरीर शोधन की विधियाँ, आसन और मुद्राएं प्रमुख हैं। आजकल आसनों की चर्चा सबसे प्रथम होती है अतः पहले हम भी उन्हें ही लेते हैं।

आसन का अर्थ है किसी स्थिति में बैठना, होना। मनुष्य अभी तक सबसे अधिक विकसित प्राणी है, सो मनुष्य जिस आसन में है वह सबसे अधिक विकसित रूप है—यह कहा जा सकता है। मनुष्य जिन-जिन योनियों में से गुजर कर आया है, उन सबकी स्थिति, आसन उनके लिये अस्वाभाविक नहीं होने चाहियें। विगत भिन्न-भिन्न योनियों की स्थिति ही हठयोग के आसन हैं। अतएव चौरासी आसन या चौरासी लाख आसन कहे जाते हैं—

आसनानि समस्तानि यावन्तो जीव जन्तवः।
चतुरशीति लक्षाणि शिवेन कथितानि च॥

अतएव हम देखते हैं कि प्रचलित आसनों में से बहुत से आसन पशुओं के, मनुष्येतर योनियों के नाम पर हैं जैसे सिंहासन, गोमुखासन, मत्स्यासन, मयूर, कुक्कुट, कूर्म, मंडूक, गरुड़, वृष, शलभ, मकर, उष्ट्र तथा भुजंगासन आदि।

मोटे तौर से इस देह विकास को हम देखना चाहें तो मेरुदण्ड की स्थिति की दृष्टि से हम कह सकते हैं कि पहले स्थावर (वृक्ष) योनि में तो मेरुदण्ड उलटा

था। वृक्षों का सिर नीचे है और पैर ऊपर है। तब मेरुदण्ड उल्टा खड़ा था। फिर पशुओं में वह खड़े के स्थान पर पड़ा दिगन्त सम (Horizontal) हो गया। पशु-पक्षी आदि का सिर आगे पुच्छ प्रतिष्ठा पीछे होती है। फिर मनुष्य में वह पड़े के स्थान पर सीधा खड़ा हो गया। मनुष्य का सिर आकाश की तरफ है और पैर पृथ्वी पर है। इन तीन स्थितियों के बीच में सब हठयोग के आसन (84 या 84 लाख) समा जाते हैं। अर्थात् वृक्ष से लेकर मनुष्य तक की सब योनियों की भिन्न-भिन्न स्थिति, भिन्न-भिन्न तरह आसीन होना, उस समय उसी स्थिति में स्वाभाविकतया जीवन भर ठहरना, इसी से 84 आसन बने हैं। अतएव आसनों के सब तोड़-मोड़ स्वाभाविक हैं। कई मोटे, बेढंगे लोगों को जो जो आसन करना प्रारम्भ में अशक्य असंभव लगते हैं, वे भी कुछ समय बाद होने लगते हैं। मनुष्य को विकास की पिछली स्थितियों में जाना और रहना अब भी आवश्यक तो नहीं होना चाहिए पर उसे उनमें जाने की शक्यता अवश्य होनी चाहिये। इसीलिये मनुष्य को सभी आसन करने सीख लेने चाहियें अर्थात् उन आसनों में वह स्थिर हो सके, यह क्रियात्मक रूप में करके देख लेना चाहिये। उससे उसमें शारीरिक तोड़-मोड़ की कमी के कारण कोई रोग (असामंजस्य) नहीं रह सकेगा।

इसी तरह हठयोग के प्रसिद्ध षट्कर्म निम्न हैं (जैसे आयुर्वेद के पंच कर्म हैं)—

(1) **धौति** अर्थात् धोना। यह चार प्रकार की (i) अन्तः धौति (यह भी फिर चार प्रकार की बात, जल, अग्नि तथा बाहर की) (ii) दन्त धौति (पांच प्रकार) (iii) हृदय धौति (तीन प्रकार से) इसी में कपड़े से की जाने वाली प्रसिद्ध धौति भी एक है। (iv) मूल शोधन अर्थात् गुदा शोधन।

(2) **वस्ति** छोटी आंतों की सफाई।

(3) **नेति** यह नाक में जल या सूत या बारीक कपड़े की बनी एक डोरे की सी चीज से की जाती है। इससे गले से ऊपर के सब रोग दूर होना तथा दृष्टि का तीक्ष्ण होना स्वभावतः होता है।

(4) **लौलिकी** पेट तथा आंतों को इधर और उधर घुमाना।

(5) **त्राटक** आंखों से टकटकी लगाकर देखना जब तक आंख से पानी न निकले।

(6) **कपाल भाति** से या जल से कपाल को अन्दर से चमका देना।

ये पांचों शोधन विधियाँ गुरू से सीखकर ही करनी चाहिये। केवल पुस्तक में देखकर नहीं। ये सब हठयोग की शोधन विधियां तथा आसन हैं जो कि जानकार के द्वारा सीखकर किये जायें तो योग चिकित्सा में सब से प्रथम सहायक हो सकते हैं।

हठयोग के तीन प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं (1) हठयोग प्रदीपिका, (2) शिव संहिता और (3) घेरंड संहिता। इनमें मुझे घेरंड संहिता सब से अधिक क्रमबद्ध और अच्छी लगती है। शिव संहिता में अधिक विस्तार तथा शायद अधिक अत्युक्ति भी

है। जो हो, मैंने ऊपर आसनों के विषय में जो श्लोक उद्धृत किया है वह घेरंड संहिता का ही है। घेरंड संहिता में मुद्राएं पच्चीस बताई गई हैं।

सबसे पहले शोधन की क्रियायें आती हैं और फिर आसन। धौति, नैति, वस्ति आदि छह क्रियाओं से शरीर इतना शुद्ध हो सकता है कि एक मित्र कहते थे कि जो ये षट्कर्म कर ले उसमें रोग कहाँ से घुसेगा यह समझ नहीं आता।

घेरंड संहिता में लिखा है कि षट्कर्मों से शोधन होता है तो आसनों से दृढ़ता आती है। उसके बाद मुद्राओं के करने से स्थिरता आती है। मुद्रा आसन की अपेक्षा अधिक गहरी वस्तु है। आसन स्थिति है तो मुद्रा बनावट है। मुद्रा हममें और भी स्थिर प्रभाव उत्पन्न करती है। जो लोग भारतीय हठयोग की क्रियाओं का वैज्ञानिक अध्ययन करते हैं, उनके लिये मुद्राओं का अध्ययन विशेष उपयोग का होना चाहिये। बम्बई के निकट 'लोनावला' में श्री कुवलयानन्द जी (पूर्वनाम जे० सी० गुने) का जो केवल्य धाम है वह इस दिशा में बहुत अच्छा कार्य कर रहा है, ऐसी मेरी धारणा है। उन लोगों का ही प्रयत्न साधारण पश्चिमी मन को भारत की योगपद्धति की तरफ आकृष्ट करने में सफल हो सकेगा, यह तो आसानी से कहा जा सकता है। वैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन करने वाले लोग कहते हैं कि हठयोग की आसनादि क्रियाओं में ग्रन्थियों का स्राव (glands का secretion) बड़े महत्व की चीज है। पर वह वस्तु मुख्यतया मुद्राओं में है। पचीस मुद्राओं का नामोल्लेख आदि करने की जगह उनके एक सिद्धान्त की तरफ पाठकों का ध्यान खींचना पर्याप्त समझता हूं। मनुष्य प्रारम्भ से ही अमृत की खोज में है। शरीरक्रिया-विज्ञान के अनुसार हमारे अन्दर अमृत रूप रस और विष रूप रस दोनों का स्राव होता रहता है। जिसकी प्रबलता हो जाय वैसा ही हमारे शारीरिक जीवन का परिणाम होगा। हठयोग के अनुसार तालु मूल में अमृत झरता है। उदाहरण के लिये विपरीत करणी मुद्रा (सर्वांगासन भी इसे कह सकते हैं)—इसकी कुवलयानन्द जी ने बहुत प्रशंसा की है, शीर्षासन की अपेक्षा भी इसे बहुत अच्छा माना है—के प्रकरण में घेरंड संहिता कहती है:—

नाभिमूले वसेत्सूर्यः तालुमूले च चन्द्रमा।
अमृतं ग्रसते सूर्यस्तस्मात् मृत्युवशोनरः॥

यह मनुष्य के मरने का शरीरक्रिया (Pathology) संबन्धी नियम हठयोग ने बता दिया है। अब इसे कैसे वश किया जाय यही प्रश्न है। इसका एक उपाय विपरीत करणी मुद्रा है। इस मुद्रा में तालू नीचे और नाभि ऊपर हो जाती है। अतः अमृत का विष द्वारा ग्रसन रुक जाता है। इसी तरह प्रसिद्ध खेचरी मुद्रा है जिसमें अमृत का पान किया जाता है, जीभ को लम्बा बनाकर तालु में, मूल में अड़ाया जाता है। ये दो मैंने उदाहरण दिये हैं। इसी तरह प्रत्येक मुद्रा की (महा मुद्रा, महाबन्ध आदि) बहुत महिमा है। प्रत्येक को जरामरणनाशिनी लिखा है। तो ये मुद्राएं बहुत गंभीर प्रभाव उत्पन्न करने वाली हैं। सामान्यतया हठयोग के विषय में ही कहा

गया है जैसे कच्चा घड़ा पानी में पड़ा हुआ गलता है वैसे ही मनुष्य का शरीर हैं, परन्तु उसे यदि हठयोग की अग्नि में पका लिया जाय तो वह पानी में गलने वाला नहीं रहता।

शरीर की तरह प्राणों की शुद्धि और सबलता और भी आवश्यक है। उसके लिये हठयोग के और राजयोग के प्राणायाम तथा प्राण सम्बन्धी अन्य क्रियाया बड़े काम की हैं। प्राणायाम बहुत प्रकार का है। भिन्न-भिन्न प्रभाव उत्पन्न करने के लिये भिन्न-भिन्न प्राणायाम हैं। उन्हें योग्य गुरू से सीखना चाहिये। साधारणतया इसके जो सिद्धान्त हैं, उनका दिग्दर्शन मैंने 'प्राणदायक व्यायाम' में किया है। जो इस विषय में सामान्य सबलता तथा रोग मुक्ति चाहते हैं, उन्हें वह पुस्तक अवश्य पढ़नी चाहिये और उसके अनुसार श्वास प्रश्वास करते हुए वे व्यायाम नियमित रूप से करने चाहियें। उनसे बहुत से लोगों ने लाभ उठाया है।

बल, शक्ति, सामर्थ्य का भंडार प्राणों में है, यह जानने वाले प्राण साधना की तरफ विशेष ध्यान देंगे। इस पर विजय पा लेना, बहुत बड़ा मैदान मार लेना है ऐसा कहने में जरा भी अत्युक्ति नहीं है।

प्राण के भी अन्दर मन हैं। मनोमय की महिमा बहुत है। राजयोग के सब धारणा, ध्यान, समाधि तथा पातंजल योग का विभूतिपाद इसी मनोमय से सम्बन्ध रखते हैं। सब विभूतियाँ, सिद्धियाँ इन्हीं में कही गई हैं। यहां केवल दिशा को दिखाना अभीष्ट है, विस्तार में जायें तो प्रत्येक स्तर का ही विस्तार अनन्त है।

ध्यान की नाना विधियों के द्वारा मन की गुप्त और सुप्त शक्तियां जागृत करने की विधि राजयोग में विस्तार से बताई गई है। उस तरफ ध्यान खींचना ही यहाँ उद्देश्य है। सीखना तो इन्हें गुरू से ही चाहिये।

यहाँ इतना ही कहना है कि शरीर के मूलाधार में सोयी पड़ी कुंडलिनी शक्ति को जगा कर, प्राण, मनके विस्तृत क्षेत्रों में जब उनकी गुप्त शक्तियों को जगाया जाता हैं, जब चेतना विस्तृत होती जाती है। हम जब शारीरिक स्थूल चेतना में ही बद्ध नहीं रहते, बल्कि प्राण, मन के जो व्यापक समुद्र हैं उनसे भी सम्बद्ध हो जाते हैं, तब हम कुछ जान सकते हैं कि रोग कहाँ-कहाँ से आते हैं और किस तरह हमें अभिभूत कर लेते हैं। अभी तो हम रोगों के विषय में अत्यन्त ही उथला ज्ञान रखते हैं।

शरीर, प्राण और मन का यह पृथक् वर्णन तो समझाने के लिये किया गया है। व्यवहार में इनकी क्रिया बहुत एक दूसरे से मिली जुली होती है। इन सबके पीछे जो आतमा है वह इनको मिलाने वाला है या वही मिलाने वाला होना चाहिये। उस आत्मा की एक पृथक् चेतना है, पृथक् संकल्प है। वही सर्वांगीण योग का आधार है। सर्वांगीण योग में उस आत्मा का, इस केन्द्रीय सत्ता का अनुभव हो जाना मुख्य वस्तु है। पर रोग इसलिये होते हैं चूंकि हमारी सत्ता के ये सब स्तर आत्मा के आधीन नहीं होते, अपनी अपनी हांकते हैं। फिर भी पीछे रहने वाली आत्मचेतना, दिव्य शक्ति, माता (योग शक्ति) हमें संभाले रख सकती है, यदि

हम उसकी तरफ उन्मुख हुए रहें। सचमुच एक पद्धति है (जिसे वे लोग 'क्रिया में बैठना' कहते हैं) जिसमें हमारे इस दिव्य शक्ति को अर्पित होकर बैठने से हमारी समग्र सत्ता का परिचालन यही शक्ति करने लगती है। तब हमें कब किस आसन को या किस मुद्रा को या किस प्राणायाम या ध्यान को करना है वह सब स्वयं होने लगता है। जो आसन या प्राणायाम या शब्दोच्चारण पहले कभी नहीं सीखा या किया था वह भी होने लगता है। हमारी रोग निवृत्ति के लिये जब जैसे चेष्टा करना उचित होगा वैसे ही चेष्टा करने की प्रवृत्ति हममें पैदा हो जावेगी। इसका मतलब है कि एक वैज्ञानिक की तरह बाहर से सोच विचार कर आध्यात्मिक चिकित्सा के रोगी को या उसके चिकित्सक को नहीं जानना या बताना होता कि इस रोग निवारण के लिये अमुक अमुक आसन या क्रिया या जप व ध्यान करना चाहिये पर यह उसे अन्तर्ज्ञान से या स्फुरणा से स्वयं पता लगता है। इसे ही मैं सर्वांगीण प्रक्रिया कहता हूँ। आत्मा ही इसका केन्द्र बिन्दु होता है। इस सर्वांगीण प्रक्रिया में जितनी ही ऊंची शक्ति को हम परिचालित कर सकेंगे उतना शीघ्र और चामत्कारिक रुप से रोग निवारण उससे होना संभव होगा।

योग चिकित्सा का चिकित्सक योगी ही हो सकता है, पर योगी तो मामूली योग करने वाला भी कहलाता है। योग चिकित्सा का चिकित्सक वह योगी है जो कि समर्थ है, जो अपनी शक्ति से दूसरे का कल्याण करने में समर्थ है, जो दिव्य है, जिसमें दैवी शक्ति कार्य कर रही है। श्री अरविंद कहा करते थे कि जो शक्ति मुझ में और मुझ द्वारा कार्य करती है, वह कोई मेरी निजी संपत्ति नहीं है।

माता जी ने श्री अरविन्द के विषय में एक बार बुधवार को सुनाया था—

"मैंने एक और मनुष्य का दृष्टान्त भी देखा है। एक व्यक्ति उनके पास आया। उसके शरीर में किसी स्थान पर तीव्र वेदना हो रही थी, वह कह रहा था ओह, मुझे असह्य वेदना है, यहां इस स्थान पर है। श्री अरविन्द चुप रहे, कुछ बोले नहीं। उन्होंने उस व्यक्ति की ओर देखा। और तभी मैंने देखा कि हाथ के समान कोई वस्तु, एक सूक्ष्म भौतिक प्रकार का हाथ आगे बढ़ा। उसने उस बिन्दु को जो वहां अव्यवस्थित ढंग से नाच रहा था, पकड़ लिया और दूर फेंक दिया और आश्चर्य की बात है कि उसके बाद सब वेदना समाप्त हो गई। और व्यक्ति चिल्ला उठा; ओह मेरा दर्द तो भाग गया। (अप्रैल 1958 बुलैटीन से, पृष्ठ 48)

इससे पहले माता जी ने एक और दृष्टान्त सुनाया था जिसमें श्री अरविन्द के अदृश्य हाथ ने एक व्यक्ति के मस्तिष्क में से 'एक छोटे से काले बिन्दु' को इस तरह निकाल फेंका था जैसे कि किसी कीड़े को दो उंगलियों से निकालकर बाहर फेंक दिया जाता है और उसके बाद से उसका मस्तिष्क निश्चल, शान्त और प्रकाश पूर्ण हो गया था। उसकी शिकायत दूर हो गई थी कि उसे विचार बहुत तंग करते हैं।

असल में ऐसे समर्थ गुरु लोग भगवान् से प्राप्त हुई शक्ति का भगवान् के कार्य के लिये ही उपयोग करते हैं। वे तो अपने को भगवान् का एक यन्त्र अनुभव

करते हैं, जिनके द्वारा, जिनकी यन्त्रता से, भगवान् की ही शक्ति कार्य करती है। तो (सच पूछो तो), योग चिकित्सा में भगवान् ही स्वयं चिकित्सक होते हैं, यह कहा जाय तो वह बहुत ठीक होगा।

वैसे भी योग चिकित्सा में जो शक्ति कार्य करती है, उसे आत्मा की शक्ति या योग शक्ति भी हम कहते हैं। उसे दिव्य शक्ति या माता भी कह सकते हैं। एक प्रसिद्ध डाक्टर ने कहा था कि असल में तो शरीर ही, उसकी प्रकृति ही, रोगी को अच्छा करती है, हम तो अपनी दवाइयाँ मिलाकर रोगी को उसकी स्वयं चिकित्सा होने में कुछ बाधा ही डालते हैं। वस्तुतः शरीर में (अन्नमय आत्मा में) स्थूल देह को ठीक करने की स्वयं शक्ति है और वह अन्त समय तक अपनी तरफ से शरीर को नीरोग करने में लगा रहता है। जब इधर-उधर से कोई सहायता नहीं पहुँचती तभी वह हार मानता है, मरता है अर्थात् स्थूल देह को छोड़ देता है। तो प्रत्येक स्तर पर आत्माएं-प्राणमय आत्मा, मनोमय आत्मा आदि अपनी अपनी शक्ति स्वभावतः प्रयुक्त करते हैं। यह आत्म शक्ति, योग शक्ति या माता ही इस योग में चिकित्सक हैं और भगवान् की अनुमति से वह शक्ति कार्य करती है अतः स्वयं भगवान् ही चिकित्सक होते हैं। तो भी व्यवहारतः आत्मा की, भगवान् की दिव्य शक्तियाँ यहाँ चिकित्सा का कार्य करती हैं।

अतएव योग-चिकित्सा के लिए कोई रोग असाध्य नहीं है क्योंकि भगवान् सर्व समर्थ हैं। डाक्टर लूई कूने ने लिखा है कि जल चिकित्सा से सब रोग तो ठीक हो सकते हैं पर सब रोगी नहीं। पर हम योग चिकित्सा वाले कहेंगे कि कोई भी रोगी कभी अपने को असाध्य न समझे, यद्यपि सभी रोगियों को हम (अल्पबुद्धि लोग) ठीक कर सकेंगे, ऐसा हमारा दावा नहीं है।

मूकं करोति वाचालं, पंगुं लंघ्यते गिरिम्।
यत्कृपा तमहं वन्दे............ ......॥

यह वचन तो सत्य है। उसकी कृपा से गूंगा भी बोल उठता है और लंगड़ा भी पर्वत लांघ सकता है। इसमें जरा भी सन्देह नहीं पर (जैसा कि एक बार श्री अरविन्द कहते थे) इसका यह मतलब नहीं कि दुनिया के सब गूंगे बोल उठेंगे और सब लंगड़े पर्वत लांघने लगेंगे। इसका यही अर्थ है कि उसकी कृपा के लिये कुछ भी अशक्य, असम्भव नहीं है। पर किस स्थान पर उसकी यह कृपा होगी और कहाँ नहीं होगी, यह और बात है। या उसकी कृपा के सर्वत्र बरसने पर भी उसको कौन ग्रहण करेंगे या कौन नहीं करेंगे, यह भी एक बात है।

एक बार मुजफ्फरनगर के एक भाई ने (जिसे बहुत सख्त दर्द का दौरा उठता था) पत्र लिखकर व तार करके सहायता मांगी। पर उसका दर्द ठीक नहीं हुआ। तो उसने पांडिचेरी आने की ठानी। उस पर माताजी ने कहा था कि यदि वह वहाँ हमारी सहायता ग्रहण नहीं कर सकता है तो पांडिचेरी आने से कर लेगा, ऐसी कुछ बात नहीं है। वह पांडिचेरी गया भी, पर उसका दर्द ठीक नहीं हुआ। दूसरी तरफ

एक व्यक्ति ने ज्यों ही कनखल से पांडिचेरी तार किया, त्यों ही उसका रोग एकदम ठीक हो गया। बहुत से लोग जब-जब चिट्ठी लिखते हैं तभी उन्हें सहायता मिल जाती है। कुछ को चिट्ठी के पहुंचने पर मिलती है और कुछ को चिट्ठी का उत्तर मिलने पर बल्कि कुछ स्थूल में पुष्प आदि के मिलने पर। ये सब अधिक या कम खुले हुए व ग्रहणशील होने के दृष्टांत हैं। पर इन सब भेदों के होते हुए भी योग चिकित्सा में कोई रोग असाध्य नहीं है, न हटने योग्य नहीं है।

जिसका यह विश्वास है कि कोई रोग असाध्य नहीं है, वह योग चिकित्सा के अधिकारी हैं। जिनकी सत्ता के किसी भी भाग में ग्रहणशीलता है, उसी से उसका उद्धार होना संभव हो जायेगा, जल्दी या देर में वे ठीक हो सकते हैं। वे योग चिकित्सा के अधिकारी हैं।

कोई रोग कितने वर्षों से है, इससे भी उसके हटने में देर नहीं लगती। एक बहन को सिरदर्द आठ वर्ष से था या दूसरी बीमारी ग्यारह वर्ष से थी। मां बाप हजारों रुपया खर्च कर चुके थे। पर उन दोनों रोगों के चार दिन में हट जाने पर जब उसकी माता आश्चर्य कर रही थी तो मैंने कहा, 'इसमें आश्चर्य की क्या बात है? एक गुफा में हजार वर्ष से अंधेरा हो या चार दिन से, ज्यों ही वहाँ दीपक ले जाया जावेगा उसी क्षण अंधेरा हट जायेगा। सामंजस्य का प्रकाश पहुँचते ही रोग रूपी अन्धकार लुप्त हो जाता है जैसे कि वह कभी था ही नहीं।'

इसलिए योग-चिकित्सा में जैसे दूर और पास की बात नहीं वैसे ही रोग के जीर्ण या नए होने की बात भी नहीं। पर उस तापहारिणी शक्ति के ग्रहण करने या न कर सकने की बात अवश्य हो सकती है।

बहुत से लोग कर्मों का फल समझकर रोग को भोगते रहते हैं। उन्हें मैं कहूँगा कि तुम्हें कैसे पता कि कर्मों का फल कब तक है? उन्हें तो कृपा का आवाहन करना चाहिये, यह स्वयं एक उत्कट शुभ कर्म है। कृपा के होते ही सब बदल जाता है, सब पाप कर्म एक क्षण में दग्ध हो जाते हैं।

अतः किसी भी दृष्टि से किसी भी रोग को असाध्य समझना, योग चिकित्सा की दृष्टि में, भूल है।

यह स्पष्ट है कि रोगी की अवस्था या परिस्थितियों के अनुसार, उसका रोग किस प्रकार का है इसके अनुसार, हम रोगियों का बहुत भिन्न-भिन्न प्रकार से इलाज करेंगे। किसी को औषध भी खिलायेंगे। पातंजल योग दर्शन के चौथे पाद के प्रारम्भ में औषध सेवन से सिद्धि तक सम्भव कही है। दिखावे के लिए, मनः सन्तोष के लिये तो औषध आजकल बहुतों को देनी पड़ती है। किसी को जरा भी औषध नहीं खाने देंगे। कईयों को ऐसे उपचार बतायेंगे जो कि दुनिया में हास्यास्पद समझे जाते हैं या लोगों को अटपटे लगते हैं। इन सब विविध उपचारों में जो एक बात सामान्य होगी, जिस पर एक सूत्र में ये सब विविध उपाय पिरोये हुए होंगे, वह होगी— आत्मप्रेरणा,

आत्मा की आवाज, आत्मा का निर्देश। मानों आत्मा उंगली रखकर कहती है, यह करो।

यह पुस्तिका इसलिये लिखी है कि इसको विचार कर जिसके अनुकूल यह बैठे, वही इधर आवे। बिना अनुमति लिये तो किसी को आना ही नहीं चाहिये। हम अच्छी तरह जानते हैं कि हमारे पास वे ही आवेंगे जिनका भगवदिच्छा के अनुसार मेल विहित होगा, जिनका हमारे द्वारा नीरोग होना किसी कारण इष्ट होगा। नहीं तो भगवान की शक्ति तो जगह-जगह अपने ढंग से कार्य कर रही है अतः हम किसी को बुलाना नहीं चाहते।

और रोगी को बुलाना तो उसमें रोग की चाह करना है। हम तो चाहते हैं—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःखभाग्भवेत् ॥

आसन और प्राणायाम के विषय में मेरा अनुभव

यह लेख स्वाध्याय मंडल, पारडी से प्रकाशित पुस्तक 'योग साधन की तैयारी, के पांचवें संस्करण (सन् 1951) से उद्धृत किया जा रहा है। यह पुस्तक योग साधन माला क्रम की पांचवीं पुस्तक थी और श्री दामोदर सातवलेकर इसके लेखक हैं परन्तु इस लेख के लेखक 'पं० अभयदेव शर्मा' हैं जैसा कि पुस्तक में भी प्रकाशित है।

—सम्पादक

योग साधन की सारी बातें अनुभव की हैं। केवल तर्क से जो लोग योग की प्रक्रियाओं का खंडन अथवा मंडन करने की इच्छा करते हैं, वे न केवल स्वयं भूल पर रहते हैं प्रत्युत् पाठकों को भी उलटे मार्ग पर चलाने का पातक उठाते हैं। मैंने कई लोगों के योग विषयक लेख पढ़े और व्याख्यान तथा वार्तालाप सुने। उनसे मुझे यही बात प्रतीत हुई कि जो अनुभवी पुरुष अपने अनुभव की बात लिखते वा बताते हैं, वह तो सदा सर्वदा एक जैसी ही होती है परन्तु अपना अज्ञान छिपाने के लिए जो लोग अनुभव न प्राप्त कर केवल तर्काडम्बर से ही बातें लिखते और कहते रहते हैं उनसे सत्य धर्म के प्रचार में बड़ी ही हानि हो रही है। इसलिए जैसा कि प्रारंभ से ही विचार रहा है, मैं यहां केवल उतनी ही बात लिखने और कहने लगा हूँ, जितना कि मुझे साफ अनुभव हुआ है।

इस लेख में मैं आसन और प्राणायाम की कुछ वह बात प्रकाशित करने का यत्न करूंगा जिसका कि अनुभव मैंने अपने शरीर पर गत दो तीन वर्षों में देखा है। मुझे विश्वास है कि जो मनुष्य आसन और प्राणायाम करेगे, उनको भी इसी प्रकार अनुभव आ सकता है। इसमें किसी प्रकार का धोखा नहीं है। मेरा यह अनुभव है है कि जो लोग नियम के विरुद्ध आचरण प्राणायामादिक क्रियाओं का अनुष्ठान करने की चेष्टा करते हैं, उनके शरीर पर ही विरुद्ध परिणाम दिखाई देता है। परन्तु जो मनुष्य आहार, विहार तथा अनुष्ठान योग्य विधि पूर्वक सुनियमों के अनुसार विचार कर करते हैं, और असंयम वा हठ के वश अनियम में प्रवृत नहीं होते, उनको योग

साधन से कभी नुकसान उठाना नहीं पड़ता । इसलिए पहली बात यही है कि जो लोग योगसाधन से अपनी सब प्रकार की उन्नति करना चाहते हैं, उनको उचित है कि वे किसी प्रकार के अनियम में प्रवृत न हों, आहार, विहार और अन्य कर्मों में विचारपूर्वक दृढ़ता से सुनियम का पालन करने से ही योगाभ्यास लाभदायक होता है परन्तु जो मूर्खता व हठ के कारण अनियम से व्यवहार करते हैं, उनको योगाभ्यास से बड़े कष्ट होते हैं ।

योग साधन करने की ओर मेरी बहुत दिनों से प्रवृति थी परन्तु साधन के अनुष्ठान का प्रारम्भ संवत् 1974 तक नहीं हुआ । मुझे बाल्य अवस्था से ही कोष्ठ-बद्धता (कब्ज) का रोग था । यह संभवतः पैतृक अर्थात् जिसको वैदिक परिभाषा में 'क्षेत्रिय' कहा जाता है, था । मेरी बद्धकोष्ठता यहां तक भयानक अवस्था तक पहुंच चुकी थी कि मुझे बड़ी ही कठिनता से एक सप्ताह में अधिक से अधिक दो बार शौच आया करता था ।

मेरा अध्ययन कागडी गुरुकुल में हुआ है और मैं इसी विश्वविद्यालय का स्नातक हूँ । इस गुरुकुल का स्थान गंगा के पवित्र तट पर है और यद्यपि यहां का जल-वायु तो मेरे अनुकूल सिद्ध नहीं हुआ तथापि यहां का नगरों से खुला शुद्ध वायु अवश्य ही स्वास्थ्यप्रद होना चाहिये था ।

भागीरथी का निसर्ग निर्मल पवित्र जल, हिमालय की परिशुद्ध वायु तथा गुरुकुल का सात्त्विक भोजन और सबसे बढ़कर स्वास्थ्य-रक्षा के नियमों का सत्यज्ञान मिलने पर भी मेरी कब्जी हटी नहीं और प्रतिदिन बढ़ती ही रही । इससे पाठकों को पता लगेगा कि इस जन्म प्राप्त बीमारी का वेग मेरे शरीर में कितना प्रबल था । मुझे विश्वास है कि यदि मैं गुरुकुल भूमि में न होता और किसी अन्य नगर में विद्याभ्यास करता तो इस कब्जी के कारण मेरा जीवन शीघ्र ही समाप्त होने में कोई संदेह नहीं था ।

नियमपूर्वक रहने पर भी किसी समय एक-एक सप्ताह भर में एक बार भी शौच नहीं होता था, अन्त में वस्ति (एनिमा) से शौच करना पड़ता था । पाठक कदाचित कल्पना कर सकते हैं कि जिसको आठ-आठ दिन शौच न होता हो, उसको कितना कष्ट अनुभव करना पड़ता है । दिन में एक बार खुली रीति से शौच आना, उत्तम स्वास्थ्य का चिह्न है । दिन में अधिक बार शौच आना अथवा सप्ताह भर शौच ही न होना अस्वास्थ्य का ही लक्षण है । इस प्रकार भयंकर कब्जी के कारण किसी समय में भी मुझे स्वास्थ्य का सुख नहीं हुआ ।

मेरा चित्त सदा ही उत्साह रहित, म्लान और उदासीन रहता था । भूख क्या पदार्थ है मुझे पता नहीं था क्योंकि मुझे कभी भूख लगती ही नहीं थी । भूख लगने के कारण अन्न की रुचि प्रतीत नहीं होती थी । कितना भी उत्तम अन्न क्यों न बनाया गया हो, मुझे वह भी स्वादु नहीं लगता था । भूख के बिना अन्न का आनन्द कैसे प्राप्त हो सकता है ? इस प्रकार खुला शौच आने का सौख्य नहीं, भूख नहीं, अन्न

की रुचि नहीं—ऐसी नित्य अवस्था रहने के कारण अन्न का पचन भी नहीं होता था और पचन न होने के कारण शरीर में रुधिर बनता नहीं था इसलिए मेरा शरीर रक्त हीन पांडुरोगी के समान सदा शुष्क, फीका और निस्तेज रहता था।

उक्त कारणों से मन सदा उदासीन और उत्साहहीन रहता था, स्वभाव भी बहुत ही चिड़चिड़ा था, सब कुछ बुरा ही बुरा लगता था, किसी समय स्वास्थ्य के आनंद का मुझे अनुभव नहीं होता था। सिर दर्द तो मेरा प्रायः साथी ही था। कभी कभी यह सिरदर्द इतना अधिक होता था कि उसके कारण मुझे कुछ भी सूझता ही नहीं था। उसके पश्चात् ज्वर भी हो जाया करता था।

यदि मैं खान पान आदि सारे विषयों में अत्यधिक सावधानता न रखता तो मेरी अधिक ही दुर्दशा होती। परन्तु मैं सदा ही असाधारण सावधानता रखता था इसलिए केवल नियम पूर्वक रहने के कारण हर एक व्याधि मर्यादा से अधिक बढ़ती नहीं थी। इतने नियम पूर्वक व्यवहार करने पर भी मुझे इस कब्जी के कारण एक वर्ष में छह मास रोगी के रूप में रहना पड़ता था। इसी कारण सब कोई मुझे 'रोगी घर में रहने वाला' करके जानता था। मुझे भी अपनी यह अवस्था देखकर बड़ा दुःख होता था परन्तु करता क्या ?

सब गुरुजन मेरे लिए बड़ी चिन्ता रखते थे और गुरुकुल के डाक्टर साहब हृष्टपुष्ट करने के लिए विविध औषधें देते रहते थे और शास्त्र के अनुसार बहुत ही प्रकार के उपाय और इलाज करते थे परन्तु मेरी अवस्था बहुत कुछ अखंड वैसी ही रहती थी। वहां के डाक्टर साहब महोदय जी ने जितने प्रयत्न और नये नये उपाय मेरे लिए किये, उतने शायद किसी के लिए भी उनको न करने पड़े होंगे।

एक बार, मुझे पूरा स्मरण है कि पूरी तरह से रोग दूर कर डालने के लिए विशेषतया मेरी चिकित्सा प्रारंभ हुई। मैं नौ महीने तक चारपाई पर पड़ा रहा, विविध प्रकार के कटु, तिक्त, अम्ल आदि विविध रसरूपी औषध सेवन करता रहा और चिकित्सक की आज्ञानुसार तोलकर अन्न लेता रहा। परन्तु मेरी कब्जी के साथ युद्ध करते करते अन्त में डाक्टर ही पराजित हुए और मेरा रोग जैसा था वैसा ही रहा। इसको कहना चाहिए रोग और ऐसे ही रोगी को कहना चाहिए रोगी!

पश्चात् मुझे लाहौर भेजा गया और वहां के धुरन्धर डाक्टरों का इलाज कराया गया। ऐसे ऐसे बड़े बड़े डाक्टर लाये गये कि जो प्रति समय दस बीस रुपये फीस लेने की योग्यता रखते थे। उनके प्रेसक्रिप्शनों के बड़े बड़े पुस्तक बन गये ! इतनी दवाईयां मेरे पेट ने हजम कर ली और अन्त में सब डाक्टरों का पराभव करके मेरे बद्धकोष्ठ (कब्ज) का ही विजय हुआ।

यह सब देखकर मुझे तथा अन्यों को मेरे जीवन के विषय में बड़ी ही निराशा हो गई थी। मेरी कब्जी किसी औषध से दूर नहीं हो सकती और इसके साथ ही मेरे शरीर की समाप्ति होनी है, यह सर्वसम्मति से निश्चय हो चुका। अन्त में बिलकुल निराशा की अवस्था में मेरे पिताजी द्वारा मेरा हमीरपुर ले जाना हुआ। इस समय

मेरी शारीरिक दुर्बलता इतनी बढ़ गई थी कि यह रेल का सफर बड़ी ही कठिनाई से निर्विघ्न पूरा हुआ। खैर, वहां जाने के पश्चात् एक सिविल सर्जन का इलाज शुरू हुआ। परन्तु उससे कोई लाभ की आशा न बंधी। इसके पश्चात् एक यूनानी हकीम का औषध शुरू हो गया, इससे बहुत कुछ लाभ प्रतीत हुआ। मैं चारपाई से तो उठ खड़ा हुआ परन्तु इनके औषधियों का प्रभाव शरीर में देर तक स्थिर न रह सका।

दस बारह वर्ष इस प्रकार निरन्तर औषधियों के रस पीते-पीते मुझे औषधियों से सख्त घृणा हो गई थी। अब औषधियों के बिना आरोग्य प्राप्त करने के साधनों की तरफ मेरा विचार रहने लगा। औषधियों पर विश्वास हट जाने के कारण डाक्टरों और वैद्यों के पास जाना मैंने बन्द कर दिया और जल चिकित्सा शुरू की गई। उससे लाभ अवश्य हुआ किन्तु चिकित्सा छोड़कर कुछ दिनों बाद फिर वैसी ही अवस्था हो जाती थी। तात्पर्य, स्थिर रूप से लाभ जल-चिकित्सा से भी नहीं हुआ।

जब इस प्रकार स्थूल चिकित्साओं से मैं निराश हो गया, तब मेरी रुचि योग साधन की सूक्ष्म चिकित्सा में बढ़ने लगी। शनैः शनैः मैंने व्यायाम के साथ योग के आसनों का अभ्यास प्रारम्भ किया। शीर्षासन, मत्स्यासन, उष्ट्रासन, गोमुखासन, सर्पासन, मयूरासन आदि विविध प्रकार के आसन प्रतिदिन करने लगा। शीर्षासन तो आधा आधा घंटा तक करने लगा और समय के अनुसार अन्य आसन भी नियमानुसार करने लगा। शीर्षासन आदि का अच्छा अभ्यास करने के लिये मुझे दो मास का समय लगा। इतने समय में जो अनुभव मुझे प्राप्त हुआ, वह कुछ आश्चर्यकारक था जो अन्न पचन होकर ठीक प्रकार साफ शौच कभी कभी आठ दिनों में भी नहीं आता था, वह आसनों के अभ्यास शुरू करने के पश्चात् दो दिनों में साफ होकर आने लगा तथा शौच साफ होना किसको कहते हैं और शौच शुद्धि होने के पश्चात् शौचानन्द कैसा होता है, इस बात का अनुभव आने लगा। इन दिनों आसनों के महत्त्व पर मेरा विश्वास दृढ़ हो गया।

नियमपूर्वक आसनों का अभ्यास करने पर भी प्रतिदिन शौच नहीं होता था वह त्रुटि भी दूर हो गई, जब से मैं कुम्भक प्राणायाम करने लगा। एक दिन ऐसा हुआ कि दैनिक अभ्यास करने के पश्चात् मैं प्राणायाम करने लगा। कुम्भक प्राणायाम का अभ्यास करते ही शौच होने का संभव प्रतीत हुआ। आसन खोलकर मैं शौच चला गया। वही पहला दिन था कि जिस दिन मुझे खुला शौच होने का आनन्द प्राप्त हुआ। इसके पश्चात् नियम पूर्वक आसन और प्राणायाम का अभ्यास मैंने किया और अब भी अपने दैनिक अनुष्ठान में मैं करता रहता हूँ।

उक्त प्रकार आसन और प्राणायाम के नियमपूर्वक दृढ़ अभ्यास से अब मुझे प्रतिदिन शौच हो जाता है। अब मैं प्रतिदिन शौच हो आता हूँ और किसी प्रकार भी कब्ज की शिकायत नहीं रही है। जब से मैंने आसन और प्राणायाम का अभ्यास

प्रारंभ किया तब से मैंने किसी दवा का सेवन नहीं किया क्योंकि औषध की आवश्य-कता ही प्रतीत नहीं हुई।

शौच खुला और साफ आने से अब मैं जानता हूँ कि भूख किसे कहते हैं और भूख लगने से अन्न का स्वाद कैसा होता है। अब अन्न का पचन भी प्रायः ठीक प्रकार होता है, निद्रा भी पहले से अच्छी आती है, चित्त की अपूर्व प्रसन्नता रहती है, सिर दर्द और ज्वर का पता भी नहीं रहा है कि वे कहां भाग गये। पहले मेरा शरीर बड़ा ही कमजोर और मरियल सा रहता था परन्तु अब वह शनैः शनैः अच्छा होने लगा है। देखने वाले (विशेषतया जिन्होंने कि मुझे तीन चार वर्ष बाद देखा है) मेरे चेहरे पर अब सुर्खी आयी हुई कहते हैं। नेत्र में तेज आता हुआ अनुभव होता है, कार्य करने का उत्साह प्रतिदिन बढ़ रहा है। मन की उल्लसित वृत्ति हो गई है। सब जगत उत्साह से परिपूर्ण है, ऐसा मुझे अब प्रतीत होने लगा है। मेरे सामने जो निराशा की छाया सदा रहती थी, वह दूर हो गई है और मैं उत्साह के दिव्य प्रकाश में आ गया हूँ।

जो परिवर्तन विविध डाक्टरों, हकीमों और वैद्यों के औषध नहीं कर सके, वह इष्ट परिवर्तन योग साधन के आसन और प्राणायाम के अनुष्ठान से मेरे शरीर में हो गया और हो रहा है। अब मेरी मस्तिष्क आदि की शक्ति बड़े उत्साह के साथ कार्य करने में समर्थ हो गई है। शरीर के सब अवयव भी कार्यक्षम बने हैं और मुझे पूर्णरीति से अनुभव हुआ है कि योग साधन से सब प्रकार की निर्दोषता और निरोगता प्राप्त हो सकती है।

अब करीब तीन वर्ष हुए हैं कि जब से मेरा स्वास्थ्य औषधि सेवन के बिना ही अति उत्तम रहा है। मेरी अवस्था की अपेक्षा से जिनकी अवस्था अच्छी होगी, उनको तो थोड़े ही समय में लाभ हो सकता है और बड़ा आश्चर्य कारक लाभ हो सकता है! तथा जो प्रारंभ से ही निरोग होंगे, उनका आरोग्य आसन प्राणायाम के अभ्यास से चिरस्थायी हो सकता है अर्थात् जैसा रोगी को आसन-प्राणायाम से लाभ हो सकता है, वैसा ही निरोग भी लाभ प्राप्त कर सकता है।

ऋषि-मुनियों ने यह योगसाधन का मार्ग हमारे लिये सुगम कर रखा है। इसमें किसी प्रकार का धोखा नहीं है, किसी प्रकार का भय नहीं है। इस मार्ग में थोड़ा सा भी प्रयत्न किया जाएगा तो भी बड़ा लाभ हो सकता है। इस मार्ग में थोड़ा चलने से आत्मशक्तियों का विकास हो सकता है। यदि लोग योगाभ्यास करने लगेंगे तो औषधादि विषों के सेवन करने में जो उनके सहस्रों रुपयों का व्यय हो रहा है, निःसंदेह बच जाएगा और सच्चा स्वास्थ्य प्राप्त होगा।

आसन और प्राणायाम के अभ्यास से मेरे शरीर पर और विशेषतः कोष्ठबद्धता विषयक जो लाभ मुझे हुआ है, वह ऊपर दिया है। अभ्यास से जो अन्य सुपरिणाम हो रहे हैं, वे आगे होने वाले हैं, उन्हें भी ठीक समय पर पाठकों के

लिए प्रकाशित करने में मैं संकोच नहीं करूंगा किन्तु अनुभव पूरा होने के पश्चात् ही। सांप्रत मुझे अन्दर एक बड़ी अपूर्णता का ज्ञान प्राप्त हुआ है, यद्यपि डाक्टरी दृष्टि से अब मुझे कोई रोगादिक नहीं है। आजकल मैं इसी के ठीक करने में श्रम कर रहा हूँ। इसी त्रुटि के कारण जो अन्य बहुत से स्वास्थ्य के चिह्न मुझमें प्रकट रूप में आ जाने चाहिये थे, अभी तक प्रकट नहीं हैं और इसी से मैं अभी अपना अनुभव प्रकाशित करने की इच्छा नहीं करता था तो भी जितना बिल्कुल स्पष्ट है, उतना लिख दिया है। परमात्मा ने निश्चय से योग साधन के आश्चर्य प्रकट करने के प्रयोजन से ही मुझे ऐसा त्रुटिपूर्ण शरीर देकर साथ ही योग साधन की इच्छा भी मुझमें पैदा कर रखी है।

———

शीर्षासन से दस लाभ

यह लेख स्वाध्याय मंडल, औंध से प्रकाशित पुस्तक 'आसन' के चतुर्थ संस्करण (सन् 1930) से उद्धृत है। पुस्तक के मुखपृष्ठ पर पुस्तक के लेखक और प्रकाशक श्रीपाद दामोदर सातवलेकर का नाम छपा है लेकिन भीतर श्री पं० 'अभय' देव शर्मा जी के नाम से यह लेख भी इसमें है।

—सम्पादक

मैंने दो ढ़ाई वर्ष तक शीर्षासन का अभ्यास किया है। इसलिए यह समझकर कि, मेरा अनुभव पाठकों को रुचिकर और कुछ सेवाकारक हो सकेगा, इस विषय पर निम्न पंक्तियां लिखने लगा हूँ।

(1) भूख पर—शीर्षासन करने से खूब भूख बढ़ी। अथवा यह कहना अधिक ठीक होगा कि, शीर्षासन से शरीर में किसी चीज की आवश्यकता अनुभव होती थी, जो कि हलके और स्निग्ध भोजन खा लेने से पूरी हुई मालूम होती थी। यह सत्य है कि शीर्षासन करने वाले को घी दूध आदि का विशेष सेवन करना चाहिये, नहीं तो पेट अग्नि से जलने लगता है। कभी-कभी ऐसा भी होता था कि, यह उपर्युक्त आवश्यकता तो शरीर में जरूर अनुभव होती थी, किन्तु समय पर भूख प्रतीत नहीं होती थी। ऐसी अवस्था में एक दो बार मैंने भूख न देखकर भोजन नहीं किया, किन्तु इसका फल यह हुआ कि, एक आध घन्टे के बाद जोर से असह्य भूख लगी। मेरी समझ में शीर्षासन करने वाले को नित्य नियमित रूप से अवश्य भोजन करते रहना चाहिये, अर्थात् इस विपरीत करणी क्रिया के कारण स्थान भ्रष्ट हुए, विजातीय द्रव्य (foreign matter) का परदा कभी कभी आमाशय पर आ जाने से भूख कभी लुप्त सी हो जाये, तो भी भोजन की आवश्यकता शरीर को रहती है, इसलिए भोजन करना चाहिए।

(2) वीर्य रक्षा पर—शीर्षासन से यद्यपि (बिन्दुजय) पूर्ण वीर्य रक्षा तो मुझे नहीं प्राप्त हुई, परन्तु स्वप्नदोष की मात्रा और संख्या अवश्य कम हो गई, और यह सर्वथा निश्चय हो गया कि, इस क्रिया से पूर्ण वीर्य रक्षा कालान्तर में हो जायेगी। 'वीर्य का शरीर में खप जाना' इस बात का अनुभव शीर्षासन करने वाले को जरूर होने लगता है।

(3) नेत्रों पर— कुछ दिनों शीर्षासन करने से नेत्र खुलते से प्रतीत होते थे।

(4) निद्रा पर—शीर्षासन करने के बाद ही शरीर में ऐसा आराम और शांति अनुभव होती थी कि अकसर मुझे इसके उपरान्त थोड़ी सी निद्रा आ जाती थी। परन्तु मेरी रात्रि की निद्रा पर इसका बहुत स्पष्ट प्रभाव प्रतीत नहीं हुआ। उखड़े हुए विजातीय द्रव्यों (Foreign matter) की शरीर में हलचल इसका कारण थी जिससे कि गाढ़ निद्रा बहुत बार नहीं आती थी।

(5) सिरदर्द पर— मैं कुछ आग्रही स्वभाव का हूँ इसलिए चाहे कुछ ही क्यों न हो जाये, मैं शीर्षासन दोनों समय कर ही डालता था। तीन चार बार ऐसा हुआ कि सायंकाल के समय मेरे सिर में दर्द हो रहा था परन्तु फिर भी मैंने शीर्षासन किया ही। हरेक बार इसका परिणाम यह हुआ कि शीर्षासन से एक बार तो जोर से सिर में दर्द बढ़ा और कुछ डकारें आई और फिर एकदम दर्द बिल्कुल अच्छा हो गया। एकदम ऐसा गायब हो गया कि आश्चर्य होता था।

परन्तु अभी मैं और लोगों को यह सलाह देने को तैयार नहीं हूँ कि जब आपके सिर में दर्द हो तब आप शीर्षासन करके खड़े हो जायें। बल्कि यह कह सकता हूँ कि शीर्षासन के अभ्यास से सिर दर्द पैदा होना ही बन्द हो जाएगा।

(6) आगन्तुक रोगों पर—मेरा यह निश्चित अनुभव हो गया था कि जब कभी मुझे कुछ रोग होने का भय होता था, तब वह मेरे शीर्षासन के समय के आने से पहले पहले ही मुझे दबा सकता था, इसके बाद नहीं। कई बार जब चारों ओर बीमारी फैली हुई थी, मुझे भी कुछ ज्वर होने की आशंका हुई। कभी-कभी ऐसा भी मालूम हुआ कि शायद कुछ ज्वर हो भी गया है परन्तु शीर्षासन करने के बाद शरीर बिल्कुल ऐसा निर्व्याधि हो जाता था कि कोई आशंका नहीं रह जाती थी। कई बार बीमारी की कई अलामतें सी पैदा हो जाती थीं परन्तु शीर्षासन के बाद मैं आश्चर्य से देखता था कि वे सब की सब हट जाती थीं। कुछ ज्वर या हरारत, कान में दर्द, जुकाम, खांसी की ठसक आदि अलामतें पैदा होकर भी शीर्षासन के बाद स्वयंमेव उड़ जाती थीं। कभी छाती में सर्दी लग गई है, ऐसा भय हो जाता था परन्तु शीर्षासन कर लेने के बाद सारा शरीर एक समान उष्ण होकर सर्दी का नाम भी न रह जाता था। मेरा विचार है कि यदि किसी को निमोनिया होने का भय हो। (बल्कि प्रारम्भिक अवस्था में आ भी गया हो) तो यदि उससे शीर्षासन कराया जा सके तो वह रोग के आक्रमण से मुक्त हो सकता है। राजयक्ष्मा (तपेदिक) के बीमार को भी यदि शीर्षासन की क्रिया से अद्भुत लाभ पहुँचे तो मुझे कुछ भी आश्चर्य नहीं होगा। परन्तु यह अभी और अधिक परीक्षण करके देखने योग्य है।

(7) निर्बलता पर—यहां मैं अपनी एक घटना का वर्णन करूंगा। सन् 1920 की बरसात में मैं अपने कस्बे से डेढ मील की दूरी पर एक कुटी में रहता था। 31 जुलाई के दिन मैंने कस्बे के आर्य भाइयों से अगले दिन रात्रि के समय

कस्बे में आकर व्याख्यान देने का वायदा कर लिया परन्तु अगले दिन प्रातःकाल ही मुझे ध्यान आया कि आज पहली अगस्त है और महात्मा गांधी के असहयोग का प्रारंभ दिन है। आज देश में बहुत से लोग उपवास रखेंगे, मुझे भी उपवास रखना चाहिए। मैंने दिन भर उपवास रखा परन्तु उस दिन न जाने क्यों, उपवास के कारण बहुत अधिक कमजोरी अनुभव हुई। शाम को कस्बे में जाने की इच्छा न थी परन्तु प्रतिज्ञा कर चुका था, जी कड़ा करके चल पड़ा। मन में बहुत बल का ध्यान करता था परन्तु कमजोरी अनुभव हुए बिना न मानती थी। आधे रास्ते चलकर ही थकावट और कमजोरी से मुझे अधिक चलना भारी हो गया। साथ में अपना घोड़ा था। चाचा जी के कहने से उस पर चढ़ गया कि कुछ आराम मिलेगा। परन्तु घोड़े पर चढ़कर मैंने और भी अधिक श्रम अनुभव किया और घर पहुँचते ही सामने पड़ी हुई एक चारपाई पर बेजान सा होकर पड़ गया। अपनी अवस्था देखकर मन में विचार होने लगा कि शायद अब उपवास तोड़ना पड़ेगा और व्याख्यान तो मैं दे ही न सकूंगा परन्तु शीर्षासन का भी समय हो रहा था जिसे कि मैं छोड़ भी नहीं सकता था और उसके करने की अपने में हिम्मत भी नहीं दीखती थी। आखिर दिल मजबूत करके उठा और धीरे-धीरे कमरे के अन्दर गया, सिर के नीचे कपड़ा रखा और दीवार के सहारे से उलटा खड़ा हो गया। मन में सोचा था कि यदि शीर्षासन न कर सकूंगा तो अवश्य ही जाकर भोजन कर लूंगा परन्तु शीर्षासन का अब चमत्कार देखा। दस मिनट के बाद शरीर में जान सी आने लगी, सारा शरीर सबल हो गया। आनन्द से घन्टाभर शीर्षासन करके बाहर निकला। यह भी भूल गया कि आज मैंने भोजन नहीं कर रखा है। समाज में गया और अच्छी तरह से व्याख्यान दिया। भोजन अगले दिन दस बजे किया और तब तक भी सचेतन बना रहा।

(8) कब्ज पर—दो वर्ष हुए कि मैं 'वैदिक धर्म' के पाठकों को अपनी कोष्ठबद्धता की कष्ट-कहानी सुना चुका हूँ। उस समय तक भी मैं कोष्ठबद्धता से सर्वथा मुक्त नहीं था क्योंकि कुम्भक के बल से ही मलत्याग किया करता था परन्तु अब एक वर्ष से मुझे बिना कुम्भक किये ही स्वयमेव नित्य शौच हो जाता है। इस उन्नति पाने में अन्य आसनादिक के साथ शीर्षासन का भी प्रभाव है। शीर्षासन का विशेष लाभ मुझे यह अनुभव होता है कि एक तो उससे पेट में वायु नहीं रह सकती, वह सब जरूर निकल जाती है और दूसरे शौच बंधकर होता है।

(9) सर्वांग पर—शायद सबसे पहला अनुभव शीर्षासन से यह होता है कि सम्पूर्ण शरीर हल्का और फुर्तीला हो जाता है। सारे शरीर पर एक प्रकार की कांति आ जाती है। सम्पूर्ण त्वचा पर बिना तैलादिक भले ही स्निग्धता बनी रहती ।है यह अनुभव मुझे तीन चार मास अभ्यास करने पर ही प्रकट हो गये थे।

(10) प्राण पर—शीर्षासन से प्राण की गति स्थिर और शांत होने लगती है। स्वयमेव प्राणायाम होता है। इस समय प्राणाभ्याम करने की चेष्टा कदापि न

करनी चाहिए। इससे रेचक पूरक होने लगेगें परन्तु शीर्षासन में 'केवल कम्भक' होता है। इसकी सर्वोत्तम विधि यह है कि (श्वास प्रश्वास पर बिलकुल ध्यान न ले जाकर) मन को कहीं एकाग्र करना चाहिए (जैसे संध्या करना, अपने तेज का ध्यान करना, कपाल, आज्ञाचक्र या हृदय आदि में ध्यान करना या प्रणव जाप करना आदि) इससे स्वयमेव यह प्राणायाम होगा। शीर्षासन करने से पश्चात् अवश्य स्वेच्छा पूर्वक प्राणायाम करना उचित है। मुझे इसका अनुभव इस प्रकार हुआ कि शीर्षासन के पश्चात् स्वयमेव श्वास रोकने की इच्छा होती थी और रोकने पर बिना कष्ट के चिरकाल तक श्वास रुका रहता था। शीर्षासन के बाद प्राणायाम करने से उत्तमतया रक्तशुद्धि हो जाती है। क्यों कि सम्पूर्ण शरीर का रुधिर मलों को लेकर फेफड़े में पहुंचता है।

मेरा विचार होता है कि केवल शीर्षासन के तथा उसके साथ और बाद में होने वाले प्राणायाम से भी अभ्यासी समाधि तक पहुँच सकता है। कई योगाभ्यासियों के कथन सुनकर मैंने अपना यह मत बनाया है। उनका कहना है कि प्रतिदिन तीन घंटा कपाली मुद्रा (शीर्षासन) के अभ्यास से षट्चक्रबेध आदि सब कुछ सिद्ध हो जाता है। इसका कारण यही है कि शीर्षासन से प्राण अन्दर खिंचने लगता है। योगमार्ग में शीर्षासन का सबसे बड़ा लाभ यही है। प्राण का आयाम होने से, जैसा कि योगग्रंथों में लिखा है, इस आसन से आयु वृद्धि होती है और काल पर विजय पाई जाती है। वस्तुतः शीर्षासन आसनों में शीर्ष स्थानीय है।

अन्त में मैं यह अवश्य कहना चाहता हूं कि क्योंकि यह आसन बहुत उत्तम है इसीलिए सावधानी से करना चाहिए। प्रारम्भ में बहुत धीरे-धीरे बढ़ाना चाहिए। यदि कुछ हानि प्रतीत हो तो तत्काल इसे छोड़कर विचार कर लेना चाहिए कि क्यों हानि हुई। कई बार सावधानी से परीक्षण करना चाहिये। हो सकता है कि किन्हीं कारणों से किसी व्यक्ति को यह आसन अनुकूल सिद्ध न हो। उन्हें इस पर आग्रह भी न करना चाहिये। उनके लिए योगी गुरुजन अन्य साधन बतायेंगे, जो उनके अनुकूल हों।

— —

नपुंसक ज्ञान और निर्वीर्य भावावेश

यह लेख 'गुरुकुल' के 26 अप्रैल 1940 और 3 मई 1940 अंकों में 'श्री आचार्य अभयदेव जी का एक भाषण' करके छपा था। —सम्पादक

हम अभी राष्ट्रीय सप्ताह मना कर चुके हैं। देश की वर्तमान स्थिति पर कई चर्चायें और उपदेश सुन चुके हैं। इस संबन्ध में तुम ब्रह्मचारियों को और विशेषतः शिक्षा की दृष्टि से तुम को जो कुछ कहने की इच्छा होती है, उस का संकेत आज के मेरे कथन के शीर्षक से तुम को शायद मिल जायेगा। हम बहुत काल से पराधीन हैं और लगभग बीस-तीस बरस से हम अपनी पराधीनता को काफी मात्रा में अनुभव भी करने लगे हैं। फिर भी हम पराधीनता से मुक्ति नहीं पा सके हैं। इसका क्या कारण है ? इस के जिस कारण की तरफ मैं तुम्हारा ध्यान खींचना चाहता हुँ, वह यह है कि हमारे ज्ञान में तेज नहीं है और हमारे भावावेशों में (Emotions) में वीर्य नहीं है। और यह त्रुटि विशेषतया हम पढ़े लिखे लोगों में है। आम जनता का अन्तः-करण इतना विकृत हुआ नहीं है। उनके अन्दर जो कमी है, वह और प्रकार की कमी है। उन्हें यदि ठीक ज्ञान मिल जाय, उन के भाव यदि जागृत किये जायें तो वे कुछ न कुछ फल अवश्य लाते हैं। पर हम लोग बहुत ज्ञान की चर्चा करते हैं, देश भक्ति के गीत गा कर अपने भावों को उत्तेजित करते हैं पर फिर भी हम जहां के तहां ही रहते हैं, बलिक अन्यों के बढ़ने में रोड़ा बनते हैं। इसका कारण यह है कि हमारे विदेशी शासकों ने जो हमारा मनःसम्मोहन कर रक्खा है, उसके सबसे बड़े शिकार हम पढ़े लिखे लोग ही हुए हैं। 'जादू वह है जो सिर पर चढ़ कर बोले।' वह जादू ही बोल रहा होता है जब कि हम खड़े होकर अपने सेवा परायण सच्चे राष्ट्र सेवकों की निरर्थक टीका टिप्पणी कर रहे होते हैं पर स्वयं कुछ भी करना नहीं चाहते होते जब हम देश विघातक विचारों को बढ़ा रहे हैं और साथ ही अपने आप को पूर्ण देश-भक्त समझ रहे होते हैं, जब हम अपने स्वराज्य की आधारभूत भारतीय संस्कृति पर घातक प्रहार कर रहे होते हैं पर साथ ही अपने को बुद्धिमान और विद्वान् समझ रहे होते हैं।

हम क्या हैं ? पहिले तो अन्नमय स्थूल शरीर हम हैं जिस से कि हम सब स्थूल कार्य करते हैं। पर यदि इस में से प्राण निकल जाये तो यह शरीर केवल जला देने के लायक ही रह जाता है, तो शरीर के बाद हम प्राण हैं जो कि हमारा जीवन रूप है। उस प्राण का ही सूक्ष्म भाग है जिसमें कि भाव उत्पन्न होते हैं और हम इन अच्छे बुरे भावों से प्रेरित हो कर ही नाना विध कर्म करते हैं। पर उस के भी मूल में हमारा मन है जिस के कारण हम मनुष्य हैं। इन मन और प्राण के निःसत्व हो जाने की ही आज मैं बात कर रहा हूँ। असल में हमारा मन और कुछ नहीं है, वह जगद्-व्यापक मन का एक वैयक्तिक रूप है। हमारा प्राण भी और कुछ नहीं है, वह जगद्-व्यापक प्राण (सूत्रात्मा) में पड़ी एक ग्रन्थि के समान है। उस दृष्टि से देखें तो हम बहुत कुछ जगद्-व्यापी शक्तियों से चलाये हुए ही चल रहे होते हैं, अज्ञानवश ही हम यह समझते हैं कि हम यह कर रहे हैं, वह कर रहे हैं। उस अज्ञान से परे हो कर देखें तो हमें मालूम होगा कि हम सत्य को क्रिया में परिणत करने के लिए एक उत्तम यन्त्र रूप हैं। हमें परमेश्वर ने इसलिये बनाया है। सत्य आत्मा में रहता है। जब जब कोई सत्य स्थूल रूप में व्यक्त होना चाहता है तो हमारा मन उसको आकार प्रदान करता है, उसे कल्पित करता है और हमारे प्राण गत भाव उस में जीवन डाल देते हैं और फिर स्थूल प्रकृति (अन्न) उसे स्थूल रूप में ले आती है। इस तरह यन्त्र काम करता है। उदाहरण के लिये, स्वराज्य एक सत्य है। क्योंकि आत्मा स्वराज्य में ही रहना चाहता है और स्वराज्य स्थापित करने के लिए सतत प्रयत्नशील रहता है। यदि हमारा मन विकृत नहीं है और अपनी शक्ति को नहीं खो बैठा है तो वह इस सत्य को व्यक्त करने के लिए स्वराज्य की सच्ची कल्पना करेगा। हमारा स्वराज्य क्या होना चाहिये, यह उसके सम्मुख स्पष्ट रूप से आया हुआ होगा। उसके साथ-साथ प्राण यदि शान्त है तो उसके अन्दर स्वराज्य पाने के लिए सच्चे भाव उत्पन्न होंगे, ऊंचे और बलवान भावावेश आयेंगे। और इस अवस्था में आत्मा का स्वराज्य का संकल्प बिना पूरा हुए नहीं रह सकता। पर अभी यह हो नहीं रहा है, क्योंकि मन और प्राण ठीक तरह काम नहीं कर रहे हैं। इसी तरह देश की आत्मा से अपने आपको एक करने वाले यह भी अनुभव कर सकते हैं कि भारत की अन्तरात्मा भारतीय स्वराज्य को स्थूल रूप में व्यक्त हुआ देखना चाहती है पर फिर भी वह अभी तक व्यक्त नहीं हो सका तो यह भारतीय मन और प्राण के कलुषित और असमर्थ होने के कारण है।

कुछ दिन हुए हमारे यहाँ 'सत्यं साध्यं साधनं वा' इस विषय पर संस्कृत में वाद विवाद हुआ था। असल में सत्य साध्य भी है और साधन भी। सदा सत्य को ही हम ने सिद्ध करना है, इस रूप में सत्य साध्य है। पर साध्य तो दूर की चीज है। जो हमारे नजदीक की चीज है और हमारे बस की है वह तो साधन ही है। वह साधन यदि सत्य होगा तो उस से सत्य साध्य ही सिद्ध होगा। इसलिये हमें आदर्श

स्वरूप, अमूर्त सत्य साध्य को सामने तो अवश्य रखना चाहिये और उसी पर श्रद्धा पूर्वक लक्ष्य बांधे रखना चाहिये, पर वैसा करते हुए सच्चे साधनों को निरन्तर पकड़े रखना चाहिये, उनका आलम्बन नहीं छोड़ना चाहिये। तब सत्य अवश्य ही और जल्दी से जल्दी क्रिया रूप में सिद्ध होगा।

गांधी जी अपने जीवन मार्ग को सत्याग्रह नाम से पुकारते हैं। यह ठीक ही है क्योंकि उनकी मुख्य वस्तु सत्य ही है जिस पर कि वे सतत आग्रह रखना चाहते हैं। पर इस सत्य का आग्रह करने से ही उन्हें जो दूसरी चीज मिली है, उसे वे अहिंसा नाम से पुकारते हैं। यह अहिंसा सत्य के बाद की वस्तु है। उन्होंने देखा कि सत्य का आग्रह अहिंसा के बिना नहीं चल सकता। अतः जो लोग हिंसा अहिंसा के शाब्दिक झगड़े में पड़ते हैं उन के लिए, उनकी उलझन को हटाने के लिए मैं यह कहना चाहता हूं कि गांधी जी का मार्ग अग्नीषोमीय साधना का मार्ग है। बहुत दिन हुए मैंने 'अलंकार' में 'अग्नीषोमीय साधना' इस शीर्षक से एक लेख लिखा था। मुझे इस तरह विचार करना प्रिय लगता है कि जैसे पुराने समय में किसी असुर का संहार करने के लिए तप वा यज्ञ द्वारा देवताओं को या देवताओं की तरफ से किन्हीं दिव्य पुरुषों को कोई दिव्य हथियार मिलते थे, वैसे ही मानों आज साम्राज्यवाद, पूंजीवाद आदि (जो पश्चिमी सभ्यता की माया से जन्मे हैं) असुरों का संहार करने के लिए गांधी जी की तपस्या से हमारे देश को एक अग्नीषोमीय वज्र मिला है जिस के द्वारा उपर्युक्त सब असुरों का संहार कर हमें सच्चे भारतीय स्वराज्य की स्थापना करनी है।

इसका उपाय अग्नि और सोम की उपासना है। हम में अग्नि की तेजस्विताह भी चाहिये और सोम की शान्ति भी। गांधी जी से पहले के लोग साधारणतया राजनीति के सम्बन्ध में शान्ति या अहिंसा को चरितार्थ करने का अर्थ यही समझते थे कि "हमें कुछ नहीं करना है। जो कुछ है वह ठीक है। स्वराज्य नहीं है तो न सही।" पर गांधी जी के अर्थों में यह अहिंसा नहीं है। यह तो मृत्यु की शान्ति है। उन की अहिंसा तो एक जीवित जागृत वस्तु है—एक शक्ति है। उन की अहिंसा वह शान्ति है जो अग्नि के साथ जन्मी है। यदि हम में संकल्प की अग्नि है और यह स्वराज्य थापित करने के दृढ़ संकल्प की अग्नि शान्ति के विस्तृत प्रेममय आधार पर जल रही है तो यह अजेय वस्तु है। इस वज्र के सामने कोई शक्ति टिक नहीं सकती। इस के द्वारा सफलता अनिवार्य है।

आचार्य जुगल किशोर जी ने कल कहा था कि गांधी जी की क्रान्ति विकासात्मिका है (evolutionary revolution है)। वह ठीक है। पर मैं दूसरे शब्दों में यह कहूंगा कि गांधी जी का मार्ग स्वाभाविक परिपाक होने का मार्ग है; और यह परिपाक अग्नि और सोम की प्रक्रिया द्वारा होना है। हमें स्वराज्य हमारे आत्मा के संकल्प रूपी बीज से परिपक्व हुए फल के तौर पर ही प्राप्त होगा, और कहीं से नहीं आ टपकेगा। जब तक कि फल पक कर तैयार नहीं हो जाता, तब तक उसके पाने की

जल्दी करना निरर्थक है। जल्दी करने से कुछ और चीज मिलेगी, परिपक्व फल नहीं मिलेगा। अतः हमें धैर्य से अपने अन्दर पूर्ण स्वराज्य के फल को परिपक्व करने का प्रयत्न सतत करना चाहिये। इधर उधर नहीं देखना चाहिये और बीच में ही पत्तों, फूलों, कोंपलों या कच्चे फलों को तोड़ने की नादानी भी नहीं करनी चाहिये। बिना पके स्वराज्य नहीं स्थापित होगा और वह परिपाक हमने ही करना है। अंग्रेजों का उससे कोई सम्बन्ध नहीं है। वह अंग्रेजों के देने और हमारे लेने की चीज नहीं है। हमने ही अपने देश भक्ति के बीज को विकसित करके उसे प्राप्त करना है। यह हमें अच्छी तरह समझ लेना चाहिये और इस विकास में की प्रक्रिया अग्निषोमीय प्रक्रिया है, यह भी समझ लेना चाहिए।

भोजन का परिपाक अग्नि और सोम के द्वारा होता है। में कई वर्षों तक अपना भोजन अपने आप पकाता रहा हूँ। उन दिनों मैं अग्नि और सोम की लीला देखा करता था। भोजन पकाने में आग अग्नि होती है और पानी सोमरस होता है। रोटी के लिए भी आटे में पानी डाल कर गूंथा जाता है और फिर आग के द्वारा पकाया जाता है। यदि पानी न हो तो अग्नि की तीव्रता से रोटी जल जाती है। दाल, शाक, चावल—ये सब चीजें पानी और अग्नि की समतायुक्त क्रिया के द्वारा पकाई जाती हैं। अन्न केवल अग्नि में रख दिया जाय तो वह जल जायेगा, यदि केवल पानी में रख दिया जाय तो वह सड़ जायेगा, दोनों अवस्थाओं में वह पकेगा नहीं। गांधी जी भी अग्नि और सोम के द्वारा भारत को स्वराज्य के रूप में पकाना चाहते हैं। एक तरफ देशभक्ति की आग हम लोगों में जलाते हैं और दूसरी तरफ अहिंसा की शांति को भी कायम रखना चाहते हैं। न हम हिंसा के वशीभूत होकर जल मरें और न गुलामी में पड़े सड़ते रहें, दोनों की समता द्वारा स्वराज्य-अवस्था में परिपक्वता विकसित हो जाय। हमारी स्वाधीन होने की इच्छा का जब इस प्रकार ठीक रूप से परिपाक हो जायेगा तब हमें कोई गुलाम नहीं रख सकेगा, न अंग्रेज और न जर्मनी, न कोई और। सन् 1920-21 में और फिर 1930-31 में देश भक्ति की अग्नि को विशेष रूप से जलाकर उन्होंने भारतवर्ष को गर्म किया है और अहिंसा का सोम रस हमारे अन्दर डाला और दोनों बार देखा है कि हम कुछ-कुछ तो पके हैं परन्तु पूर्ण स्वराज्य की अवस्था से अभी दूर हैं। अब फिर सन् 1940-41 में विशेष रूप से गर्म होने का समय आया दीखता है। क्या इस बार भी पूरा परिपाक नहीं हो पायेगा ? अभी तो यही दीखता है कि हममें न तो काफी अग्नि है और न काफी सोम। हमारा मनः संकल्प जाज्वल्यमान नहीं है। हमारे भावावेशों में वीर्य नहीं आया है। बाहर का जल, (आपः देवता) हमारे अन्दर वीर्य (रेतः) बनकर आया है, यह उपनिषद् वचन यहां स्मरण करना चाहिए। गांधीजी ठीक कहते हैं कि जब तक शांति का व्यापक आधार तैयार नहीं हो जाता है, तब तक जलाई हुई अग्नि अपने आपको वा अपनी वस्तुओं को ही जलाने लगती है। एक बार मैंने

पालक का शाक बनाया था। पालक के पत्तों में वैसे ही पानी बहुत मात्रा में होता है इसलिये उसमें बहुत थोड़ा पानी डाला। कुछ देर बाद कुछ और काम करते हुए मुझे पालक के जलने की गन्ध आई और मैं दौड़ कर आया, बटलोही में और पानी डाला और आग में भी पानी डालकर उसे कम किया। मुझे चौराचोरी काण्ड पर सविनय अवज्ञा आन्दोलन बन्द करने की घटना याद आ गयी। भारतवासी वैसे ही ठण्डे, पानी वाले या शांति प्रिय समझे जाते हैं पर वे भी जरा सी असावधानी से पालक की तरह जलने लगते हैं। यह समझ में आया इसलिये देश को स्वराज्य फल के लिए अग्निषोमीय प्रक्रिया द्वारा धीमे-धीमे ही पकने दो। व्यर्थ में जल्दी मत मचाओ। यही मार्ग सच्चा होने से सब से छोटा है, इसमें विश्वास रखो।

यह ठीक है कि यदि जल मरने और गुलामी में सड़ने में से ही किसी एक चीज का चुनाव करना हो तो जल मरना अच्छा है। इसी लिये गांधीजी कहा करते हैं कि कायरता की अपेक्षा तो अहिंसा भी अच्छी है। जब गांधीजी पहली बार छह साल के लिए जेल भेजे गये थे, उस समय उन्होंने अपना दोष स्वीकार करते हुए यह कहा था कि मैं जानता था कि मैं आग से खेल रहा हूं। आम जनता में देश भक्ति की, स्वराज्य की आकांक्षा की आग जलाना खतरे से खाली नहीं है। मैं कोशिश कर रहा था कि अहिंसा के द्वारा यह अग्नि जीवनदायक ठीक रूप में ही जले, विकृत हो कर नाशकारी न हो जाय। पर गुलामी में रहने की अपेक्षा इस खतरे को उठाना भी ठीक ही था।

हवन में जो हम पवित्र अग्नि लगाते हैं, उसे भी हम अदितेऽनुमन्य स्व इत्यादि मंत्रों द्वारा चारों तरफ जल से परिवेष्टित कर देते हैं। इससे भी हम अपनी राष्ट्रीय उत्थान की प्रक्रिया को प्रति दिन स्मरण कर सकते हैं। हमें जल से परिवेष्टित अग्नि बनना चाहिये। शांति का वातावरण रखते हुए हम देश भक्ति की अग्नि से जल रहे हों। हंसी तो किसी भी चीज की उड़ाई जा सकती है पर जब हम हंसी उड़ाते हुए यह कहते हैं कि 'जब शत्रु हमारे देश पर तोप बन्दूकों से आक्रमण करेंगे तो यह अहिंसा वाले अपने हाथ बांध कर उनके सामने खड़े हो जायेंगे''—तब वे यह भूल जाते हैं कि इस तरह खड़े होने वाले लोग अग्निरूप होंगे। जल से परिवेष्टित होने के कारण हम किसी को अपने ऊपर आक्रमण करने के लिये ललचायेंगे नहीं, पर फिर भी यदि कोई हमारे अन्दर आ घुसेगा तो उसका वही हाल होगा जैसा कि न समझने के कारण अग्नि में अपना हाथ दे देने वाले किसी बालक का होता है। यह हवन कुण्ड में जलने वाली अग्नि किसी पर तोप बन्दूक से आक्रमण नहीं करती। उस पर आक्रमण करने वाले को भी वह तब तक कुछ नहीं कहती जब तक वह आक्रान्ता वस्तुतः उसके अन्दर आकर उसके काम में—अग्नि के काम में—हस्तक्षेप नहीं करता। इसी तरह यदि हम देशभक्ति से प्रदीप्त हुए-हुए हैं तो एक तो हमारे तेज को जानने वाले को हमारे पर आक्रमण करने का

साहस ही नहीं होगा और यदि होगा तो वह हमारे काम में दखल करने पर यहाँ से चले जाने को बाधित होगा। यदि हम सचमुच एक जीवित जागृत राष्ट्र हैं, हमारे सहयोग के बिना हम पर कौन शासन कर सकता है? हमारे काम में दखल ही कैसे कर सकता है? असली बात यह है कि हम अग्नि रूप नहीं हुए हैं, पके नहीं है। इसलिये हमारा निहत्थे खड़े होना हास्यास्पद बात लगती है। जरा कल्पना कीजिये जो अपने स्वातन्त्रय के लिये प्राणपण से तैयार हैं, इस प्रकार के गांधी जी जैसे बहुत से भारत वासियों का आक्रमण के मुकाबले में निहत्थे खड़े होने का अपने देश वासियों पर, परदेशियों पर क्या असर होगा? पर यह तो मुख्यतया जल से परिवेष्टित होने का असर है। अग्निरूप होने का असर तब होगा, जब हमारे तेज के कारण और असहयोग के कारण आक्रमणकारी को हमारे अन्दर आकर भी भागना पड़ेगा।

और सत्याग्रह तो आत्मशक्ति का नाम है। वह बहुत से रूपों में प्रकट होती है। असहयोग, भद्रअवज्ञा, कर न देना, पशु बल को अस्वीकार करना आदि उसके कुछ रूप हैं। सत्याग्रह के असली तत्व को बिना जाने उसके इन में से किसी एक रूप की हंसी बेशक उड़ायी जा सकती है। पर यह तभी तक है जब तक कि अग्निषोमीय साधन द्वारा हम पके नहीं हैं, जब तक कि अग्निषोमीय वज्र को चलाने की कला हमको हस्तगत नहीं हो गई है। ऐसा हो जाने पर तो हम भारतीय अन्तरात्मा की प्रेरणा से, भिन्न रूप से इसका स्वाभाविकतया अनायास प्रयोग करेंगे।

तो असल में तोप बन्दूकों का हमारे स्वराज्य पाने और स्वराज्य की रक्षा से कोई अविनाभावी सम्बन्ध नहीं है। ये हथियार भी वैसे तो अग्नि के ही रूप हैं पर ये विकृत अग्नि के रूप हैं। जो अग्नि हमारे स्वत्व को भी भस्म करने लगती है, उस अग्नि के रूप हैं। यह विकार इतना ज्यादा बढ़ गया है कि इसके कारण आज सारा संसार ही सन्निपात रोग से ग्रस्त हो उन्मत्त और विक्षुब्ध हुआ हुआ है असल में स्वराज्य पाने के लिए जिस चीज की जरूरत है, वह तो स्वराज्य के सत्य को ग्रहण कर सकने वाले मन और प्राण की है। इन्हें हम ठीक करेंगे तो यदि किसी बाह्य हथियार की आवश्यकता होगी तो उसे पाने और चलाने की शक्ति भी हम में स्वतः आ जावेगी। गांधीजी तो कहते हैं कि सत्याग्रह या भद्र अवज्ञा का बल प्रयोग करने की भी हमें जरूरत नहीं है यदि हम रचनात्मक कार्य को ठीक तरह से करलें। रचनात्मक कार्य करना सहज परिपाक करना है। हमें जल जाने की इस लिए आवश्यकता होती है जिससे कि हमारे दूसरे देश बन्धुओं के मन, प्राण सत्य के लिए जागृत हो सकें और हमें गुलाम रखने वाले विदेशी भाइयों पर भी ठीक प्रकार का प्रभाव पड़ सके। विदेशियों पर असर की बात भी पीछे की है। उन पर तो हमारे परिपक्व होने का भी असर पड़ेगा, बल्कि वही सिद्धि दायक असर होगा। अपने को ही पूर्ण रूप से तैयार करना मुख्य बात है। इसके लिये हमें ठीक प्रकार से शिक्षित होना है।

हमारे प्राचीन ऋषियों के कथनानुसार असली शिक्षा अपने आप को जानने में है। "आत्मानं दिद्धि" ज्ञान कहीं बाहर से नहीं आता है। सूचनायें इकट्ठी करने से, खबरें सुनने से, किताबें पढ़ने से ज्ञान नहीं पैदा होता। ये चीजें यदि ठीक प्रकार बर्ती जायें तो ज्ञान के उत्पन्न करने में केवल सहायक हो सकती हैं। असल में तो शिक्षा का उद्देश्य मन को सत्य ज्ञान पा लेने के योग्य बनाना और उत्तम भाव को विकसित करने योग्य बनाना ही है पर आज जो ज्ञान हम पर लादा जा रहा है, जिस तरह हमारे भाव उत्तेजित किये जा रहे हैं, उससे दिनों दिन हमारे और भावावेशों की शक्ति क्षीण ही हो रही है। इनका वीर्य नष्ट हो रहा है। हमारे मनों में स्वयं रचना करने की शक्ति नहीं रही है; हमारे सामने जो विचार जोर से रख दिया जाता है, हमें वही ठीक लगता है। हम तर्क-वितर्क करते हैं, बाल की खाल उतारते हैं, देश-विदेश की नानाविध चर्चाएं करते है पर उनसे कुछ निकलता नहीं, कोई वस्तु बनती नहीं क्योंकि हम आत्म चिन्तन नहीं करते और सब कुछ करते हैं। भावों में देश भक्ति का भाव बहुत ऊंचा भाव है पर उस भाव से प्रेरित होकर हम क्या करते हैं? एक मामूली गांव का आदमी इस भाव से प्रेरित होता है तब वह कुछ न कुछ कर गुजरता है। पर हम न कुछ करते हैं, न करने देते हैं। वस्तुतः गांधीजी का देशोत्थान कराने वाला सीधा सच्चा स्वाभाविक मार्ग जिस के ही कारण आम जनता में गत बीस वर्षों में अद्-भुत जागृति हुई है अब तक बहुत अधिक अद्भुत प्रगति कर चुका होता यदि हम मध्यम श्रेणी के लोग अपने नपुंसक मन और निर्वीर्य भावों के साथ बाधक न होते। एक सच्चा आदमी यदि हिंसा करता है तो वह अपनी सच्चाई के कारण शीघ्र अहिंसा को भी समझ जायेगा। पर हम न तो हिंसा करते हैं न अहिंसा; केवल बातें करते हैं। आचार्य कृपलानी जी ने पिछली लड़ाई के विषय में कहा था कि लायड-जार्ज जैसे धूर्त, कपटी, चालाक नेता को पाकर इंगलैण्ड ने जर्मनी पर विजय पा ली, परन्तु हम गांधी जी जैसे दिव्य नेता और दिव्य हथियार को पाकर भी अभी तक विजय नहीं प्राप्त कर सके। इस का कारण यह है कि हम में अनुशासन नहीं है, हम सेनापति की आज्ञा पालन करना नहीं जानते। उन्होंने बहुत ठीक कहा है। पर मैं इसके आगे और यह कहना चाहता हूं कि हम अभी इस नेता के योग्य ही नहीं बने हैं क्योंकि हम ठीक तरह से शिक्षित नहीं हुए हैं। आत्मिक शक्ति का हथियार उठाने के लिए जिस प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता है, वह शिक्षा हमें नहीं मिली है। इसीलिए मैं शिक्षा की दृष्टि से तुम गुरुकुल के ब्रह्मचारियों को कहता हूं कि तुम अपने आप को जानो, अपने मन और भावों को अन्तर्निरीक्षण द्वारा जानो। यही सच्ची शिक्षा है।

विचारों की अपेक्षा भाव अधिक ऊपरी वस्तु हैं। इस लिये पहले मैं भावों को लेता हूँ। भावों की निर्वीर्यता का मुझे एक अच्छा उदाहरण याद आता है। कभी पढ़ा था कि रूस में एक आदमी नाटक या सिनेमा देख रहा था। वहां दृश्य बहुत

करुणा जनक था। उसे देखते हुए करुणा के मारे उसकी आंखों से अश्रु की धारा निकल रही थी। परन्तु उसी समय उस रात में रूस के जाड़े की रात में उस की मोटर गाड़ी का चालक (driver) ठण्ड के मारे ठिठुर कर मर रहा था। वस्तुतः मर भी गया। तुम जानते हो कि रूस तो मजदूरों का पक्षपात करने वाला देश है। परन्तु उस रूसी धनी आदमी के अन्दर भावावेश के कारण आंसू तो निकल सकते थे पर वही भावावेश सच्ची क्रिया में परिणत नहीं हो सकता था। यही है नाटक-सिनेमा, खेल तमाशे आदि आज तक के प्रचलित मनोरंजनों का सबसे बड़ा पाप। तुम तो उथले विचारों का साहित्य, कविताए, संगीत देखते हो, वह इस के सिवाय और कुछ नहीं कर रहा कि भावोत्तेजन द्वारा हमारी भाव शक्ति को नष्ट कर रहा है। हमारा प्राण तरल जल की तरह है। उस में बड़ी आसानी से भाव उछाल के रूप में प्रकट होते हैं। अपनी सत्ता के इस सुसौम्य भाग के साथ हमें कैसे बरतना चाहिए, भावों का विवेक, सद्भावों की रक्षा और दुर्भावों का विनाश कैसे हो, भाव शक्ति कैसे विशाल और बलवान हो, यही एक बहुत बड़ी शिक्षा की बात है। पुराने गुरू लोग प्राण विद्या और भाव शुद्धि द्वारा इसे ही कराने का यत्न किया करते थे। अन्य सब बातें इसी अन्तः विकास के लिये होती थीं। तुम भी इधर ध्यान दो

भावों का असली उपयोग मन बुद्धि द्वारा कल्पित, रचित वस्तुओं में जीवन डालना है। पर हम भावों से यह काम न लेकर उनसे खेलते हैं, मजा लेते हैं और इस प्रकार भावशक्ति को नष्ट करते हैं। लकड़ी चीरने के लिए बनाई गई आरी से यदि हम खेलने लगे तो उसके दन्दाने टूट जायेंगे और वह चीरने के काम की न रहेगी। उपन्यास, नाटकों के उत्तेजक साहित्य द्वारा तथा आजकल के खेल तमाशों द्वारा हमारे प्राणयन्त्र का ऐसा ही दुरुपयोग हो रहा है। उनसे खेलने का काम लिया जा रहा है। कृत्रिम तौर से उन्हें उत्तेजित करके हमारे भावों की शक्ति नष्ट की जा रही है। यह ऐसा ही है जैसे कि लोग अपने शारीरिक वीर्य, जो कि वस्तुतः सन्तान उत्पन्न करने के लिए, नया जीवन पैदा करने के लिए बनाया गया है, उसे मजा लेने में और आत्मनाश करने में अपव्यय करते हैं। हमारे भाव इसी कारण निर्वीर्य हो रहे हैं।

इसी प्रकार हम बुद्धि से भी खेलते हैं। बौद्धिक विलासिता करते हैं। मजे के लिए या खेल या व्यसन के तौर पर तर्क-वितर्क करते और पढ़ते-पढ़ाते हैं। इसी लिए हमारी मन-बुद्धि की रचना-शक्ति नष्ट हो गई है।

यदि हम अपने अन्तःकरण रूपी यन्त्र को फिर से ठीक और सशक्त करना चाहते हैं तो हमें अपने अन्दर प्रविष्ट होकर अपने अन्तःकरण को जानना और समझना चाहिए। हमारे मन में क्या है, यह बात हम स्वयं नहीं जानते होते। हम किस भाव से प्रेरित होकर अमुक कार्य कर रहे हैं, इसका हमें पता नहीं होता। नीचे की तह में कोई भाव काम कर रहा होता है और उसके ऊपर बिल्कुल विपरीत

हमारा मन जागृत-अवस्था की वृत्ति को और उसके भी बिल्कुल उपरी भाग को जान रहा होता है। हमारी जो अवचेतना (Sub Conscious) है और जो अतिचेतना (Super Conscious) है उसे हम बिल्कुल नहीं जानते। आज़कल के परिश्रमी मनोवैज्ञानिकों ने अवचेतना के विषय में तो बहुत कुछ जानने का यत्न किया है पर अतिचेतना तो प्राचीन आस्तिक योग मार्ग द्वारा ही अनुभव गम्य हो सकती है। आजकल मनोविश्लेषण (Psycho Analysis) की बहुत चर्चा है। यह बहुत अच्छी चीज है। यह आत्म-निरीक्षण ही है। पर यह अवचेतना और 'काम वासना' नामक एक विकृत भाव को ही मुख्य मानकर चलती है। इसलिए यह अधूरी और भ्रमात्मक है। जैसा कि अभी कहूंगा काम-वृत्ति तो मनुष्य की कोई मुख्य वृत्ति नहीं है। यह तो प्रीति के भाव का एक संकुचित और निम्न कोटि का विकार है। पर इतना ठीक है कि हमें अपने अन्दर प्रविष्ट होना चाहिए और अपने आन्तरिक रूप को अच्छी तरह और पूरी पूरी तरह सचाई के साथ जानना चाहिए। अपने भावों और विचारों को अच्छी तरह विश्लेषण करके देखना चाहिए।

वैसे तो भाव सैकड़ों प्रकार के हैं पर हमारे शास्त्रों में सनातन भाव और असनातन भावों के रूप में इनका भेद किया गया है। प्रेम, दया, धैर्य, वीरता, शांति पवित्रता आदि-आदि की सनातन भावों में गिनती है और इनके विरोधी भाव असनातन हैं। या इन्हें भाव और भाव विकार नाम से भी कहा गया है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर ये प्रसिद्ध भाव-विकार हैं। ये षड़ रिपु भी कहलाते हैं। इन्हें हटाकर इनके स्थान पर इनके शुद्ध रूप दिव्यभावों को अपने अन्दर लाना 'भाव-साधना' कहलाती है। पातञ्जल दर्शन में सुख, दुःख, पुण्य, अपुण्य में क्रमशः मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा के भावों को स्थिर करने द्वारा जो चित्त-प्रसादन की विधि बताई गई है वह बड़ी उत्तम है। बौद्धकाल में इस साधना को बहुत महत्त्व दिया गया है और इसका बहुत विस्तार किया गया है। पर मैं भावों के जिस वर्गीकरण की तरफ तुम्हारा ध्यान खींचना चाहता हूं, उसके अनुसार एक तो परस्पर मिलने, एकता स्थापित करने वाले मेल का सनातन भाव है जिसे हम एक शब्द में 'प्रीति' इस नाम से पुकार सकते हैं। दूसरा एक दूसरे से जुदा करने, भेद पैदा करने वाले, हटाव का भाव है। यह 'अप्रीति' या द्वेष (द्विष्=अप्रीतौ) का भाव कहलाता है। बाकी सब भाव इन्हीं दो केन्द्रीय भावों के खेल हैं। सब सनातन भावों का केन्द्र 'प्रीति' का भाव है और सब असनातन भावों का केन्द्र 'अप्रीति' का भाव है। ये ही दो भाव हमारी आन्तरिक या बाह्य स्थिति के कारण विभिन्न सम्बन्धों के अनुसार भिन्न भिन्न रूप धारण करते हैं। जैसे कि जब हम अपने से बड़े के साथ प्रीति करते हैं तो वह प्रीति 'भक्ति' का रूप धारण कर लेती हैं। अपने बराबर वाले के साथ 'मैत्री' हो जाती है और अपने से छोटे के साथ की गई प्रीति करुणा-रूप हो जाती है। इसी तरह अपने से बड़े के साथ की गई 'अप्रीति' भय या ईर्ष्या के भाव

में प्रकट होती है, अपने बराबर वाले के साथ हिंसा या बदला लेने के भाव में और अपने से छोटे के साथ की गई अप्रीति 'घृणा' के भाव में। अपने से दूसरों के साथ जो संबन्ध पड़ता है, उसे मोटे तौर पर इस तरह 'बड़े, 'बराबर' और छोटे इन तीन रूपों में कह दिया है। बाकी सूक्ष्म सम्बन्ध और बहुत से हो सकते हैं। मोटे तौर से यह कहा जा सकता हैं कि तुम्हें बड़ों में भक्ति, साथियों में मैत्री और छोटों में करुण या दया के भाव की साधना करनी चाहिए और ऐसा करते जाने से तुम्हारे सभी भाव धीरे धीरे शुद्ध, व्यवस्थित और बलवान् होते जायेंगे। पहिले समय में जो भाव शुद्धि और चित्त प्रसादन पर जोर दिया जाता था, उसे हमें फिर से अपनाना चाहिए।

इसी प्रकार विचार-साधना के लिए भी हमें विवेक का अभ्यास करना होगा। इस संबन्ध में हमें पातञ्जल दर्शन का वह सूत्र स्मरण करना चाहिये जिसमें नित्य-अनित्य, शुचि-अशुचि, वास्तविक सुख और वास्तविक दुःख; आत्मा और अनात्मा का विवेक करने की बात कहीं गई है। इसी विवेक द्वारा विद्या या सच्चा ज्ञान प्राप्त हो सकता है। प्राचीन शिक्षा प्रणाली के अनुसार विद्या इसी चीज का नाम था और अविद्या से हटकर विद्या को पाना, अन्धकार से हटकर प्रकाश को पाना, मृत्यु से हटकर अमृत को पाना इनका प्रयत्न विचार-साधना द्वारा किया जाता था।

तो फिर तुम यह जानना चाहोगे कि इस भाव साधना और विचार साधना के उपाय क्या हैं ? मैंने जहां तक विचारा है, मुझे इसके तीन जबर्दस्त उपाय समझ में आये हैं। उन्हीं की विशेष तौर से मैं चर्चा करना चाहता हूं। मैं आशा करता हूँ कि तुम इन्हें पूरे ध्यान से सुनोगे। ये तीन उपाय हैं—सच्चाई, विचार और भाव के अनुसार अवश्य आचरण करना और शान्ति। इनमें से एक एक को लेता हूं।

यदि हम अपने बिगड़े हुए अन्तःकरण-यन्त्र को फिर से ठीक करना चाहें तो उसके लिए सबसे अधिक और प्रथम आवश्यक वस्तु है 'सचाई, 'सत्यता' (sincerity) सत्यहृदयता, सत्य आन्तरिक भाव। हम अपने प्रति पूरे पूरे सच्चे हों। अन्तः से अन्तस्तल में पूरी तरह सच्चे और खरे हों--यह न हों कि अन्दर की तह में कुछ और छिपा हो और ऊपर कुछ और हो। किसी चीज को छिपाये रखना, अपने ही आपसे छिपाये रखना छोड़ दें। हमारे अन्दर विभेद न हो। एक भाग कुछ कहता हो—दूसरा भाग कुछ कहता हो, यह न हो। अन्दर की इच्छा कुछ हो पर उसे ढकने के लिए बिल्कुल दूसरी प्रकार की इच्छा प्रकट की जाए, यह न हो। जब हम अपने अन्दर प्रवेश करते हैं तो बहुत सी विरोधी इच्छाओं, विरोधी भावों को परस्पर संघर्ष करते हुए; किसी को दबाते किसी को उभारते हुए हम अपने अन्दर पाते हैं। यह हमारी आन्तरिक विभक्त, परस्पर विरोधी अवस्था ही है जिसके कारण हमारे विचार और भाव शक्ति-रूप नहीं हो पाते। हमें सचाई के आग्रह द्वारा अपने अन्दर एकता और अविरोधिता उत्पन्न करनी चाहिए। जगत् में जिन भी लोगों ने बड़ा

भारी काम किया है, वे सब कम से कम अपने प्रति सच्चे थे। पं० जवाहर लाल जी का सबसे बड़ा गुण 'सत्य हृदयता' है, सच्ची देश की लगन है। सच्चाई ही आत्म-विश्वास का रूप धारण करती है। इसलिए सब महापुरुष आत्मविश्वासी होते हैं। श्रद्धा सत्य की धारणा का ही नाम हैं (श्रत्-सत्य-धा)। और सत्य स्वयं क्रियाशील है। सत्य स्वयंमेव अभिव्यक्त होने की शक्ति रखता है। सत्य को क्रिया में परिणत करने के लिए या अभिव्यक्त करने के लिए किन्हीं अन्य बाह्य साधनों की अपेक्षा है, यह समझना अज्ञान है। सत्य को छिपाने या जो असल में नहीं है उसे दिखाने के लिए तो बाहर के कृत्रिम साधनों की आवश्यकता होती है, पर सत्य तो स्वयं-प्रकाश है। सूर्य की तरह स्वयं प्रकाश वस्तु है। जो सचमुच स्वयं सत्य है, वह तो होकर ही रहेगा—उसको कोई रोक नहीं सकता। सत्य के इस गुण का वर्णन करता हुआ मैं दूसरे उपाय पर आ पहुँचता हूं।

वैसे तो जो सत्य है वह हमें अमल करने के लिए बाधित ही करेगा परन्तु क्योंकि हमारे अन्दर पूरी सच्चाई नहीं है इसलिए हमें इस बात का भी अभ्यास करने की आवश्यकता है कि हमें जो कुछ भी जितना भी सत्य मालूम हुआ हो, हम उस पर अमल करें—उसे अवश्य आचरण में लायें—उसे क्रिया-रूप में परिणत करें। हम लोग यह जानते हुए भी कि सच्चाई के अनुसार हमें यह करना चाहिए, फिर भी हम ऐसा नहीं करते। अच्छे और ऊंचे भाव हमारे अन्दर आते हैं पर वे क्रिया में अपरिणत हुए ही रह जाते हैं। यह हमारी बहुत बुरी हालत है। इसी कारण हम लोग 'उपदेश-प्रूफ' बन जाते हैं। चाहे कितने ही उपदेश सुनते रहें, उनका हम पर कुछ असर नहीं होता हमको यह आदत हो जाती है कि हम अच्छे सत्य उपदेश सुनें—सत्य ज्ञान की पुस्तक पढ़ें सत्य-सनातन भावों को जागृत करने वाले वचनों का आस्वादन करें पर उन पर अमल कभी न करें। आदत एक बहुत जबर्दस्त शक्ति है। इसलिए जब हमें ऐसी विनाशकारी आदत पड़ गई तो समझना चाहिए कि हमारा पतन पूरा हो चुका और हमारा उठना असम्भव है। जब तक कि बड़े भारी यत्न से हम उस आदत को न बदल डालें, तब तक असम्भव है। इसलिए मैं कहता हूँ कि हमें सत्य पर तुरन्त अमल करने की आदत डालनी चाहिए। जिन पुरुषों को इस तरह सत्य को ग्रहण करने की आदत रही है, उन्होंने एक क्षण में, एक दिन में या एक रात में अपने जीवन को बदल डाला था। इसके उदाहरण तुम बहुत से जानते हो। पर हम रोज ईश्वर भक्ति के मन्त्र पढ़ते हुए भी परमेश्वर से दूर के दूर ही रहते हैं और स्वराज्य की ज्ञान चर्चा करते हुए तथा देश भक्ति के भावों की तरंगों में नहाते हुए भी देश के लिए कुछ नहीं करते हैं। इसका कारण यही है कि हम पूरी तरह सच्चे नहीं होते और अपने ज्ञान और भाव के अनुसार आचरण करने के लिए उद्यत नहीं होते। भावी 'बुद्ध' जन्म काल से लगातार राजसी ठाठ में घिरे रक्खे गये परन्तु पहिली बार ही जब उनको एक रोगी एक बुड्ढा और एक मृतक दृष्टिगोचर हुआ तो तत्क्षण उनके

अन्दर वैराग्य का भाव उत्पन्न हुआ और उन्होंने 'बुद्ध' बनने के लिये तुरन्त राजलक्ष्मी का त्याग कर दिया और घर से निकल पड़े। वैराग्य का भाव पैदा करने के लिए उन्हें किन्हीं वैराग्य शतक या धार्मिक ग्रन्थों के पढ़ने की आवश्यकता नहीं हुई और राज्य छोड़ने के लिए किसी संन्यासी के उपदेश की आवश्यकता नहीं हुई क्योंकि वे अन्तस्तल से सच्चे थे और सच्चाई ने अपनी स्वयं-क्रिया शीलता दिखायी।

असल में सत्य और क्रियाशीलता को एक ही बात मानी जा सकती है। तो अन्दर की अव्यवस्था को ठीक करने के लिये सत्य के साथ जिस दूसरी वस्तु की आवश्यकता है, वह है 'शान्ति'। शान्ति के बिना सत्य का पता लगना ही कठिन होता हैं, इस पर अमल करना तो दूर की बात है। 'शान्ति' सत्य के प्रकाश के लिए आधार भूमि होती है। यह भी असल में सत्य से अभिन्न ही है। पर हमें अपने प्रयोजन के लिए सत्य के इस शान्ति रूप को पृथक अच्छी तरह समझना चाहिये, क्योंकि इसके बिना सत्य की क्रिया रूप में परिणति असम्भव है। इसीलिए हमारी शिक्षा में सत्य को पाने के लिये मन को शान्ति को बहुत महत्व दिया गया है। योग की बहुत कुछ साधना मन को शान्त, अचंचल करने और चित्त-वृत्तियों को शान्त रखने के लिए है। वेदों के शांति-प्रकरण से हम सब परिचित हैं। यह सब शान्ति साधना सत्य विद्या के पाने के लिए आवश्यक समझी जाती थी। जैसे कि कोलाहल पूर्ण स्थान में काम की बात सुन सकना भी कठिन होता है, उसी तरह सच्चाई की आवाज को सुनने के लिए मन की अविचल शान्ति आवश्यक है। जैसे जहां ऊटपटांग अवांछित रचनाए हुई है वहां उनको बिना तोड़े नई और सत्य रचना करना असम्भव है वैसे ही सत्य का ठीक आकार ग्रहण करने के लिये मनः पट का बिलकुल रचना रहित और शान्त होना आवश्यक है और जैसे हम उछलते हुए और मैले पानी के अन्दर यह नहीं देख सकते कि इसके नीचे के तल में क्या क्या पड़ा है, वैसे ही गहरे से गहरे छिपे भावों को स्पष्टतया जान सकने के लिए भावों की शान्ति और शुद्धि की आवश्यकता है। भावों का ठीक प्रकार से उपयोग किया जा सके, इसके लिए तो प्राणमय शान्ति की विशेषतः भारी आवश्यकता है। भावों में विशालता, व्यापकता और अतएव महान् शक्तिमत्ता तभी आ सकती है जब कि उनमें महान् शान्ति हो। उत्तेजनाओं और आवेशों में कोई शक्ति नहीं होती। वहां तो क्षणिक जोश या उबाल होता है जो कुछ देर भी नहीं ठहरता। आवेशों के वस हम रोने, हंसने या किसी प्रकार का भाव प्रकाशन करने लगते हैं पर उससे बनता कुछ नहीं। इसके विपरीत शान्ति का व्यापक आधार रखने वाले पुरुषों में जो भाव उत्पन्न होते हैं, वे बड़े चिर स्थायी और बहुत भारी प्रभाव उत्पन्न करने वाले होते हैं। गांधी जी के अन्दर उड़ीसा में भूखे नंगे, अस्थि चर्म विशेष मानव देहों को देखकर जो करुणा का भाव उत्पन्न हुआ था, वही भाव आज चर्खे के आन्दोलन के रूप में अपने आपको सार्थक कर रहा है। उस करुण भाव से उठी गांधी जी की चर्खे के प्रति श्रद्धा कितनी अटल है। उनकी यह श्रद्धा इतने विपरीत जमाने में लगातार बढ़ती और अपना रास्ता बनाती चली गई है। इसलिए बहुत से अविश्वासी धीमे धीमे चर्खे के सत्य के कायल होते

गये हैं। कल श्री स्नातक रामेश्वर जी कहते थे कि मैंने सात आठ साल के इन्कार के बाद अब जो चर्खे को स्वीकार कर लिया, वह ऐसा दृढ़ है कि अब गांधीवाद चाहे नष्ट हो जाये तो भी चर्खा मुझ से नहीं छूट सकता गांधी जी का वह करुणा भाव और उसकी अभिव्यक्ति रूप चर्खा आन्दोलन इतना प्रबल इसीलिए है क्योंकि उनमें यह भाव शान्ति के विशाल आधार में उत्पन्न हुआ है और अतएव सत्य की क्रिया में परिणत होने की शक्ति से युक्त है। जिनमें शान्ति नहीं होती, उनकी भाव शक्ति इतनी कमजोर होती है कि वह ज़रा सी उत्तेजनाओं से उत्तेजित हो जाती है और उतनी ही जल्दी ठण्डी पड़ जाती है। जिन्हें आन्तरिक शान्ति मिली होती है, वे बाहरी उत्तेजनाओं से आसानी से उत्तेजित नहीं होते, वे किसी सच्चाई को या सच्चे भाव को बिल्कुल अपनाने में चाहे देर लगाते हैं पर जब अपना लेते हैं तो वह उनका अंग बन जाता है और बहुत प्रभावशाली होता है। कमजोर लोहा बहुत जल्दी चुम्बकित हो जाता है और थोड़ी देर के लिए थोड़ी सी चुम्बक शक्ति से भी युक्त हो जाता है। परन्तु दृढ़ (जिसके अवयव परस्पर संश्लिष्ट है, एकता युक्त हैं) लोहा देर में चुम्बकित होता है पर जब होता है तो स्वयं एक बड़ा भारी चुम्बक बन जाता है। यह सब शान्ति की महिमा है।

इसी प्रकार जिनके मन में शान्ति स्थापित नहीं हुई होती, उनका मन किसी बड़े सत्य को ग्रहण नहीं कर सकता। उनके अपने कुछ भी विचार नहीं होते, वे जब जिसके विचारों को सुनते, पढ़ते या जानते हैं, उस समय के लिये उनके वे ही विचार बन जाते हैं। वे बाहरी विचारों से निरन्तर प्रभावित होते रहते हैं। उनके अन्दर का सत्य का स्रोत सूख जाता है। उनके अन्दर सत्य अपनी महान् अदभुत रचना शक्ति करने का अवसर ही नहीं प्राप्त कर पाता। अस्तु—

मैंने सच्चाई, अमल करना, और शान्ति इन तीन उपायों का निर्देश किया है। ज्यों ज्यों तुम इन तीन उपायों को बरतोगे त्यों त्यों तुम्हारा अंतःकरण शुद्ध और बलवान होता जाएगा, तुम आत्म निरीक्षण करने लगोगे तो तुम्हें कभी सचाई की की तरफ विशेष ध्यान देने की आवश्यकता प्रतीत होगी, तो कभी अमल करने की तरफ, और कभी शान्ति की तरफ। यह तीनों ही एक दूसरे के सहायक और पूरक हैं। इन तीनों की ही आवश्यकता है। इस तरह इन उपायों द्वारा तुम अन्तः प्रवेश करोगे, अपने आप को अधिकाधिक जानने वाले बनते जाओगे तब तुम अनुभव करोगे कि सत्य ज्ञान स्वभावतः रचना शक्ति से युक्त है और भाव उसमें जीवन को डालने वाले हैं। और इस प्रकार हरेक सत्य अवश्यम् भावी रूप से तुम्हारे द्वारा मुहुर्त रूप धारण कर रहा है।

शिक्षा का मतलब बहुत सी किताबें पढ़ा देना या ज्ञान को बाहर से ठूंस देना नहीं है और भावों को उत्तेजित करना सिखाना तो कभी नहीं है। शिक्षा का उद्देश्य तो मन बुद्धि को अन्दर से आने वाले सत्य को ठीक ठीक ग्रहण करने के योग्य समथ बना देना है, मन को रचना करने के समर्थ बना देना तथा भावों को जीवन डालने की शक्ति से युक्त बना देता है।

———

मैत्री साधना

यह उपदेश लेख रूप में 'आर्य' के कार्तिक 1989 अंक में प्रकाशित हुआ था। लेखक के रूप में नाम छपा था—आचार्य देवशर्मा जी।

संपादक

प्रेम के महत्व को सब लोग जानते हैं, पर इसे सदा निभा नहीं सकते। उत्तेजना के अवसरों पर खिजाने वाले, क्रोधादि लाने वाले अवसरों पर भी शान्त रहने वाले, प्रेम को न भूल जाने वाले विरले ही होते हैं। तुम प्रेम की अटलता को, प्रेम के सनातन सत्य होने को अनुभव करो। आज संसार को इसकी सख्त जरूरत है। महात्मा गांधी इसी महान् सिद्धान्त को पुनरुज्जीवित करने के लिये पैदा हुए हैं। वे शायद अपने पिछले कई जन्मों से वह व्यापक साधना कर रहे हैं जिसे कि योग दर्शन में मैत्री की साधना कहा है। उनमें जो महान् शक्ति प्रकट हो रही है, वह उनकी इसी मैत्री-साधना का बल है। द्वेष, घृणा, लड़ाई, मार-काट से तंग आये संसार को आज मैत्री-भावना से ही शान्ति मिल सकती, है, इसलिए हम देखते हैं कि संसार प्रत्येक क्षेत्र में इसी दिशा में आगे कदम बढ़ा रहा है। शिक्षा में आजकल मारना पीटना आदि दण्ड देना जगलीपन समझा जाता है। जेलों का स्थान सुधारालय ले रहे हैं, राष्ट्र अब किसी भी अपराध में प्राण दण्ड देना छोड़ने जा रहे हैं। फौजों और शस्त्रों के घटाने के प्रस्ताव करके तथा युद्ध-विरोधी संघ बनाकर भी संसार प्रेम का ही पुनः सुखस्पर्श पाना चाह रहा है। अब दिनों-दिन संसार के प्रत्येक क्षेत्र में ऐसे पुरुषों की जरूरत होगी, होती जायेगी। जो कि प्रेम की शिक्षा में सध चुके हों, इसलिए कहता हूं कि तुम इस गुरुकुल से प्रेम' में सधे हुए बनकर निकलो। संसार में तो अधिकांश लोग तुम्हें द्वेष, घृणा ईर्ष्या, प्रतिद्रोह में पले हुए मिलेंगे। उनके बीच में तुम अविचलित नहीं रह सकोगे, यदि तुम यहां प्रेम की दृढ़ साधना न कर चुके होगे। 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' का सहज उपदेश देने वाले तुम्हें बहुत मिलेंगे। 'लातों के भूत बातों से नहीं मानते' ऐसी कहावतें बहुतेरे सुनायेंगे और ये बातें उन कठिनाइयों में घिरे हुए तुम्हें सच्ची भी लगेंगी, पर उनमें बड़ा परिमित सत्य होता है, यह हमें दूर तक नहीं ले जाता। इन ओछे

हथियारों से उस समय काम बनता दीखता है, पर पीछे से ये गिरावट या सर्वनाश का कारण बनते हैं। मनुष्य दुर्बल है, एकदम ऊंचा नहीं उठ सकता, इसलिए बेशक शास्त्र तथा गुरु भी कभी मनुष्यों की सापेक्ष छोटी हिंसाओं को सह लेते हैं, उसकी छूट दे देते हैं। पर इसका यह मतलब नहीं हो जाता कि उनकी सम्मति में मनुष्यों का उन्नति-पथ ध्येय अहिंसा का नहीं रहता या उस हिंसा की प्रतिक्रिया मनुष्य को नहीं सहनी पड़ती। यह समझ लेना चाहिए कि शास्त्र ने या महापुरुषों ने जो कहीं हिंसा की इजाजत दी दीखती है, वह किसी बड़ी हिंसा से बचाने के लिए है, हिंसा को परिमित करने के लिए और अतएव असल में अहिंसा के लिए दी है। यह मरते बीमार को बचाने के लिए उत्तेजक (Stimulate) औषध देने के समान है। पर इस उत्तेजना की प्रतिक्रिया (Reaction) भी शरीर को सहनी पड़ती है और यह सब स्वास्थ्य के लिए है। इस स्वास्थ्य को नहीं भूलना चाहिए। जगत् का संचालक महासत्य तो अहिंसा है, प्रेम है, इसे नहीं भूलना चाहिए। हम इस सनातन महा सत्य को देख लें तो इन बिचारी क्षुद्र हिंसाओं का स्थान कहां है, यह भी दीख जाय। यह ब्रह्माण्ड तो प्रतिक्षण प्रेम और अहिंसा से ही स्थिर है। इसमें मनुष्यों की क्षुद्र हिंसाएं तरङ्गों की तरह अपनी उछल कूद करती रहती हैं, पर ईश्वरीय महान् अहिंसा, प्रेम, एकता, यज्ञ, (जगत को जोड़ने वाले) सिद्धान्त के कारण अपनी प्रतिक्रिया पाकर फिर शान्त होती रहती हैं, कभी मर्य्यादा का उल्लंघन नहीं कर सकतीं इसलिए विजयी होने वाला, सफलता तक पहुंचाने वाला, सदा सच्चा सिद्धान्त तो यही है कि 'अक्रोधन जयेत्क्रोध' और 'नहि वैरेण वैराणि प्रशाम्यन्ति कदाचन' इसे अपनाओ। जगत् के ईश्वरीय महासंगठन क्या, हम मनुष्यों के छोटे मोटे सभा, समाज, संघ, संगठन, आदि भी प्रेम, एकता, अहिंसा, अद्वेष के बिना कुछ देर भी नहीं टिक सकते। यह हमारा कुल प्रेम शक्ति से ही विकास पा सकता है। हम मिल कर गाते हैं कि 'हे प्रेम मय प्रभो! तुम्हीं सबके आधार हो।' उस सर्वाधार प्रेममय प्रभु से मेरी तो यही प्रार्थना है कि वह तुम्हारे इस कुल को प्रेम का महास्रोत बना दे, यहां से ऐसे मैत्री बल रखने वाले प्रेम-मूर्ति निकलें जो जगत् को जीत लें। प्रेम की कठोर साधना हम सभी को करनी चाहिए, इस कुल के गुरुओं को तो विशेष रूप से करनी ही है, इसके बिना तो जरा भी काम नहीं चल सकता। पर इस समय इसका प्रसङ्ग नहीं है, इस समय तो तुम प्रिय ब्रह्मचारियों को इसके लिए क्या करना चाहिए, इस सम्बन्ध में दो शब्द कहना चाहता हूं। तुम्हारा ध्यान दो अभ्यासों की तरफ खींचना चाहता हूं। ये मेरे जीवन के अनुभूत बड़े कीमती अभ्यास हैं।

बहुत से लोगों को दूसरों के दुर्गुण ही दुर्गुण दीखा करते हैं, वे किसी से प्रेम नहीं कर सकते। वे सदा मुंह चढ़ाये, सदा असन्तुष्ट रहते हैं, उन्हें कभी जीवन में सफलता नहीं मिल सकती। गुण- अवगुण हर एक में होते हैं, किसी में गुण ज्यादा किसी में अवगुण ज्यादा। जिन्हें सदा दूसरों का गुण देखने की आदत होती है, वे

सदा सब जगह से गुण ही गुण संचित करते और उन्नत होते रहते हैं। अवगुण देखने वाले अवगुणों को खींचते हैं। उनके लिये यह संसार केवल झुंझलाने, कुढ़ने और दुःखी होने की चीज हो जाती है। गीता में कहा है कि संसार में जहां कहीं तेजस्विता, अच्छाई, विभूति, श्रेष्ठता है वह सब परमेश्वर का अंश है इसलिए यदि हम गुणों को देखते हैं तो सर्वत्र परमेश्वर को देखने के अभ्यासी होते हैं और प्रभु के समीप होने लगते हैं दूसरी तरफ कुढ़ने वाले लोग प्रभु से अपने आप को दूर करते जाते हैं। किसी का नाम लो, उनके सामने उसके दुर्गुणों का चित्र आ जावेगा। अच्छे से अच्छे आदमी में दुर्गुण ढूंढ़े जा सकते हैं। अतः ऐसे लोग अच्छे से अच्छे आदमी की तरफ आकृष्ट नहीं हो सकते, उससे लाभ नहीं उठा सकते। इस कुल में तुम्हारे अध्यापकों, उपाध्यायों तथा अन्य सेवकों में एक से एक बढ़कर गुणी विद्यमान हैं, एक से एक उच्च चरित्र विद्यमान हैं। सबकी अपनी अपनी विशेषता है। पर तुम में से जिसे अवगुण देखने की आदत हो, वह तो किसी से भी लाभ नहीं उठा सकेगा। इसलिए यदि ज्ञानैश्वर्य बटोरना चाहते हो तो गुणों की तरफ नजर डालकर हर एक से प्रेम करना सीखो। जिसके प्रति तुम्हारा प्रेम, श्रद्धा भक्ति नहीं उसमें हजार सामर्थ्य होगी तो भी वह तुम्हारे लिए बेकार होगी और प्रेम श्रद्धा से तो जो चीज जहां नहीं होती, वहां से भी मनुष्य पा लेता है। राम कृष्ण परमहंस जैसे पत्थर की मूर्ति से भी परमेश्वर के निकट पहुंच जाते हैं (क्योंकि अन्ततः सबको सब कुछ देने वाले तो अन्दर बैठे परमेश्वर ही हैं। वे हमारी भावनानुसार नाना माध्यमों से देते हैं) यहां कुल के सेवक तो ऐसे योग्य हैं कि जो तुम्हें आजीवन कुछ सिखा सकते हैं, दे सकते हैं। इसलिए तुम्हें तो सदा गुण देखने और प्रेम करने में ही लाभ है क्योंकि यह परमेश्वर के निकट होता है। अभिमानी पुरुष अपने तुच्छ से गुण को बड़ा समझता है और दूसरे के महान् गुण को तुच्छ समझता है, बल्कि अपने अवगुण को भी गुण समझता है और दूसरों में अवगुण ही अवगुण पाता है। ऐसे अकड़े हुए शुष्क अभिमानियों की उन्नति रुक जाती है, वे विकसित नहीं हो सकते, रुक जाते हैं। कवि ने कहा है—

परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यं।
निज हृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः ॥

यह होना चाहिए। दूसरे का गुण यदि परमाणु जैसा न दीखने वाला हो तो उसे भी पहाड़ के बराबर बड़ा बनाकर देखो। सन्त महापुरुषों का यही स्वभाव होता है इसी स्वभाव के कारण वे महात्मा या सन्त बनते हैं। अन्तर्गोल ताल की खुर्दबीन से दूसरों के गुणों को और अपने अवगुणों को देखो जिससे वे छोटे से बड़े दिखाई देवें परमाणु से पहाड़ दिखाई देवें, और दूसरी तरह के बहिर्गोल ताल (Convex lens) से दूसरों के अवगुणों और अपने गुणों को देखो जिससे वे बड़े से छोटे दिखाई देवें, पहाड़ से परमाणु दिखाई देवें। सचमुच इसका अभ्यास करने की जरूरत है। साधारण

लोगों को तो फारसी के कवि सादी के कथनानुसार अपनी आंख का शहतीर नहीं दिखाई देता, पर दूसरे का बाल दीखता है। स्वार्थमय मनुष्य का यह स्वभाव है अतः वह अपने और दूसरों के बारे में ठीक ठीक सत्य को नहीं देख सकता, जब तक कि वह इस उपयुक्त नियम का पालन न करे। अर्थात् अपने गुण और दूसरे के अवगुण घटाकर के देखने तथा दूसरे का गुण और अपना अवगुण बढ़ाकर देखने का अभ्यास न करे। अतः यदि किसी की बुराई सुनो तो उस पर कभी विश्वास मत करो। निन्दा, बुराई 90 प्रतिशत तक गलत होती है, भ्रमपूर्ण होती है। दूसरे की बुराई की बात चाहे कितनी ही प्रामाणिक लगती हो, तुम सदा गुन्जायश रखो कि उसमें कहीं भ्रम, गलती होगी। मेरा तो यह जीवन का बड़ा बहुमूल्य अनुभव है कि जिस मनुष्य के बारे में मैंने कुछ बुरा सुन रखा है, जब मैं उससे साक्षात् मिला हूं तो कई बार वह मनुष्य बड़ा अच्छा निकला है, पर उतना बुरा तो कभी नहीं निकला जितना कि सुनने से समझ रखा है। पांच सात वर्ष पहिले महाशय कृष्ण जी के बारे में मैंने जो कुछ सुन रखा था, उसकी गलती तो मेरे थोड़ा थोड़ा उनके सम्पर्क में आने से हट गई थी किन्तु अभी जो एक मास मुझे उनसे अधिक समीपता से मिलकर रहने का अवसर मिला, तब तो मैंने देखा कि महाशय जी एक बड़े उच्च चरित्र के पुरुष हैं जैसे कि पुरुष बहुत विरले होते हैं। ऐसे और भी दृष्टान्त दे सकता हूँ। मैंने जब कभी किसी की बुराई सुनी है तो उसका पूरा पूरा पता लगाने पर वह सदा बहुत कम निकली है। अब तो मैं जब कभी किसी की निन्दा, बुराई सुनता हूं तो अनुभव वश पहिले ही समझ लेता हूँ कि इतना तो इसमें अवश्य अयुक्ति व भ्रम होगा। मतलब यह है कि तुम्हारे लिए यह अत्यावश्यक है (मेरे जैसों या पुलिस वालों के लिए दूसरी बात हो सकती है) कि तुम दूसरे की बुराई या निन्दा पर कभी विश्वास न करने की आदत बना लो। जबतक पूरा-पूरा बिलकुल पूरा निश्चय न कर लो तब तक किसी के विषय में सुनी बुराई को हृदय में अंकित मत होने दो। याद रखो, दुनिया में जितने पारस्परिक झगड़े-वैमनस्य, ईर्ष्या-द्वेष बढ़ते हैं, उनका असली कारण यही हृदय की कमजोरी होती है जिसके कारण कि मनुष्य दूसरे की (पराई) सुनी हुई बुराई को एकदम सच मान लेता है। कोई भी लड़ाई झगड़ा बढ़ने न पावें, पुत्र पौत्रों तक चलने न पावे तथा बड़ी बड़ी दल बन्दियां न खड़ी होने पावे, यदि विपक्षी की बुराई पर विश्वास न कर पूरा-पूरा पता लगा लिया जाए। मेरे इस कथन की सचाई तुम्हें अब भी आपसी व्यवहार में प्रकट होती होगी और बाहर जाने पर तो और भी अच्छी तरह प्रकट होगी। दूसरे की अच्छाई सुनकर अवश्य विश्वास कर लो। उसमें कोई हानि नहीं। यदि वह अच्छाई उसमें न होगी तो भी क्या हुआ, तुम्हारे लिए हुई तो तुम्हारा तो लाभ ही हुआ। उस अच्छाई का तुमने आकर्षण ही किया और उसमें प्रीति बढ़ाई। उसका भी लाभ हुआ क्योंकि उसके विषय में यह धारणा, मनोवासना बनने से कि 'वह अच्छा है' उसमें वह अच्छाई आने का वायुमण्डल बन गया।

सूत्र यह है कि दूसरे के गुण देखो, अवगुण नहीं। इससे जगत में प्रेम का प्रसार होता है और सबकी उन्नति, भलाई होती है। फिर दोहराता हूं कि सबमें गुणों को देखना सर्वत्र परमात्मा को देखना है। यदि किसी घटना से किसी अपने साथी में प्रेम जाता रहे (क्रोध द्वेष आवे) तो तुरन्त उसके गुणों का, उपकारों का ध्यान करो। किसी दिन किसी कारण अपने गुरुओं में श्रद्धा कम होने लगे तो उनके गुणों पर ध्यान लगाओ तो उनमें खोया हुआ परमेश्वर तुम्हें मिल जाएगा, फिर दीखने लगेगा। जिससे मन न मिलता हो तो घंटा आध घंटा कागज पैंसिल लेकर बैठो और खूब सोच सोचकर उसके गुणों को विस्तार पूर्वक लिखो। आवश्यक समझो तो गुण दर्शन, गुण संग्रह के लिए एक कापी बनाओ और उसमें सम्पर्क में आने वाले लोगों के गुण विचार कर लिखा करो तो देखोगे कि अनन्त गुणधारी परमेश्वर नाना पुरुषों में नाना स्वरूपों से प्रकट हो रहे हैं। और तब तुम कहीं भी अप्रेम की जगह नहीं पाओगे।

जो मैं दूसरा अभ्यास कहना चाहता हूँ वह यह है—'प्रेम का प्रत्युत्तर न मिलता देखकर कभी निराश मत होओ।' मैं तो कभी उससे द्वेष नहीं करता, सदा उसकी भलाई में लगा रहता हूं तो भी वह मुझसे संतुष्ट कभी नहीं होता—ऐसे विचारने के प्रसंग बहुत बार आवेंगे पर इनसे प्रेम के विजयी होने में श्रद्धा मत खो बैठना। कइयों को तुम प्रेम द्वारा बड़ी जल्दी जीत लोगे पर कइयों को जन्म भर में भी अपना न कर सकोगे। तो भी यह मत समझो कि तुम्हारा किया प्रेम व्यर्थ गया। प्रेम कभी व्यर्थ नहीं जाता। प्रेम का असर अवश्य होता है। कहीं कहीं वह दिखाई देने योग्य मात्रा में बहुत देर में होता है पर होता जरूर है। अतः हताश होने की प्रेम छोड देने की कोई जरूरत नहीं। प्रेम के सिवाय तुम्हारे पास और दूसरी चीज होनी नहीं चाहिए। पर यह तुम तभी कर सकोगे जब कि तुम्हें यह अटल विश्वास होगा (जैसा कि मैं आरंभ में विस्तार से कह चुका हूं) कि संसार का संचालक महान् सत्य प्रेम ही है, केवल प्रेम ही है।

———

चर्खे की चतुःसूत्री

यह लेख 'ज्योति' के ज्येष्ठ 1986 अंक में छपा था। लेखक के रूप में नाम था— श्री पं० देवशर्मा जी विद्यालंकार 'अभय'। संपादक

मैंने अपने शिष्य को कहा कि आओ आज मैं तुम्हें 'चर्खे की चतुःसूत्री' सुनाऊँगा—चर्खे के काते हुए चार सूत्र सुनाऊंगा, सावधान होकर सुनो।

इस पर शिष्य पूरी बात न समझ पड़ने के कारण कुछ घबराए हुए और कुछ आश्चर्यान्वित मुख से मेरी तरफ देखने लगा। मैंने कहा कि इसमें आश्चर्य की कुछ बात नहीं। सूत्र तो सभी किसी न किसी चर्खे से ही निकाले जाते हैं, यह बात स्पष्ट ही है। लो, पहिले मैं तुम्हें इस ज्ञान का ही प्रारम्भिक इतिहास सुनाता हूं।

तुम जानते हो कि मैं गुरुकुल कांगड़ी का पढ़ा हुआ हूं जहां कि शुरू से ही अष्टाध्यायी के क्लिष्ट सूत्र कंठाग्र करने पड़ते हैं। तो इन नाक में दम करने वाले पाणिनीय सूत्रों को तो मैं कैसे भूल सकता हूं ? कुछ बड़े होकर फिर न्याय के, योग के और वेदान्त आदि दर्शनों के सूत्रों से भी काफी परिचय प्राप्त किया था। ये सब सूत्र बड़े काम के थे। यह तो मैं देखता था कि पाणिनी के सूत्रों से नाना प्रकार के अजीब अजीब 'लोलुवः पोपुवः अचीकमत्, अजीगणत्' आदि अनगिनत रूप बन जाते हैं। इसी तरह यह भी समझता था कि गौतम और पतंजली के सूत्रों से, ब्रह्म-सूत्रों से भी कुछ बड़ी भारी चीज बनती होगी (यद्यपि कुछ स्पष्ट बनता हुआ नजर तो आता नहीं था)। शायद 'निश्रेयस' 'समाधि' या 'ब्रह्मैकत्व' आदि इनसे बनता होगा। जो कुछ भी हो इस में मुझे तनिक भी संदेह न था कि इन दर्शन के सूत्रों से भी कोई बड़ी महत्व की चीज बनती होगी। पर तब मुझे इसकी खबर बिल्कुल न थी कि दिन रात हम जो कपड़े पहने रहते हैं, वे भी सूत्रों के बने हुए हैं। मैं समझता था कि सूत्र तो किताबों में होते हैं। कपड़ों में सूत्र का क्या काम है ? पर सन् 1920 में 'चर्खा, चर्खा' बहुत सुना। धीरे धीरे हम भी गांधी बाबा के चक्कर में आ गये और एक दिन चलते चर्खे के दर्शन भी हो गये। तब यह पता लगा कि ये कपड़े कहीं से (आकाश से या पृथ्वी से) बने बनाये नहीं बरसते या उपजते हैं, किन्तु बड़ी कुशलता से पहले कपास से बहुत सा सूत्र निकाला जाता है और फिर उस

सूत्र से बड़े यत्न द्वारा कपड़ा बुना जाता है। यहां तक ही नहीं, किन्तु हम गांधी बाबा के चक्कर पर ऐसे चढ़े कि चित्त ने चैन न ली जब तक कि चर्खा चलाना सीख न लिया। यह चर्खा चलाना मैंने चार दिन में सीखा। बात लंबी न कर मैं संक्षे में सुनाता हूं। यह चर्खे से सूत्र का सम्बन्ध देखकर सब से पहिले जो मेरे मन में शंका उत्पन्न हुई—और शायद इसी ही शंका के निवारण के लिए तुम भी आकुल दीख रहे हो—वह यह हुई कि "तो अभी तक मेरे देखे हुए पाणिनी के सूत्र, योग के सूत्र, वेदान्त आदि के सूत्र, सूत्रकारों ने (ऋषियों ने) किस चर्खे से निकाले थे ?" यह शंका कैसी ठीक है। पर अभी मैं तुम्हें इसका उत्तर न दूंगा। यह बड़ा रहस्य का प्रश्न है। इसका उत्तर मैं तुम्हें कभी एकान्त में बतलाऊंगा। अभी यहां इस तरह बतला देना पर्य्याप्त है कि जब मैं चर्खा चलाता हूँ और उसके चलाने से उसमें एक ताल युक्त (Rhythmic) क्रमबद्ध गति होने लगती है तो मेरे शरीर में भी एक ऐसी ही ताल सुर से नियमित गति होने लगती है। बल्कि ध्यान से सुनता हूं तो शरीर में एक सुरीला गान सुनाई देता है, मानों शरीर के अन्दर भी एक चर्खा चल रहा हो और उसके चलने से ही वह सुरीली ध्वनि निकल रही हो। मतलब यह कि बाहर का चर्खा चलाना आरम्भ करने पर मुझे यह भान हुआ है कि अन्दर भी एक चर्खा चल रहा है। शायद कबीर साहिब के निम्न वचन को मैं अपनी साक्षी में पेश कर सकता हूँ:—

'आठ कमल दस चरखा डोल'

खैर, बात यह हुई कि उन प्रारम्भिक चार दिनों में बाहर के चर्खे ने जहां कपास (रुई) से सूत्र निकाला, वहां उसी के अनुसार अन्दर के चर्खे ने भी चार दिन तक एक एक सूत्र निकाला। बस अन्दर के चर्खे से चार दिन तक निकाला हुआ यह सूत्र ही मेरी 'चर्खे की चतुःसूत्री' है। यह चतुःसूत्री ऐसी वैसी नहीं है। वेदान्त प्रसिद्ध चतुःसूत्री से किसी तरह कम न होगी। शायद इन्हीं सूत्रों का यह प्रताप या प्रभाव है कि मैंने लोगों को दावे के साथ चार घंटे में या चार दिन में चर्खा कातना सिखा दिया है—कई भाईयो को, जिन्हें बड़ा यत्न करने पर भी चर्खा चलाना न आया था या जो समझते थे कि उनके लिए कताई सीख लेना असंभव है, उन्हें भी सिखा दिया है। इन सूत्रों की स्तुति की विशेष आवश्यकता नहीं है। जो अधिकारी होंगे वे स्वयमेव इन का सामर्थ्य समझ लेंगे।

वैसे ये सूत्र चतुरन्हिक हैं अर्थात् चार दिन में पढ़ाये जाने चाहियें। किन्तु आजकल दुनियां को इतना समय देकर धैर्य से पढ़ने समझने की फुरसत कहां है। प्रतिक्षण इतना साहित्य पैदा हो रहा है कि उसे पढ़ना तो दूर रहा, उसे देख कर ही मुझे घबराहट होती है कि इसे पढ़ेगा कौन ? इसलिए मैं अपने इस चतुरन्हिक को चार दिन तक चलाने की मूर्खता न करके तुम्हें इसे एक सांस में ही सुना दूंगा। हां, यह अवश्य है कि मैं इन सूत्रों का उच्चारण मात्र नहीं कर दूंगा किन्तु इनको

रचकर दिखाऊंगा अर्थात् निकला हुआ सूत्र केवल दिखला नहीं दूंगा किन्तु कातने की क्रिया सहित इन को निकालकर दिखलाऊंगा। अच्छा देखिये—

अथचर्खा चतुःसूत्रो प्रारम्यते

(1) प्रथम आन्हिक

—o—

पहले दिन जब चर्खे के सामने बैठा और अभी सिखाने वाले के ही हाथ की पूनियों को सूत्र में परिणत होते देखा तो इतने से ही मेरा अन्दर का चर्खा चल निकला और उस में इस प्रकार कातना प्रारम्भ हो गया।

रुई से सूत बनता देखकर सबसे पहले यह हुआ कि सांख्य का सत्कार्यवाद का सिद्धान्त मेरे सामने साक्षात् आ खड़ा हुआ। कारण में कार्य पहिले से ही रखा हुआ है, यह मैंने प्रत्यक्ष देखा। रुई में सूत्र पहले से ही विद्यमान हैं, सूत बनाने के लिए रूई में कुछ बाहर से मिलाना जुलाना नहीं होता—केवल रुई के सूक्ष्मांशों का स्थानपरिवर्तन मात्र हो जाता है और कोई नयी चीज नहीं आती, इस दृष्टि से बना बनाया सूत पूनियों में पहले ही से विद्यमान है। रुई के सूक्ष्मांशों को एक नयी तरतीब में खड़ा कर देना ही सूत को बना देना (व्यक्त कर देना) है, जैसे कि एक हुल्लड़बाजों की भीड़ को कोई महापुरुष आज्ञा देकर एक लम्बी पंक्ति में संगठित और शान्त खड़ा कर दे। इस में यदि कुछ करामात है तो तकुवे की और तकुवे के घुमाने की। उस पर चढ़ कर, उस की नोक के, (तकुवा के स्थान पर तकली समझ लेने से भी वही बात है) सहारे ही यह रुई एक दृढ़ दीर्घ पंक्ति में बद्ध हो गई है। ऐसे ही मुझे भारत की तीस करोड़ जनसंख्या भी एक बिना कती पूनियों का ढेर दीखने लगी। मन में तीव्र इच्छा उत्पन्न हुई कि इन्हें भी कोई राष्ट्र भावना के तकुवे पर चढ़ा कर नियंत्रण (discipline) का ऐंठन दे दे—भारत में अस्त-व्यस्त पड़े हुए इस जन समुदाय को एक व्यवस्थित भारतीय राष्ट्र के रूप में संगठित खड़ा कर दे। इस के लिए बाहर की किसी चीज की हमें जरूरत नहीं है। इसी जनसमुदाय में एक बड़ा शक्तिशाली सुव्यवस्थित राष्ट्र छिपा पड़ा है। केवल इसे व्यक्त करने की जरूरत है। राष्ट्रीयता की भावना के सहारे ये एक पंक्ति में बंध जाय और नियन्त्रण द्वारा (disciplined) ऐंठे हुए, दृढ़ हो जाय, बस। ओः, साढे सात करोड़ **ग्रामों में बसने वाले भारतवर्ष को एक भाव से बांधकर खड़ा करदो**—एक सूत्र बनादो। बारडोली के ताल्लुके में यह कताई कुछ चली और हमने देख लिया, ये ही हुक्का पीने वाले भारतीय गंवार क्या बन सकते हैं। बस, इधर उधर मत देखो, न कौंसिलों की तरफ देखो, न पार्लियामेन्ट से कुछ आशा करो, न सुधार देने वाले कमीशन की तरफ दृष्टि दो और न ही किसी अन्य सहायता की आशा बांधो, बस केवल इस रुई के ढेर को राष्ट्रीयता की नोक के सहारे एक सूत्र करने में लग जाओ इस लिए पहिला सूत्र यह कता कि:—

ग्रामवासी भारतीयो के समुद्र में अगाध शक्ति भरी पड़ी है। इसे व्यक्त करने के लिए इस समुद्र में प्रविष्ट हो उनमें राष्ट्रीयता की भावना पैदा कर, उसके सहारे उन्हें एकताबद्ध और दृढ़ (disciplined) करना ही एक मात्र कार्य है। इसमें सफल होना ही स्वराज्य है।

(२) दूसरा आह्निक

दूसरा दिन यद्यपि सूत्र क्षण-क्षण में टूटता था तो भी हाथ से कुछ सूत्र जैसी चीज निकलने लगी थी अर्थात् कभी बड़ा मोटा और ऐंठा हुआ सूत निकलने लगा तो कभी अत्यन्त बारीक, कमजोर और जरा-जरा देर में टूटने वाला। साथी दर्शक खूब हंसते थे। कभी सूत को 'चरस का रस्सा' कहते थे तो कभी ढाके की मलमल के अदृश्य सूत से उपमा देते थे। यह तो हुआ बाह्य चर्खे का वर्णन, पर मैं तो तुम्हें यह सुनाता हूँ कि तब अन्दर का चर्खा किस प्रकार क्या कातने लगाः—

मैंने देखा कि मैं जब दांया हाथ ज्यादा घुमा देता था तो सूत्र अधिक ऐंठ जाता था—आखिर इतना ऐंठ जाता था कि कातना छोड़ना पड़ता, सूत मोटा होते होते पूरी की पूरी पूनी ऐंठ कर लिपट जाती, जैसे कि अत्यंत अभिमानी गर्वीले पुरुष ऐसे ऐंठे होते हैं कि किसी से कुछ नहीं सीखते, किसी की कुछ नहीं सुनते, अपने आप में स्वयं समाप्त हुए रहते हैं। पर दूसरी तरफ जब मेरा सूत्र निकालने वाला बांया हाथ ज्यादा काम कर जाता था तो बारीक और इतना कमजोर (बिना ऐंठा) सूत निकलता था कि झटपट टूट जाता था, जैसे कि डरपोक, खुशामदी, स्व-वहीन पुरुषों का जीवन अतीव भंगुर होता है। मैंने देखा कि दांये और बांये हाथ की ठीक समता से ही ठीक सूत निकल सकता है—जब दोनों हाथों को वह अन्दाज आ जाता है कि बांये हाथ का काम सूत खींचना तथा दांये हाथ का काम उसे ऐंठ कर पक्का करना ये दोनों काम समता से स्वयं होते जाते हैं, तो सूत बनाने की कला आ जाती है।

दो प्रकार से ही जीवन सूत्र नष्ट होता है। एक पुरुष वे होते हैं जो अभिमानी और अकड़े हुए होते हैं, वे जब इतने अकड़ जाते हैं नम्रता बिल्कुल नहीं रहती—कि वे किसी दूसरे से कुछ सीख नहीं सकते, बाहर से कुछ भी नया ग्रहण नहीं कर सकते, नयी अवस्थाओं के अनुकूल अपने आप में परिवर्तन नहीं ला सकते, तो उन्नति रुक जाती है—और इस तरह उन का नाश हो जीवन सूत्र समाप्त हो जाता है। ऐसे अकड़े हुए लोग चूंकि दूसरों को सहानुभूति (समवेदना) के साथ नहीं देख सकते अतः वे अपना सर्वोत्तम शस्त्र 'हिंसा' में ही पाते हैं। दूसरे मनुष्य वे होते हैं जो कि सर्वथा आत्म सम्मान से शून्य होते हैं, जिन में अपनी शक्ति कुछ नहीं होती जिन्हें दीनता प्रिय होती है, ये लोग जब इतने कमजोर हो जाते हैं कि आगे चल ही नहीं सकते तो वे नष्ट हो जाते हैं (या किसी दूसरे की टक्कर इस से भी पहिले उन के जीवन सूत्र को तोड़ डालती है)। ये कायर पुरुष खुशामद चापलूसी से ही जीवित रह सकते हैं अतः ये खुशामद और दीनता को ही अपना शस्त्र समझते हैं।

दायें तरफ अति गर्मी का रोग विकार	मध्य की समता स्वस्थता (जीवन)	बायें तरफ अति सर्दी का रोग विकार
1. अभिमान (घमंड)	आत्म सन्मान	आत्म सन्मान का अभाव (दीनता)
2. अकड़ना	आत्म ज्ञान (अपने आप को ठीक समझना)	दीनता (अपने आपको हीन समझना)
3. हिंसा	आत्मशक्ति	कायरता

दायें बायें दोनों ही सिरे की वस्तुयें मध्य की एक वस्तु के विकार हैं। अभिमान और दीनता ये दोनों आत्म सम्मान के दो विकार हैं। एवं हिंसा और कायरता ये दोनों ही आत्म शक्ति के विकार हैं। इन दोनों में समता रखने से मनुष्य स्वयं मध्यस्थ जीवन में रहता है—दायें बायें विकारों के वशीभूत नहीं होता। अतः दूसरे दिन का काता सूत्र यह है:—

समता ही जीवन है। दायें बायें की समता से ही जीवन सूत्र अविच्छिन्न बढ़ता जाता है—

पर मैं देश की स्थिति में इसे घटा कर इस सूत्र को निम्न प्रकार पढ़ना चाहता हूँ।

भारत का एक मात्र महाशस्त्र सत्याग्रह है, पर सत्याग्रह का अर्थ है कि एक तरफ अपने अधिकार को (सत्य को) कभी न छोड़ना, कभी अन्याय के नीचे न दबना, अपना झंडा कभी नीचे न होने देना चाहे जान चली जाय, किन्तु दूसरी तरफ अन्यायी पर भी क्रोध न करना (उस पर दया करना) क्रोध में पागल हो हिंसा कांड में न उतरना, उस पर किसी तरह का बलात्कार न करना। बस इन दो बातों की समता ही सत्य का आग्रह है और इन दोनों हाथों की समता से ही यह महाअस्त्र चलता है।

अस्तु। ईश्वर करें कि भारत का राष्ट्रसूत्र सदा भारत के इन दोनों हाथों के समता पूर्वक चलने द्वारा ठीक-ठीक निकलता चले।

(3) तीसरा आन्हिक

आज मुझे सूत्र निकालना तो आ गया था। अब मेरा सूत कभी पतला होकर नहीं टूटता था। दायें बायें हाथ की समता सध गयी थी। पर अब भी कभी कभी जब सूत टूटता था तो मैं उसका कारण ढूंढने लगता था और तब मुझे एक नयी चीज पता लगी। मैंने देखा कि सूत हमेशा तब टूटता था जब कि या तो रुई में कुछ तिनका, कण आदि चीज आ गयी होती या रुई में कच्ची अथवा अति धुनी (रेशे टूटे हुए) रुई का अंश आ जाता था। तब मैंने अगला सूत्र यह बनाया:—

विजातीय द्रव्य (Foreign Matter) जीवन का नाश करने वाली वस्तु है। हर एक प्रकार के (वैयक्तिक या राष्ट्रीय आदि) जीवन के लिए शरीर से विजातीय द्रव्य को निकालते रहना चाहिये।

हर प्रकार के जीवन में विजातीय द्रव्य (Foreign Matter) बाहर से भी आते हैं और फिर अन्दर भी पैदा हो जाते हैं। रुई में तिनके, बिनौले के टुकड़े, धूल आदि सब मल पहिले प्रकार के विजातीय द्रव्य हैं और रुई के खराब धुनी होने से वह रुई भी विजातीय द्रव्य बन जाती है। एवं हमारे राष्ट्र में विदेशी वस्तुएं (विदेशी कपड़े आदि), विदेशी भाषा, विदेशी चाल-ढाल, विदेशियों के दुर्गुणों की नकल, मद्यसेवन आदि बातें विजातीय द्रव्य (For: ign Matter) हैं जो कि हमारा नाश कर रही हैं। विदेशी राज्य के कारण जो हमारे ही अपने मनुष्य कायर, दासताप्रिय, आत्मगौरव शून्य तथा देशद्रोही हो रहे हैं और हो जाते हैं, ये दूसरी प्रकार के विजातीय द्रव्य से युक्त हैं। मानों हृदयशून्य अंग्रेजी शासन से इन के मृदु भाव रूपी रेशे टूट जाते हैं या ये अशिक्षा के कारण कच्ची (बिना धुनी) रुई रह जाते हैं। इन दोनों ही विजातीय द्रव्यों से . राष्ट्रशरीर को बचाना चाहिये। भारत की ग्रामवासिनी महान् जनता को इस तरह विजातीय द्रव्य से रहित, शुद्ध करना अधिक आसान है। तिनके आदि मल रहित और ठीक धुनी स्वच्छ धवल पूनियों के ढेर की तरह इस जनता को भी विदेशी वस्त्रादि मलों से रहित देशाभिमानयुक्त सरल और शुद्ध बना दो। फिर देखेंगे, हमारी निकलती हुई राष्ट्रसूत्र की धवलः सबल धारा को दुनिया में कौन विच्छिन्न कर सकता है ?

(4) चौथा आन्हिक

अब मैंने देखा कि साफ स्वच्छ पूनियों से जरा ज्यादा ध्यान देकर कातें तो बारीक सूत थोड़ी रुई से बहुत सा निकलता है। तब मुझे पतंजलि के प्राणायाम विषयक योग सूत्र का 'दीर्घसूक्ष्मः' शब्द याद हो आया। सूत जितना सूक्ष्म (बारीक) होता है, उतना ही वह दीर्घ (लम्बा) होता है। इसी तरह प्राणायाम जानने वाले बतलाते हैं कि प्राणायाम करने से शरीरस्थ प्राण जितना सूक्ष्म होता जाता है उतना ही दीर्घकाल तक स्थिर रहने वाला होता जाता है। इससे यह स्पष्ट है कि योग के सूत्र कार ऋषि कपास की सूत्रकारी से भी सुपरिचित थे। अस्तु तात्पर्य यह कि दीर्घता और सूक्ष्मता साथ साथ चलती है। इस से हमारा चौथा सूत्र यह है:—

जितना ही हम अन्दर सूक्ष्मता से घुसेंगे—सूक्ष्मता से आत्म निरीक्षण करेंगे— अन्दर की सूक्ष्म शक्ति को साधन बनावेंगे, उतना ही हमारा दीर्घ जीवन होगा, उतना ही स्थिर और दीर्घ-कालिक फल हमें मिलेगा।

यह सूत्र भारत के उद्धार में कहां लगता है, यह तुम स्वय विचार कर लो। मैं इतना ही कहूँगा कि स्थूल (पशुबल, चालाकी का बल आदि) साधनों से बेशक बड़ी जल्दी फल होता दीखता है—मोटा सूत जल्दी जल्दी कतता है—पर वह फल उतना ही अचिरस्थायी, क्षणिक होता है, दीर्घ नहीं होता। दीर्घता तो सूक्ष्मता से (अन्दर घुसने से) आती है। इसीलिये हे भारतवासी ! जितना बारीक सूत कात सको उतना ही अच्छा है, जितनी सूक्ष्मता से अन्दर घुस सको उतना ही अच्छा है— क्योंकि उतनी ही दीर्घ प्राण शक्ति तुम्हें मिलेगी, इसलिये यत्न तो बारीक कातने

का करो। स्थूल शक्ति के मोह में मत पड़ो। मोटा-मोटा कात कर मत समझो कि हमने बहुत कात लिया है। यह लम्बाई में (दीर्घता में) तो बहुत थोड़ा है। कपड़ा तो इससे बहुत कम गज बुना जाएगा। मोटे-मोटे कामों से जल्दी स्वराज्य पा लेने की वृथा चाह मत करो। वह क्षणिक स्वराज्य (?) वृथा होगा। अन्दर सूक्ष्मता से घुस कर अन्दर की सूक्ष्म शक्ति से जो वस्तु प्राप्त की जाएगी वह उतनी ही चिरंजीविनी और सच्ची होगी। मैं तो प्रार्थना करता हूं कि हे विश्व के विधाता, अतएव भारत के भाग्य के भी विधाता! तुम भारत की जनता रूपी रुई के भी कातने वाले सूत्रकार हो, तुमने, बड़ा महीन सूत कातना, जो कि युगों तक लम्बा चले। यही प्रार्थना है। मेरी तो यही प्रार्थना है।

अच्छा यह चतुःसूत्री समाप्त हो गई। जो लोग चर्खा कातते समय इस चतुःसूत्री को समझते हुए जपेंगे, उन का सूत्र टूटेगा नहीं, उन का सूत्र दृढ़ भी होगा। जो लोग इन सूत्रों को अपने जीवन में देखेंगे उनका जीवन का सूत्र कभी बीच में नहीं टूटेगा, वे दीर्घजीवी और सफल जीवी होंगे, तथा ऐसे ऐसे लोग जिस राष्ट्र में बहुसंख्या में होंगे, उस राष्ट्र का जीवन सूत्र भी अविच्छिन्न निकलता जाएगा — उस राष्ट्र को एक के बाद अच्छे से अच्छा राष्ट्र सूत्रधार मिलता जावेगा और वह राष्ट्र जगत् में अक्षय कीर्ति पावेगा।

इति चर्खा चतुःसूत्री समाप्ता।

यह सुन कर शिष्य प्रसन्न हुआ, पर उसकी तृष्णा अतृप्त रह गई दीखती थी। उसकी आकृति मुझसे यह पूछ रही थी—"तुमने जो प्रतिज्ञा की थी कि ऋषि सूत्रकारों के सूत्र किस चर्खे से निकले है, यह मैं फिर बतलाऊंगा, सो वह बात और किस सम्य के लिये रख छोड़ी है। अभी क्यों नहीं बता देते ?"

इसलिये मैंने कहा—"क्या तुम वह रहस्य अभी तक नहीं समझे हो ?" मैंने अपने अन्दर की तरफ दृष्टि खींची—मानों अपने सिंहासन पर बैठ गया, और धीमे से, गम्भीर, अलोक-प्रसिद्ध स्वर से कहा कि मैं ही वह सूत्रकार हूं और तुम ही वह सूत्र चक्र (चर्खा) हो। मैं आत्मा हूं, तुम मेरे मन (अन्तःकरण) हो। क्योंकि संसार में मेरा और कोई शिष्य नहीं है। मेरा मन ही मेरा एक मात्र सच्चा शिष्य है। मैं सनातन सूत्रकार हूं। मेरा मन रूपी चर्खा निरन्तर चलता रहता है। इसकी वृत्ति (बार-बार घूम कर आने वाली) इसका चक्र है, तथा इसकी तीक्ष्ण तर्कनाशक्ति ही इसका तेज नोकदार तर्कुंक (तकुआ) है। हरएक देह में बैठा आत्मा यह अखण्ड चर्खा चला रहा है। पर साधारण आत्मा उस चर्खे से जैसा तैसा ऊटपटांग कात रहे हैं— बहुत से बेशक दिन रात रुई (विचार सामग्री) को व्यर्थ खो रहे हैं पर उसे कातना नहीं कहा जा सकता। मैंने ही ये चार सूत्र निकालने में कितनी रुई खोई है, यह देखते ही हो। पर उन गौतम व्यास आदि ऋषियों ने बहुत ही अधिक सूक्ष्म और अतएव अत्यन्त दीर्घ (व्यापक) सूत्र निकाले थे—और साथ ही बड़े मजबूत

(सत्यमय) सूत्र निकाले थे अतएव ये ऋषि आत्माएं विशेषतया सूत्रकार प्रसिद्ध हुई। नहीं तो जैसा तैसा उस चर्खे को हमेशा चलाते जाना तो हर एक जीव ही सदा से कर रहा है, पर उससे निकली वस्तु सूत्र कहलाने योग्य नहीं होती।

पर आत्मा से भी परे इस ब्रह्माण्ड देह में बसने वाला एक परम आत्मा है जो कि परम सूत्रकार है—परम सिद्ध सूत्रकार है जिसके सूत्र के विषय में वेद में कहा है—

"यो विद्यात् सूत्रं विततंय स्मिन्नोता: प्रजा इमा: सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् स विद्याद् ब्राह्मणं महत्"

— अथ. 10-36-8

उसका सूत्र इतना सूक्ष्म है कि वह किसी को दिखाई नहीं देता, यद्यपि वह सूत्र सब संसार में ओतप्रोत हो रहा है। सूक्ष्म होता हुआ भी वह सूत्र इतना मजबूत है कि (विरले मुक्तों को छोड़ कर) यह सब विश्व ब्रह्मांड उस सूत्र में दृढ़ता से बंधा हुआ है। उस प्रभु के जगद्व्यापी इस सूत्र को ऋषिओं ने 'सूत्रा मा वायु या सूत्रात्मा प्राण' नाम दिया है। इस सूत्रात्मा प्राण में बांधकर वह मदारी सब प्राणियों को कठपुतली की तरह नचा रहा है—कर्म-फल भुगा रहा है।

खैर, इसे जाने दो, भारतवासियों को ये आत्मा परमात्मा की बातें सुनाने का मौका नहीं है। जा, भूखे भारतवासियों को तो पहिले स्थूल कपास का कातना सिखा। पुराने ऋषियों ने तो अन्दर के चर्खे के अनुसार बाहर के (कपास के) चर्खे का आविष्कार किया था, पर अब तो बाहर के चर्खे द्वारा ही अन्दर प्रवेश होगा और पेट भरने पर ही उन्हें आत्मा, परमात्मा और अन्दर के चर्खे को सुनने की फुरसत होगी। तू अन्दर के चर्खे को भी जान गया है, अत: तू चर्खे के प्रचार करने का अधिकारी है। यदि कोई यज्ञार्थ कातने वाले मिलें तो उन्हें बेशक कह देना कि नारायण भी निरन्तर कातते हैं, नहीं तो सूत्रात्मा के बिना जगत् क्षण भर भी न टिक सकेगा—यह भी कह देना कि पुराने ऋषि सूत्रकारों ने भी काता था इसलिए तुम भी कातो। पर अन्य भूखों को तो केवल इतना ही कहना कि आज-वर्तमान-के भारतीय ऋषि भी तुम्हें कताने के लिये कातते है, इस लिये तुम भी कातो, कम से कम इतना तो कातो कि विदेशी कपड़े की तुम्हें जरा भी— एक इंच की भी— पराधीनता न रहे।

शिष्य ने इसे स्वीकार किया।

मैंने कहा—'तथास्तु'

मन नहीं टिकता, क्या करें ?

जिज्ञासुओं तथा साधकों के प्रश्नों के उत्तर आचार्य जी ने पत्र द्वारा दिये थे। ये बीस उत्तर 'अदिति' के अप्रैल, नवम्बर 1947, फरवरी 1948 और फरवरी 1949 अंकों में छपे थे। फिर पुस्तिका के रूप में इनका प्रकाशन श्री अरविन्द निकेतन, रथावल की ओर से किया गया था। वही यहां प्रस्तुत है।

—सम्पादक

तुम कहते हो कि संध्या में, ध्यान में मन नहीं टिकता, पर यह बताओ, टिकता कब है ? जब बाकी सब समय, 22, 23 या साढ़े तईस घण्टे तुम मनको छुट्टी दिये रखते हो, वह जो चाहे करता रहे, जो चाहे सोचता रहे, तो ध्यान के एक आधे घन्टे वह बिल्कुल टिक जाय, निश्चल हो जाय, यह कैसे हो सकता है ? मन पर ऐसी हकूमत तो नहीं चल सकती। दिन-रात, सोते-जागते, चलते-फिरते, तुम उसे चंचल रहने की आदत डालते हो, चंचल रहना सिखाते हो, पर ध्यान के थोड़े से समय के लिए तुम चाहते हो कि वह अपनी उस सब आदत को बिल्कुल छोड़ कर मानो रूपांतरित होकर, निश्चल हो जाय। इसके लिये तो तुम्हें दिन भर हर समय ही मन पर कुछ अंकुश सा रखना सीखना होगा। हर समय मन को कुछ न कुछ वश में रखने का अभ्यास करना होगा।

ध्यान-भजन के समय को जीवन के बाकी सब भाग से काट कर जुदा नहीं रखा जा सकता। ऐसा करने में यदि सफल हो जाओगे तो भी उससे काम नहीं चलेगा। जीवन तो असल में अविभाज्य है। जीवन के एक भाग का दूसरे भाग पर प्रभाव पड़ेगा ही। और तुम्हारा मन तो ध्यान के समय भी वही, एक वही है, जो कि दिन भर अन्य नाना प्रकार के व्यापार में संलग्न रहता है। मतलब यह कि तुम्हें अपने मन को व्यापक रूप में भी साधना होगा, इससे पहिले कि तुम केवल ध्यान के समय के लिए ही उसके सधे हुए रहने की आशा करो— इससे पहले कि तुम यह आशा करो कि तुम्हारा मन ध्यान के समय एक बिल्कुल अनुशासित बालक की तरह

तुम्हारा आज्ञा-पालन करे। तुम्हारी मन की साधना जीवनव्यापी होनी चाहिये, तभी तुम्हें संध्या के समय मनकी विशेष कठिनाई नहीं आवे, यह सम्भव होगा।

इसके लिए एक सहज अभ्यास यह है कि तुम जब जो काम करो, तब उसी काम में मन को पूरी तरह लगाओ। केवल संध्या या ध्यान के कार्य में ही नहीं, किन्तु अपने प्रत्येक कार्य में ही मन की एकाग्रता रखो। जब जिस काम में लगे हो, तब उसे ही पूरी एकाग्रता, तल्लीनता एवं समग्रता से करो। जब दूसरे कार्य में लगो तो उधर मन लगा दो। इस तरह शारीरिक कार्यों में, सब में मन की एकाग्रता का अभ्यास होता रहे, ऐसा यत्न करो।

(2)

तुम मन को रोकना क्यों चाहते हो ? मन को रोक रखने से क्या फायदा होगा ? यूं ही दूसरों की नकल नहीं करनी चाहिये। और कोई मन को रोकने का अभ्यास करते हैं इसलिये हम भी करें, ऐसी कुछ बात नहीं होनी चाहिये। तुम स्वयं सोचो तुम्हारा उद्देश्य, अभिमत या मतलब क्या है ? फिर उसका उपाय करो। तुम्हें मेरी सलाह यह हैं कि तुम मनको रोकने, एकाग्र करने के चक्कर में अभी नहीं पड़ो। तुम तो पहिले ठीक तरह सोचना सीखो। मन की क्रिया को बन्द कर देना, मन को मार देना, मन को जबरदस्ती दबा देना उन्नति का तरीका नहीं है। 'मूढ़', जड़ मन की अपेक्षा तो चंचल, 'क्षिप्त' मन ही अच्छा है, तुम अभी मन से ठीक प्रकार, सीधे तौर पर, सच्चे तौर पर सोचो। गड़बड़, ऊटपटांग या कुटिलता के साथ, या निरर्थक, असङ्गत तरीके से मत सोचो। ऐसी साधना भी बहुत बड़ी बात है। तुम इस तरफ ध्यान दो।

(3)

जो कोई आता है यही पूछता है कि मन को एकाग्र करने की विधि बताइये। यह भी एक फैशन-सा हो गया दीखता है कि किसी साधु-सन्त योगाभ्यासी कहलाने वाले के पास जाया जाय तो उससे विनय-भाव से कुछ ऐसा प्रश्न किया जाय 'भगवन् ! कृपा करके बतलाइये मन को कैसे एकाग्र किया जाय, मन तो रुकता नहीं, बड़ा चंचल है········· ।' मैं आपको इस विषय में कोई नई बात नहीं बता सकता। सच तो यह है कि इस विषय में पूछने की इतनी बात नही हैं जितनी करने की। आपने बहुत ग्रन्थ पढ़े हैं। आप तो जानते ही है कि आज से शायद पांच हजार वर्ष पूर्व मन के विषय में अर्जुन ने श्री कृष्ण भगवान से क्या प्रश्न किया था और उसका क्या उत्तर पाया था। मेरी सम्मति में वह प्रश्न और वह उत्तर आज भी उसी तरह सत्य है। उसमें कुछ बढ़ाने-घटाने की आवश्यकता नहीं है। अर्जुन ने कितने सच्चे भाव में कितनी बलवती भाषा में जिज्ञासा की थी,

मन बड़ा चंचल, बेकाबू, बड़ा क्षोभ पूर्ण है, हावी हो जाने वाला, बड़ा जबरदस्त दृढ़, हठी है। मन को रोकना तो वायु रोक रखने जैसा अशक्य-सा काम दीखता है।'' पर श्री कृष्ण भगवान ने धैर्य देते हुए उपाय बताया 'वेशक हे महाबाहु ! मन बड़ा दुर्निग्रह और बड़ा चंचल है, तो भी, हे कौंतेय ! अभ्यास और वैराग्य से वह काबू में आ जाता है।' तो क्या आप 'अभ्यास और वैराग्य' के उपाय से अनभिज्ञ हैं ? चित्तवृत्ति-निरोध के योग का प्रतिपादन करते हुए सुप्रसिद्ध योग दर्शन का बताया उपाय भी तो यही है। आप जानते हैं—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ।

अभ्यास और वैराग्य के द्वारा चितवृत्ति का निरोध होता है। इन दो उपायों की व्याख्या करते हुए भाष्यकार व्यास जी ने बड़ा अच्छा निर्देश किया है कि अभ्यास और वैराग्य इन दोनों द्वारा मिल कर चित वृत्ति की दिशा पलटी जाती है। यदि एक नदी के प्रवाह की दिशा पलटनी हो तो उसके दो उपाय हैं, एक तो जिधर ले जाना है उस तरफ खोद दिया जाय, खोल दिया जाय और साथ ही दूसरे जिधर से रोकना हो उधर बांध बांध दिया जाय, सो अभ्यास द्वारा पहिला कार्य होता है और वैराग्य द्वारा दूसरा।

बस इन दोनों चीजों को करने की जरूरत है। लोग करते नहीं हैं, पूछते रहते हैं। लोग यह सोचते हैं कोई जादू हो जाय तो अच्छा है, यत्न नहीं करना चाहते। या थोड़ा सा यत्न करके ही घबड़ा जाते हैं। मेरी समझ में तो इस कठिन कार्य में, इस यत्न में दस-बीस वर्ष भी लग जायें तो भी कुछ बात नहीं। पर करने की बात यही है, उपाय यही है। यह निश्चित समझना चाहिये। जितना अभ्यास किया जायेगा, बार-बार मन को एकाग्र करने का सतत यत्न किया जायेगा और जितनी ही बाह्य विषयों में विरागता, अनासक्ति, समचित्तता होती जायेगी उतना-उतना चित्तवृत्ति-निरोध, मन की अचंचलता होती जायेगी। इसलिए और किसी छोटे रास्ते, शार्ट-कट की खोज में न पड़, इसी राज मार्ग को अपनाना चाहिये। अन्त में यही छोटा मार्ग भी साबित होगा। अभ्यास (बार-बार यत्न करना) और वैराग्य (वस्तुओं में अराग, अनासक्ति, समचित्तता)।

(4)

तुम कहते हो कि मन नहीं रुकता, पर तुम जरा यह तो देखो कि मन कहां जाता है ? इसे 'देखने' में ही जादू है। जैसे एक प्रवीण सपेरा सांप के ऊपर दृष्टि डालकर सांप को वश में कर लेता है वैसे ही मन के द्रष्टा (देखने वाला) बनते ही मन के काबू करने की कुंजी हाथ आ जाती है। बस, मन को देखो, देखते रहो, लगातार दृष्टि के नीचे रखो। फिर मन कहां जायेगा ? तुमसे बिना पूछे. बिना आज्ञा लिये कहीं नहीं जा सकता। मैंने ठीक तरकीब बताई है कि नहीं ? बात कहने में तो मैंने बतादी है, पर यह भी आसान काम नहीं है। मन का द्रष्टा बना रहना

भी बहुत कठिन है। पर यह उपाय बहुत उत्कृष्ट है। आशा है तुम्हें यह जंचा होगा।

इसके लिए तुम्हें अपने मन के साथ बहना छोड़ना होगा। मन के ऊपर होकर, मन के बहने को, मन की गति को देखना होगा, देखने वाला बनना होगा। हम प्रायः मन के साथ एकाकार हुए रहते हैं, अतएव मन के साथ बहते, मन के साथ लुढ़कते पुढ़कते घिसटते फिरते रहते हैं। मन से जुदा होकर मन के ऊपर होकर नहीं बैठते। इसीलिये हम मन के द्रष्टा या साक्षी नहीं हो पाते।

यह मन के द्रष्टा होने का विचार तुम्हें अच्छा लगा हो तो ऐसा करके देखो। द्रष्टा होते ही मन की गुलामी से छुटकारा दीखने लगेगा और मन के स्वामी होने का रास्ता मिल जायेगा। अभी तक तो हम मन के गुलाम है, दास हैं। मन से बंधे हुए इधर-उधर बेबस फिरते हैं, मारे-मारे भटकते हैं। कितनी भारी गुलामी की अवस्था है!

(5)

मन के विषय में मेरे एक गुरु अच्युत मुनि जी ने एक बार सुन्दर बात कही थी, आपको तो वह सुनाना चाहता हूं। अच्युत मुनि जी कहने लगे 'देखो, मन नपुंसक होता है न ? तो वह पुरुष के सामने कैसे ठहर सकता है ?' सो अपने पुरुषत्व को अनुभव कीजिये। उसके सामने बेचारा मन क्या कर सकता है। मन वशवर्त्ती हो जायेगा।

आप वस्तुतः पुरुष हो जाइये तो मन अपनी असली अनुचर या विधेय स्थिति में आ जायेगा।

(6)

आप जैसे लोगों का मन की चंचलता रोकने के लिए संकल्प-बल का प्रयोग करना चाहिये, आप मन को रोकने का उपाय, विधि कोई खास ढंग पूछते हैं। पर मैं कहता हूं कि आप संकल्प कीजिये। दृढ़ संकल्प के साथ ध्यान में बैठिये कि अब मन को इधर-उधर भटकने नहीं देना है, अमुक स्थान पर या विषय पर एकाग्र करना है। सो उसका अवश्य फायदा होगा। जितना ही दृढ़ संकल्प होगा, उतना ही आप देखेंगे कि आपको सफलता मिलेगी। मैं तो मन को रोकने का स्वभावतया यही उपाय बरतता हूँ और इससे मुझे सफलता भी होती है। जिस दिन कोई खास कारण मन की चंचलता का हुआ होता है, उस दिन विशेष रूप से दृढ़ संकल्प करके बैठने की जरूरत होती है।

पूरी और स्थायी सफलता तो बेशक धीरे-धीरे और चिरकाल में होगी पर संकल्प-बल उसमें सदा लगातार सहायक होगा।

(7)

जप वस्तुतः एक बड़ा अच्छा उपाय है। जप को 'परम तप' कहा गया है।

गीता में 'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि' कहकर जप की महिमा गाई गयी है। जप की विशेषता यह है कि इसमें एक प्रकार से मन की चंचलता को चरितार्थ करते हुए उसे एकसूत्रता में एकधारा में रखा जाता है। मंत्र के या नाम के बार-बार मानसिक उच्चारण में जो पुनः-पुनः फिर-फिर उसे ही दोहराया जाता है, उससे प्रत्येक जप की समाप्ति पर ठहरना भी हो जाता है, कुछ परिवर्तन सा भी हो जाता है जो कि मन के चंचल स्वभाव के अनुकूल है, पर फिर उसे ही पकड़ लेने से एक धारा भी बनी रहती है जो कि एकाग्रता के लिये अभीष्ट है। पर स्वाभाविक जप वह है जबकि आत्मा जपनीय शब्द को, उसके अर्थ के आनन्द को पाने के कारण बार बार दोहराये चली जाती है, उसे छोड़ने को जी ही नहीं चाहता। तब जप करना है इसलिए जप नहीं किया जाता है किन्तु उसे बार बार दोहराये बिना रहा ही नहीं जाता, जितना दोहराते हैं उतना ही रस आता है। इसलिये स्वयमेव उसका दोहराना होता है, जप होता है।

सो आप खूब प्रेम से जप कीजिये। आप जो कहते हैं कि उसके अर्थ में, भावना में लगातार मन नहीं रहता, कभी इधर उधर की बातें भी मन सोचने लग जाता है। माला हाथ में घूमती है, पर मन भावना को छोड़कर कहीं और ही चला गया होता है, सो यह प्रेम की कमी है, या संकल्प की कमी है। जब मैं माला से जप किया करता था तब मुझे याद है, एक बार मैंने यह नियम किया था कि जिस जप के साथ भावना (अर्थ विचार) उखड़ जाती है, उसे मै गिनता नहीं था। उस पर माला के मनके को आगे नहीं चलाता था। जो जप भावना से होता। उसी को गिनता था, उसी के साथ अगला मनका पकड़ता था, नहीं तो नहीं। इससे भावना को लगाने के लिए बाधित सा होना पड़ता था, नहीं तो जप में बहुत देर लग जायेगी इसका डर रहता था, और वह भय तन्मयता के लिए प्रेरित करता था। आप भी ऐसा करके देखें। ऐसा करने से 'हाथ में माला फिरे पर अर्थभावन न हो' इन मिथ्या अवस्था में पड़ने में अवश्य रुकावट होगी।

माला से गिनकर या समय द्वारा माप कर (जैसे आधा घण्टा, पैंतालीस मिनट) जप करना इसीलिये लाभदायक है क्योंकि ऐसा करने से उतना करने की मर्यादा पूरी करने की इच्छा, शक्ति के रूप में सहायक हो जाती है। बहुतों के लिए ऐसा करना बहुत लाभदायक होता है पर जब जप स्वाभाविक रूप धारण कर लेता है तब ऐसे किसी नियम में बंधने की जरूरत नहीं रहती।

(8)

एक चीज है 'शान्तवाहिता चितस्य' मन की शांतवाहिता। मन शांत भाव से बहे, गति करे! तुम इसकी तरफ ध्यान दो, मन को निग्रह करलो, उसमें कोई गति ही न हो, इसकी अपेक्षा तुम ऐसा यत्न करो कि तुम्हारा मन शान्तवाही हो। मन चले, सोचे, विचारे, एक बात से दूसरी बात पर, एक विषय से दूसरे विषय पर

जावे, पर वह शांतभाव से, अचंचल गति से जावे। जैसे कोई लोग हड़बड़ाते हुए घबराते हुए या शंका-ग्रस्त हो पैर बेढंगे तौर पर रखते हुए या लड़खड़ाते हुए चलते हैं, वैसे तुम्हारा मन गति न करे। किन्तु जैसे कोई महापुरुष शान्त, धीर, गम्भीर गति से निःशंक होकर चलता है, उस तरह तुम्हारे मन की गति हो।

(9)

तुम कहते हो कि कभी कभी तो ध्यान में तुम्हारा मन बड़ा अच्छा लगता है और कभी बड़ी कोशिश करने पर भी नहीं लगता, तुम तंग हो जाते हो। पर इस अवस्था में घबराना नहीं चाहिये। ऐसा सभी को होता है। एकसार अवस्था सदा नहीं हुआ करती है, और किसी की भी नहीं हुआ करती। कभी अच्छा ध्यान लगना और कभी न लगना, जब जब ऐसा होता है तब देखना चाहिये कि उसका कारण क्या था। उसका कुछ कारण अवश्य होता है, चाहे कारण हमारी समझ में आवे या न आवे। यदि कारण समझ में आवे तो (पहली अवस्था मे) उसे बढ़ाने का या (दूसरी अवस्था में) उसे दूर करने का यत्न करना चाहिये। उदाहरणार्थ कभी किसी सन्त पुरुष के संपर्क से या उत्कृष्ट कोटि की पुस्तक पढ़ने से या प्रकट या अप्रकट रूप से, किसी आनन्द, संतोष या छुटकारे की अवस्था के अनुभव आदि के कारण मन में सात्विक अवस्था उत्पन्न हो जाती हो तो उस दिन मन अपने आप सरलता से लगता है। इसके विपरीत कभी कहीं से राजसिक तामसिक वातावरण का संपर्क मिलने, वैसे पुरुषों या वैसे साहित्य से प्रभावित होने से या क्षोभ, उद्विग्नता भय, क्लेश की किन्हीं अवस्थाओं के स्थूल या सूक्ष्म प्रभाव के कारण मन ऐसा विक्षुब्ध होता है कि रोके नहीं रुकता। पर यदि ऐसा कोई कारण समझ में न आवे तो भी कुछ चिन्ता नहीं करनी चाहिये इतना समझ लेना काफी है कि मन की सात्विक, राजस, तामस अवस्थाएँ होती रहती हैं इसलिए इन बातों से घबराना नहीं चाहिए।

योग-दर्शन में मूढ़, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध, पंच अवस्थायें मन की बताई हैं। उसमें प्रथम तीन अयोगिक अवस्थायें हैं और पिछली दो (अवस्थायें एकाग्र और निरुद्ध) योग की अवस्थायें हैं। पहली तीन अर्थात् क्षिप्त और विक्षिप्त को सामान्यतया तामसिक, राजसिक, तथा सत्वोन्मुख राजस अवस्था कहा जा सकता है। पर तमोगुण, रजो गुण कुछ न कुछ आगे भी तो रहते ही हैं। जिनका मन एकाग्रता का अभ्यासी हो गया है, उनका भी कभी मन अपेक्षया भारी, बोझिल, दबा हुआ, सोया हुआ, अप्रवृत्तियुक्त अर्थात् मूढ़ होता है, तो कभी अपेक्षया विशेष चंचल, अधीर, अस्थिर, उभड़ता या उड़ता हुआ सा अर्थात् क्षिप्त या फिर विक्षिप्त होता है। सो इसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिए। क्योंकि प्रतिदिन की मानसिक अवस्था में ऐसा तामस, राजस, सात्विक प्रकार का अपेक्षाकृत भेद होते हुए भी समग्र रूप से मन की अवस्था में उन्नति हो ही रही होती है। उसे देखना चाहिये और उस पर विशेष दृष्टि रखते हुए आगे बढ़ते जाना चाहिए।

(10)

तुम ठीक कहते हो कि जिस दिन कोई खास बात हुई होती है, कोई हर्ष हुआ होता है या कोई धक्का लगा होता है या किसी अन्य कारण से किसी बात ने मन को घेर रखा होता है, उस दिन मन खास तौर पर उसी बात पर बारबार चला जाता है तथा उस दिन ध्यान नहीं हो पाता है। यह अनुभव ठीक है। पर इसके विपरीत मेरा अनुभव यह भी है यदि आदमी ध्यान देवे तो उस दिनमन को रोकना आसान भी अधिक हो जाता है क्योंकि मन उस दिन उसी विषय पर ही जाता है, भिन्न भिन्न अन्य किसी विषयों पर नहीं। सो उस दिन हम उसके लिये स्वभावत: विशेष जागरूक हो सकते हैं, या हो जाते हैं। वह विचार ज्यों ही आता है, आने लगता है तुरन्त उसे पता लग जाता है और उसे रोक दिया जाता है। पर जिस दिन कोई खास बात न हो तब तो कभी कोई कहीं का विचार आता है और हमें पता भी नहीं रहता कि वह कब आ गया और हमें उसके साथ बह जाते हैं। जैसे जब किसी खास आक्रमण का अन्देशा होता है, तब उस विशेष प्रकार के आक्रमण से बचना भी आसान होता है। क्योंकि उसके प्रतिविधान के लिये तैयार होते हैं। पर जब कोई अचानक ही, उसकी आशंका न हो, आक्रमण हो जाये तो उसे रोकना मुश्किल होता है। वैसी ही यह बात है।

(11)

कइयों को तो यह भी सलाह देनी होती है कि वे मन के विचारों को रोकें नहीं, आने देवें, देखें वह कब तक आते हैं। ऐसा सोचकर छुट्टी दे देवें, विचारों को खुले आने देवें, ऐसा करने से कुछ समय बाद उन्हें विचारों को आने देना बड़ा बुरा लगने लगता है, वे विचारों के ऐसे निरन्तर आक्रमण से तंग आ जाते हैं और तब उनके लिये मन की एकाग्रता करना सरल हो जाता है। वे रोकने का ही यत्न करते रहें तो वे कभी सफल न हों। उनकी मन की अवस्था ही ऐसी हो चुकी होती है।

पर तुम्हारी अवस्था ऐसी लगती है कि तुम यह देखो कि विचार आते कहां से हैं, अपने शांत खुले मन की मानो शान्ति को भग करते हुए किसी विचार का आगमन कहां से होता है? उस पर ध्यान दो। कुछ समय बाद सचमुच अनुभव होने लगेगा कि विचार अमुक दिशा से, अमुक स्थान से आया या आने वाला है। फिर जब कोई विचार आने को होगा, तभी पता लग जायेगा और उसे आने से पहिले ही रोक दिया जा सकेगा। इस प्रकार क्रमश: तुम्हारा मन निर्विचार, विचारों से अनाक्रांत, शांत अवस्था को प्राप्त हो जायगा।

कई लोगों को पहिले यह बात समझ में नहीं आती कि विचार कहीं बाहर से आते हैं। साधारणतया यही समझा जाता है कि विचार अपने मन में से ही उत्पन्न

हात, पैदा होते हैं। विचार हमारे अन्दर मन की उपज नहीं हैं, किन्तु वे बाहर से विचार-लहरों के रूप में आकर हमारे मन में घुसते हैं, यह समझ लेना ही विचारों के आक्रमणों को रोकने में बड़ा सहायक होता है। पर इसका कुछ अनुभव हो जाने पर तो काम बहुत सहज हो जाता है।

(12)

आपकी कठिनाई का इलाज मुझे यह लगता है कि आप अन्दर गहराई में जाने का यत्न करें। मन के ऊपरी तल में नहीं रहें किन्तु अन्दर गहराई में जावें। आप जो यूं ही यांत्रिक तौर से (Mechan cal'y) आते रहने वाले विचारों के कारण तंग हैं, उसके लिये गहरा गोता लगाइये। गहरी अन्तर्मुखता अपेक्षित है। इन यूं ही परेशान करने वाले निरर्थक से विचारों का मन के ऊपरी तल पर ही प्रभाव होता है, गहराई में नहीं। असल में तो हर एक को अपने अन्दर गहराई में एक केन्द्र को खोज लेना है। जब तक वह केन्द्र नहीं मिल जाता, वहां स्थिति नहीं हो जाती तब तक ही ऐसी परेशानियां रहती हैं।

(13)

हां, आपको मन को खाली करने का या मन को एक स्थान विशेष पर केन्द्रित करने आदि का अभ्यास करने की जरूरत नहीं। यह विधि आपके लिये कठिन होगी। विशेष सफलतादायक भी नहीं होगी। आप तो अपनी भक्ति के द्वारा, भगवान् के प्रति आपके हृदय में जो प्रेम भरा है उसके द्वारा ही चलिये। उसी का सहारा लीजिये। मगन होकर भक्ति के गीत गाना या स्वयं कविता करना. इसे चलने दीजिये। इससे आप के हृत्पुरुष (अन्तरात्मा) का जो विकास होगा, उसका प्रभाव आपके मन पर भी स्वयं पड़ेगा। अन्तरात्मा अपनी शान्ति का दबाव आपके मन पर डालेगी और उससे आपके मन की चंचलता स्वभावतः दूर होती जायगी।

(14)

मेरा मतलब यह नहीं कि दूसरा आदमी आपके मन को अचंचल व एकाग्र करने में कुछ भी सहायता नहीं कर सकता या मन को रोकने की कोई खास विधियां या उपाय नहीं हैं। पर मैं इस बात पर जोर देना चाहता हूं कि दूसरे की पहुंचायी सहायता सहायता ही होती है, आखिर में हमें स्वयं ही और अपने ही मन को साधना होग । इसी तरह मन को रोकने की विशेष विधियां और उपाय होते हुए भी उनका करना, उनका अभ्यास करना तो करने वाले को ही करना होता है और यत्न पूर्वक करना होता है।

एक गुरू बेशक अपने संकल्प द्वारा भी मनो-निरोध में सहायता कर सकता है और बहुधा करता भी है। उसकी मनो-निरोध की जो खास विधि होती है, प्रायः उसी के द्वारा वह अपने शिष्य को आसानी से एकाग्रता में पहुंचा सकता है। इसीलिये वह वही विधि प्रायः सबको बताता है। पर उस विधि से सबको सफलता

नहीं होती । उसका कारण प्रायः यही होता है कि वैसे शिक्षार्थी की प्रकृति के वह (विधि) अनुकूल नहीं होती ।

योग-दर्शन में मनो-निरोध की जो विधियां लिखी हैं, वे सब सही हैं । वे सब अनुभूत हैं । स्पष्ट रूप से ही सफलतादायक हैं । पर वहां भी कई उपाय इसलिये कहे हैं कि वे भिन्न-भिन्न प्रकृति के लोगों के लिए विशेषतया उपयुक्त होते हैं । वहां अन्त में यह भी कह दिया है कि 'यथाभिमत ध्यानाद्वा' अर्थात् जो रुचे वही ध्यान लगाओ, उसी से एकाग्रता की अवस्था को पा जाओगे ।

साधारणतया नाद या प्रकाश में पहुँचा देना मन की तल्लीनता का बड़ा अच्छा साधन है । कईयों के लिये नाद का स्फुटित होना अनुकूल होता है, तो दूसरों के लिये प्रकाश-दर्शन आसानी से खुल जाता है । वा एक गुरु के लिए नाद कराना, दूसरे के लिए प्रकाश कराना आसान होता है । पर ये दोनों ही बड़े अच्छे उपाय हैं । नाद के विषय में कहा है ' न नादसदृशोलयः' नाद में मन बड़ी अच्छी तरह तल्लीन हो जाता है । कानों में जो मधुर बाजों के बजने की सी आवाज निरन्तर होने लगती है, उसे सुनना, उसमें मन को लीन कर देना सुगम होता है । इसी तरह प्रकाश हो जाने पर चन्द्र सूर्य तारे तथा अन्य बढ़ते हुए प्रकाश में जो कि सामने दिखाई देने लगते हैं मन को एकाग्र कर देना सुगम होता है । योग-दर्शन की विशोका प्रवृत्ति का वर्णन करते हुए प्रकाश के 'सूर्य चन्द्र ग्रह तारा मणि प्रभा' रूप में प्रकट होने का वर्णन है । इसी तरह एक अनुभूति होती है जिसमें 'निस्तरंग महोदधि कल्पं' अर्थात् ऐसा बड़ा भारी विस्तृत समुद्र है जिसमें कोई तरंग नहीं उठती, शान्त अचल है ऐसा अनुभव होता है । इसे संभवतः ज्योतिष्मती प्रवृत्ति कहा गया है । इस अनुभूति से भी मन स्थिरता को प्राप्त होता है ।

चित्त की निर्मलता के लिए, प्रसाद के लिए सुख में मैत्री, दुःख में करुणा, पुण्य में मुदिता और अपुण्य में उपेक्षा का अभ्यास करने की विधि बताई गई है । भाव प्रधान लोगों के लिये यह अभ्यास बड़ा अच्छा है । इससे प्राण (चित) शुद्ध होता है और उससे एकाग्रता सुगम हो जाती है ।

भक्तों के लिये 'ईश्वर प्रणिधान' का उपाय भी योग दर्शन में बताया गया है । 'प्रणिधानात् भक्ति-विशेषात् आवर्जितः ईश्वरस्त-मनुगृह्णाति अभिध्यानमात्रेण' अर्थात् प्रणिधान (समर्पण) रूपी भक्ति विशेष से सम्मुखीकृत किया गया परमेश्वर उसे अभिध्यान मात्र से अनुगृहीत कर देता है । सो उसकी कृपा से भी शीघ्र समाधि अवस्था प्राप्त हो जाती है ।

किसी वीतराग महात्मा का, जिसमें भी हमारी सच्ची भक्ति हो, ध्यान करने से भी मन की शांत एकाग्रता प्राप्त होती है, बहुत से लोगों के लिये ऐसा करना ही सहज होता है । किसी अन्दर या बाहर के केन्द्र पर या वस्तु या विचार पर ध्यान जमाने की जगह किसी व्यक्ति का ध्यान करना उनके मनके लिए बहुत

अनुकूल होता है। सो वे उसी का हृदय में ध्यान कर सफलता प्राप्त करते हैं। ऐसा ध्यान करने में हम उस वीतराग-पुरुष की मानसिक चेतना के साथ एक प्रकार का तादात्म्य स्थापित करते हैं और उसी के कारण हमारा मन उस प्रभाव से युक्त होकर स्थिर हो जाता है। जो महापुरुष विद्यमान नहीं हैं, उनकी स्मृति द्वारा भी ऐसा ध्यान किया जा सकता है। बुद्ध भगवान की ध्यानस्थ मूर्ति बौद्ध काल के स्तूपों विहारों में इस कार्य में सफलता पूर्वक उपयुक्त की जाती थी। आज भी बुद्ध भगवान की ऐसी चित्रित मूर्तियां देखने मात्र से शान्ति का वायुमण्डल उत्पन्न करती हैं। विहारों, गुफाओं, मन्दिरों की चित्रकला मौलिक रूप से ऐसे ही उच्च भावों का वायुमण्डल उत्पन्न करने के उद्देश्य से की गई थी या की जाती थी। मन की एकाग्रता की दृष्टि से इनका उपयोग यही है कि अन्य तरीकों के बीच एक यह भी तरीका है जिससे कि किन्हीं शान्तमना पुरुष की मानसिक चेतना के साथ एकता स्थापित की जाती है, या शान्ति वर्षक चित्रण द्वारा शान्ति पाने में सहायता प्राप्त की जाती है, आजकल भी फोटो या आलेखन से वही प्रयोजन पूरा किया जा सकता है।

योग-दर्शन में स्वप्न ज्ञान (स्वप्न में हुई किसी सात्विक या दिव्य अनुभूति का अवलम्बन लेकर) तथा निद्राज्ञान (ऐसी सात्विक सुषुप्ति जिसमें मन सर्वथा शान्त प्रसन्न रहा हो) के अवलम्बन द्वारा भी मन को समाहित करने की विधि कही गई है।

इसी तरह भ्रूमध्य, नासिकाग्र, कण्ठ, जिह्वामूल, सिर, आन्तरिक शरीर के केन्द्र जिन्हें कमल कहते या चक्र कहते हैं, उनमें ध्यान लगाने से मन की एकाग्रता प्राप्त की जाती है। अन्तरात्मा का स्थान हृदय है। सो वहां ध्यान लगाना भी बहुत अच्छा है। प्रत्येक चक्र में लगाने का अपना-अपना विशेष फल है। एवं ध्यान लगाने की विधियां तो बहुत हैं, अनगिनत हैं पर अभ्यासी को किसी अच्छे गुरु की देख-रेख में उसकी बतायी विधि का और अपनी प्रकृति के अनुकूल विधि का अनुसरण करना चाहिये।

कई लोग आज एक विधि करते हैं तो कल किसी और से दूसरी विधि सुन कर या कहीं से पढ़कर उसे करने लगते हैं और दो एक दिन बाद तीसरी करने लगते हैं। ऐसा करने से कुछ भी नहीं हो पाता 'एक ही साधे सब सधे, सब साधे सब जाय' यह याद रखना चाहिये। अच्छी तरह समझ कर एक विधि को अपनाना चाहिये और उसे निरन्तर, श्रद्धा पूर्वक, धैर्य के साथ चिरकाल तक करते जाना चाहिये। तभी सफलता मिलती है। कुछ दिन एक अभ्यास किया, फिर उसमें अश्रद्धा कर ली, या निराश हो या घबराकर उसे त्याग दिया, उसे छोड़कर फिर कुछ अन्य विधि शुरू की या एक अभ्यास को कभी किया, कभी नहीं किया भीतो पूरे दिल से नहीं किया। ये सब चीजें सिद्धि के प्राप्त करने के बिल्कुल प्रतिकूल हैं। सर्वथा

ठीक अभ्यास और अपनी प्रकृति के अनुकूल अभ्यास को प्राप्त करके भी यदि उसे ठीक तरह नहीं किया जायगा तो भोजन हाथ में रहते भी भूखा रहने की बात होगी या 'पानी में मीन प्यासी' की कहावत चरितार्थ होगी (1) निरन्तरता (2) श्रद्धा (3) धैर्य के साथ चिरकाल सेवन ये योगाभ्यासी के लिये आवश्यकीय गुण हैं ।

(15)

मन क्यों चंचल होता है, यह देखना चाहिये । मन जब भटके तो पता लगाना चाहिये कि वह कहां से भटका । इसके लिए अच्छा उपाय यह है कि जब पता लगे कि मन तो भटक गया है, तब उलटी दिशा में सोचकर उस स्थान पर आ जाना चाहिये जहां से मन भटका था । कुछ समय तक तो मन के भटक जाने पर भी पता ही नहीं होता कि मन भटक गया है, मन अनभीष्ट दिशा में सोचता ही जाता है । अचानक जब एकाग्रता का हमारा संकल्प हमें जगा सा देता है तो याद आता है कि मैं तो एकाग्र हो अमुक ध्यान करने (या अमुक जप करने, अमुक विचार करने या अमुक दिशा में एकतान अभीप्सा करने आदि) बैठा था । जागने पर देखना चाहिये कि उस समय मन में क्या विचार आ रहा है, फिर सोचना चाहिये कि मैं इस विचार पर कैसे पहुँचा अर्थात् इस विचार से पहला विचार क्या था, पहली विचार-शृङ्खला क्या थी ? इस तरह सोचते सोचते इस विचार को जा पकड़ना चाहिये जिसके द्वारा ध्यान का पहला भंग हुआ था, जिस विचार के द्वारा सब से पहले मन ध्यान से भटका था । उस प्रारम्भिक विचार पर इस प्रकार विशेष ध्यान देना चाहिये कि वह मन में क्यों आया । उसका कारण जानना चाहिये कि उससे मालूम होगा कि मन को ध्यान से हटाने, भटकाने चंचल करने का क्या कारण हुआ है । इस खोज में हम प्रायः इस परिणाम पर पहुँचेंगे कि हमारी कोई आसक्ति, राग, मोह या भय आशंका ही मन की एकतान गति में चुपके से बाधक हो जाती हैं । यह ज्ञान हमारे मन की शुद्धि में बहुत ही सहायक होगा ।

तुम कहते हो कि इस अभ्यास में तो बहुत समय लगता है । सो समय तो देना ही होगा । समय और किस कार्य के लिये है ? बहुत सा समय तो जो तुम निरर्थक बातों में या गपशप में बिताते हो, उसमें से बचा सकते हो । पर मैं तो तुम्हें यह भी कहना चाहता हूं कि चाहे तुम अभी यह अनुभव न करो किन्तु सच्ची बात यह है कि धनोपार्जन के कार्यों की अपेक्षा भी यह अपने अन्दर अपने मन का खेल देखना और समझना एक बहुत महत्वपूर्ण कार्य है । यह बहुत बड़ी प्राप्ति का साधन है । यह समय खोना नहीं पर समय द्वारा बहुत उत्कृष्ट उपार्जन करना है ।

(16)

जैसे शारीरिक तौर पर एक स्थिर, अडोल आसन से बैठने की महिमा तुम अनुभव करते हो वैसे ही क्या मानसिक तौर पर भी स्थिर अडोल आसन लगाने

की अर्थात् सतत एक भाव में, एक मन:स्थिति में अडोल बने रहने की, बल्कि कार्य करते हुए भी मन की शान्त अनुत्तेजित समस्थिति बनाये रखने की महिमा, शक्ति और अपेक्षा बहुत ही उत्कृष्ट रूप में तुम अनुभव नहीं कर सकते, कल्पना में नहीं ला सकते ?

(17)

आप मन की स्थिरता के लिए मुझ से सहायता चाहते हैं। पर मैंने भी मन की स्थिरता कहां प्राप्त कर ली है ? शायद अपेक्षया मेरा मन कुछ स्थिर है, पर मुझे भी अपने तौर पर मन के स्थिर अचंचल न होने की वैसे ही शिकायत है जैसे आपको। जैसी स्थिति मैं अब मन की चाहता हूँ, वैसी नहीं हो पाती। इसकी मुझे भी शिकायत है। पर मैं तो यत्नशील हूं और आशापूर्ण हूँ सो आपको भी कहता हूं कि आप भी यत्न करते जाइये। मन के स्थिर होने, हो सकने में संशय की तो कुछ भी गुंजाइश नहीं है।

(18)

उपाय यह है कि शान्ति की अभीप्सा की जाय। शान्ति मन में अवतरित हो, उतरे, यह सच्चे दिल से चाहा जाय।

(19)

निश्चल-नीरवता का अर्थ (जो कुछ मैं समझा हूं) है मन की नि:शब्द शान्ति, ऐसी शान्ति, निश्चलता जिसमें कोई शोर, शब्द, आवाज भग नहीं डालती, नहीं डाल सकती। चुप, मौन की शान्ति, अपार, अगाध चुप्पी। मानो चारों तरफ हजारों लाखों मील तक भी किसी शब्द, ध्वनि आहट का अभाव।

गुरुकुल में मैं बच्चों को कहता था कि जब तुम्हें शोर करने को कहें तो तुम ऐसा कोलाहल करो कि कनखल तक तुम्हारी आवाज पहुँचे। पर जब चुप रहने को कहें तो ऐसे चुप होओ कि मानो तुम्हारे आश्रम में कोई जीव है ही नहीं। सुई गिरने की आवाज भी जहां खलती है ऐसी (अंग्रेजी में जो Pin drop Silence कही जाती है) नि:शब्दता ही नहीं किन्तु जहां अपने सांस तक की आवाज भी विघ्नकारक प्रतीत होती है, ऐसी शान्ति हो। मेरा अभिप्राय है कि इसी दिशा में मन के अन्दर नि:शब्दता की स्थायी, गहरी और व्यापक अभीप्सा करते जाओ तो तुम निश्चल नीरवता पर पहुँच जाओगे।

'योग के आधार' पुस्तक में मन की अचंचलता, स्थिरता, शान्ति, निश्चल-नीरवता आदि का भेद स्वयं स्पष्ट करके बताया गया है। अपनी समझ के अनुसार संक्षेप में मैं यों कह सकता हूँ कि अचंचलता में चंचलता का न होना, न रहना मुख्य बात है। स्थिरता में चंचलता के अभाव पर जोर नहीं है किन्तु स्थिर जमे हुए रूप पर है, फिर भी इसमें न हिलने जुलने का भाव है। किन्तु शान्ति में अभावात्मकता बिल्कुल नहीं है। शान्ति एक वस्तु है, वह किसी का निषेध रूप

नहीं है। निश्चलनीरवता का वर्णन मैं ऊपर कर ही चुका हूं। ऐसे और शब्द भी हो सकते हैं। पर शान्तिद्योतक ये सब शब्द अत्यन्त परस्पर सम्बद्ध हैं।

(20)

मन की निश्चलता के विषय में दो तीन भावनाएं हैं जो मुझे बहुत अच्छी लगती हैं। आपको भी वे अच्छी लगेंगी या सहायक होंगी, यह मैं नहीं कह सकता तो भी मैं उन्हें लिखता हूं:-

1-- गीता का यह वर्णन---

'यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृतः।'

एक दीप-शिखा जिसकी लौ एकसार तनिक भी, जरा भी, इधर उधर बिना हिले जुले निरन्तर जल रही है, स्थिरतया जल रही है---यह कल्पना, यह भावना मुझे बहुत ही हृदयग्राहक लगती है। मन ऐसा निश्चल होकर प्रकाशमान हो, ऐसा जी चाहता है। दीप-शिखा ऐसी वस्तु है जो कि जरा सी वायु से भी हिल सकती है, पर फिर भी वह जरा भी न हिले।

2- श्री अरविन्द ने 'योग के आधार' में प्रारम्भ में ही एक जगह लिखा है कि जैसे निर्मल शान्त आकाश में कोई पक्षी उड़ते हुए आते हैं और उसे पार करके चले जाते हैं वैसे विचार हमारे स्थिर मनरूपी विस्तृत आकाश में से निर्लिप्त होकर आयें जायें। यह दृष्टान्त भी मुझे बहुत प्रिय लगता है। इसका ध्यान आते ही मन की स्थिरता का अभीष्ट चित्रण सामने आ जाता है।

3-- इसी तरह योग-दर्शन पढ़ते हुए जब 'निस्तरंगमहोदधिकल्प'---यह पद पढ़ा था, तभी से वह भूलता नहीं है। इससे मन की शान्त विशालता का चित्र हृदयपटल पर ऐसे सुन्दरतया अंकित हुआ है कि मिटता नहीं---'विशाल समुद्र जिसमें कोई तरंग नहीं उठ रही।'

जिज्ञासुओं की सेवा में

'अदिति' के नवम्बर 1945 अंक से 'जिज्ञासुओं की सेवा में' स्तंभ इस टिप्पणी के साथ शुरू हुआ था कि "कई चिट्ठी-पत्री करने वाले जिज्ञासु भाई यह चाहते हैं कि उनकी जिज्ञासा का उत्तर 'अदिति' पत्र द्वारा दिया जाय तो अच्छा हो जिससे कि अन्य पाठक भी उन उत्तरों से लाभ उठा सकें।" स्वतन्त्र लेख के रूप में भी कुछ प्रश्नों के उत्तर मिलते हैं। यहां प्रस्तुत है कुछ जिज्ञासाएं और आचार्य जी के उत्तर।

—सम्पादक

1. स्वार्थ और परार्थ (अदिति, नवम्बर 1945)

प्रश्न—वैदिक ग्रन्थों में जहां-तहां स्वार्थ को छोड़ने और परमार्थ अर्थात् यज्ञ को करने का विधान है परन्तु दूसरी तरफ महाभारत के हवाले से कहा जाता है कि 'सर्वः स्वार्थं समीहते' अर्थात् सब कुछ स्वार्थ पर आश्रित है। यदि सब कुछ स्वार्थ पर आश्रित है—इसको ठीक मान लिया जाय तो फिर यज्ञ अर्थात् परमार्थ का क्या होगा? प्रश्न उपस्थित होता है कि मनुष्य जो कुछ कर्म करें, उसे यह समझकर करे कि उससे स्वय को लाभ होगा या यह समझकर करे कि उससे दूसरों को लाभ होगा?

उत्तर— यज्ञ के अन्दर स्वार्थ तथा परार्थ अन्त में एक हो जाते हैं। सच्चे स्वार्थ में परार्थ भी निहित होता है और सच्चे परार्थ, परोपकार से अपना भी वास्तविक भला होता है इसलिए मनुष्य को यह समझकर काम करना चाहिए कि उससे स्वयं उसे भी लाभ होगा और दूसरों को भी। यज्ञ में यही भावना होती है। यज्ञ में जिस स्वार्थ को बलिदान करना होता है वह अपना क्षुद्र स्वार्थ होता है, विशाल स्वार्थ का नहीं। यज्ञ की ऊंची अवस्था में पहुंचकर सब दूसरे लोग भी हम ही हो जाते हैं, सब पराये दीखने वाले 'स्व' हो जाते हैं, पराये नहीं रहते। इसीलिए वहां परोपकार और स्वोपकार का भेद नहीं रहता।

2. सबल या निर्बल आत्मा (अदिति, नवम्बर 1945)

प्रश्न—अब तक तो मैं यही समझता रहा कि संस्कार जमा रहने के कारण

समय समय पर अपना रूप सामने कर देते हैं, अब आपके लेखों से मालूम हुआ कि वासनाएँ और इच्छाएँ प्राण में रहती हैं, मन उनका आकार या प्रतिकार (क्रिया या प्रतिक्रिया) बनाता है। साधकों की अवस्था कई बार ऐसी देखी गई है कि कभी तो वे एकान्त में बैठे जप भी कर रहे हैं और मन विषय वासना में बहा जा रहा है और रस ले रहा है मगर थोड़े मिनटों में प्रभु से प्रार्थना करने लगता है कि प्रभु ! मुझे पाप से बचाओ, कभी रोने लग जाता है और फिर रोने के घण्टा दो घण्टा पश्चात् वही अवस्था विषय में बहे जाने की हो रही है। मन को डांट डपट करता है तो वह नहीं मानता, प्यार और नम्रता से कहता है तो नहीं मानता और कभी मान भी जाता है और रोने लग जाता है। साधक पाप करना ही नहीं चाहता और फिर बह भी जाता है। आत्मा की निर्बलता और बल का सब दारोमदार (अवलंबन) तो मन पर ही है। मन निर्बल है तो आत्मा बलवान् कैसे हो सकती है ? और मन की दोरंगी, रोना और बह जाना, यह मन का है या आत्मा का भी ?

उत्तर— संस्कार जमा रहने की बात भी ठीक है। संस्कार अवचेतन में रहते हैं सो वासनाएँ प्राण के अवचेतन भाग में रहती हैं। हम लोग उसे साधारणतया चित्तया मन कहते हैं पर असल में वह प्राण का अवचेतन भाग है जहां इच्छाएँ वासनाएँ सुप्त रूप में रहती हैं। विषय का आनन्द लेना और रोना यह भी प्राणमय पुरुष का कार्य है, मनोमय का नहीं।

पर आप जो मुख्य बात पूछना चाहते हैं, वह यह है कि आत्मा का इससे क्या सम्बन्ध है ? आत्मा तो असल में बलवान ही है, वह निर्बल नहीं हैं फिर भी हम 'निर्बल आत्मा' यह शब्द एक विशेष अर्थ में बोलते हैं। जिस मनुष्य का आत्मा (अन्तरात्मा, हृत्पुरुष) अपने मन, प्राण, शरीर पर अपना प्रभाव नहीं डाल पाता तो उसे हम निर्बल आत्मा कहते हैं, कह सकते हैं। यह वह अवस्था है जहां आत्मा विकसित नहीं हुआ, आगे नहीं आया या नेता नहीं बना। इसलिए मन के निर्बल होने से आत्मा निर्बल होता है, यह ठीक नहीं है। बल्कि आत्मा के बलवान होने से मन भी—और फिर क्रमशः प्राण भी, शरीर भी— बलवान, अपनी अपनी सामर्थ्य से युक्त होते हैं, वही ठीक है। स्थूल शरीर (अन्न) के अन्दर प्राण है, प्राण के भी अन्दर भी मन है, मन के भी अन्दर आत्मा (अन्तरात्मा) है। अंतर्मुख होने से, अन्दर का प्रकाश बढ़ने से धीरे धीरे अन्न, प्राण, मन के प्रदेश उनके बहुत से विभाग उनकी क्रिया-प्रतिक्रियाएँ साफ साफ दीखने और समझ में आने लगती हैं। उनके भी पीछे आत्मा है। योग में इस आत्मा को आगे लाने का यत्न होता है। आत्मा अपना प्रभाव मन, प्राण, अन्न, पर डाले ; अन्न, प्राण, मन का प्रभाव आत्मा पर नहीं पड़े। आत्मा मन, प्राण, शरीर का संचालक और वशीकर्ता बने ; अन्न, प्राण, मन आत्मा को चलाने वाले या दबाने वाले न रहें, ऐसा यत्न होता है। सो रोने वाला या बहने वाला आत्मा नहीं होता, अन्तः पुरुष नहीं होता।

रोने वाला तो प्राण-पुरुष है, आवेशों या भावों में बहने वाला भी प्राण पुरुष है, विचार धारा में बहने वाला मनोमय पुरुष है, अन्तःपुरुष नहीं। जिस मनुष्य का यह अन्तःपुरुष भगवान के पाने की अपनी अभीप्सा में प्रदीप्त होकर अपने मन प्राण शरीर पर प्रभाव, दबाव डालने लगता है, वही मनुष्य योगमार्ग का अधिकारी हो जाता है।

प्राणमय में विषयों का आनन्द लेने की कभी निम्नगामी लहर आती है तो कभी जिसे आप पश्चात्ताप कहते हैं, उसकी ऊर्ध्वगामी लहर भी आती है। मन को डांटना, फटकारना या प्रेम से समझाना—यह सब भी होता रहता है। जिनका आत्मा जाग चुका है, उनमें भी ये क्रियाएँ होती हैं पर उनमें ये क्रियाएँ आत्मशुद्धि की प्रक्रिया के तौर पर चलती हैं। इनके होते रहने से घबराना नहीं चाहिए। अपने लक्ष्य की तरफ दृढ़ विश्वास के साथ लगे रहना चाहिए। ये क्रियाएँ तब तक जारी रहेंगी जब तक कि प्राण और मन की विशुद्धि नहीं हो जायेगी। प्राण की पूरी विशुद्धि में तो बहुत ही देर लगती है।

3. पूरा मन (अदिति, नवम्बर 1945)

प्रश्न---एक स्थान पर 'अदिति' में लिखा है कि जब हम किसी वस्तु को चाहते हैं और उसे प्राप्त नहीं कर पाते तो उसका मनोवैज्ञानिक कारण यह होता है कि हम आधे मन से उसकी तलाश करते हैं। शेष आधा मन विपरीत वस्तु की तलाश करता रहता है। उस आधे मन की भी समझ नहीं आती।

उत्तर—यह ठीक है कि पूरे मन से हम जो चाहेंगे, वह अवश्य प्राप्त होगा। पूरे मन का अर्थ है - मन के सब भागों से तथा प्राण के भी सब भागों से बल्कि अन्तःदेह से भी। 'पूरे मन' का योग की भाषा में पूरा पूरा अर्थ यह है।

आधे मन की बात इसलिए समझ में नहीं आती क्योंकि हम लोग साधारणतया मन की ऊपरी सतह को ही और केवल उस समय की सचेतन सतह को ही जानते हैं। बाकी सारे मन से अनभिज्ञ रहते हैं। मन की ऊपरी सतह के नीचे क्या-क्या भरा है, क्या क्या हो रहा है, उसे नहीं देख पाते। मन में प्रकाश लाने द्वारा हमें अपने मन से पूर्ण रूप में अभिज्ञ, सचेतन होना है।

4. प्राण की इच्छाएँ (अदिति, अप्रैल 1945)

प्रश्न - योगिराज श्री अरविन्द जी महाराज की 'योग के आधार' नामक पुस्तक देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। महाराज की पुस्तकों में मन, प्राण और शरीर का जगह-जगह वर्णन मिलता है। जैसे—

1.—"तुम जब तक वस्तुओं को स्थिर मन और प्राण से देख न सको तब तक अपने आपको छोड़कर किसी दूसरे के विषय में कोई राय कायम न करना अत्युत्तम है।"

2.—"प्राण पर आत्मसंयम रखना और भौतिक पदार्थों के विषय में उचित नियम रखना—ये अवश्य इस योग के मुख्य अंग हैं।"

3.—जिस बात से छुटकारा पाना है, वह है प्राणगत इच्छा और आसक्ति।"

4.—"प्राणमय आदान-प्रदान के द्वारा एक प्रकार का सूक्ष्म प्राणमय उपयोग होता है, प्राणों में ही आसक्ति, इच्छा और कामना का वास है। यहां स इसे निर्मूल करने की आवश्यकता है।"

मतलब यह है कि मन की ही तरह प्राणों का भी बार-बार वर्णन है। यह देखकर प्राणों के विषय में जानने की जिज्ञासा होती है। आपकी 'वैदिक विनय' में भी आया है कि प्राण में इच्छा का स्थान है पर वहां भी कुछ खोला नहीं है। सो आपसे विनय पूर्वक प्रार्थना है कि ये प्राण की आसक्तियां, इच्छाएं, कामनाएं क्या हैं—यह बतलाने की कृपा करें। मैं तो अब तक यही जानता था कि इच्छा, कामना मन के अन्दर रहती है। पर अब जाना कि प्राण में भी इनका स्थान है। यह क्या बात है?

उत्तर—हम साधारण भाषा में 'मन' शब्द को बहुत विस्तृत अर्थों में बोलते हैं। वैसे भी मनुष्य मनोमय प्राणी है। अतः वह अपने हरेक व्यापार को मनोमय रूप ही दे देता है। पर असल में वैज्ञानिक रूप से, और मेरा 'विज्ञान' कहने से मतलब इस योग विज्ञान या अध्यात्म विज्ञान से ही है, मन में और प्राण में बहुत भेद है। और जो तुम्हारे जैसा व्यक्ति योग या अध्यातम मार्ग में प्रविष्ट होना चाहता है, उसे तो मन और प्राण के भेद को अवश्य और अच्छी तरह जान लेना चाहिए।

अन्न तत्व और मनस्तत्त्व के बीच में जो तत्व है, वह प्राणतत्व है। यों समझो कि हमारे अन्नमय शरीर (स्थूल भौतिक शरीर) के और हमारे मनोमय शरीर के बीच में प्राण का प्राणमय शरीर है। प्राण मन की अपेक्षा स्थूल है और अन्न की अपेक्षा सूक्ष्म है। अन्न जड़ है पर प्राण में जड़ता नहीं है, यद्यपि उसमें मन जैसी सूक्ष्म चेतनता भी नहीं है। प्राण का मन से तथा दूसरे तत्वों से भेद तो अन्तर्मुख होकर अन्दर के तत्वों पर ध्यान देकर देखने का अभ्यास करने से तुमको प्रतीत होगा परन्तु इसका वर्णन भी इसके पहचानने और अनुभव करने में सहायक होगा अतः मैं अपनी समझ के अनुसार प्राण का वर्णन कर रहा हूँ।

प्राण को हम जीवन करके समझते हैं। वह ठीक है। जीवन जीवित अवस्था, जीवन की हलचल प्राण से ही होती है। श्वास-प्रश्वास में जो प्राण के संचार का अनुभव होता है, जीवित शरीर की जो सब चेष्टाएं प्राणापानादि दश प्राणों से होती हैं, वह तो स्थूल प्राण है, बिलकुल भौतिक प्राण है। असली प्राण जोकि जीवन रूप है, वह एक ऐसी तरह की वस्तु है जिसमें इच्छाएं, संवेदन, अनुभव, आवेग आवेश, उद्वेग आदि की तरंगें उठती हैं। सब भावों का (जिन्हें अंग्रेजी में Emotions कहते हैं) उद्भव स्थान यही है। एक तरह से भावों के तीन भेद किये जाते हैं—अनुभव के भाव जैसे सुख-दुःख आदि; क्रिया के भाव जैसे कुछ करने की इच्छाएं, प्रवृत्ति या प्रेरणा के भाव और असली भाव जैसे प्रेम, भक्ति, दया, वीरता

आदि के भाव। जैसे प्राण का मतलब जीवन देने वाली वस्तु है, वैसे भाव का अर्थ भी सत्ता देने वाला, होने वाला अर्थात् जीवन ही है। प्राण को तरल सी चीज मैंने इसलिए कहा है क्योंकि यह भौतिक जड़ तत्व (अन्न) की तरह कठोर नहीं है किंतु अपने आकार बदल सकने की बहुत क्षमता रखने वाली अतएव अपेक्षया अधिक स्थायी और जीवित रहने वाली वस्तु है। जहां विशाल और शुद्ध प्राण में प्रेम, श्रद्धा दया, वीरता आदि के सनातन भावों की तरंगें उठती हैं, वहां क्षुद्र निम्न प्राण में काम, क्रोध, लोभ, आदि के विकारी भाव उठते हैं। ये सब भाव, आवेग यद्यपि उठते प्राण में ही हैं पर ये मन पर भी प्रभाव डालते हैं और हम बहुधा इन्हें मन में ही उठते अनुभव करते हैं क्योंकि चेतना के उपरितल पर मनोगत और प्राणगत वस्तुएं सब एक दूसरे में मिली जुली आकर दीखती हैं।

जैसे प्राण प्रकृति की वह शक्ति है जिसका इच्छाओं, कामनाओं और सब भावों से सम्बन्ध है वैसे मन वह शक्ति है जिसका समझने विचारने, मानसिक देखने, विचार की क्रिया और प्रतिक्रिया करने, मानसिक आकार बनाने आदि से सम्बन्ध है। मन और प्राण का फर्क तब मनुष्य आसानी से देख पाता है, अनुभव करने लगता है जब किसी बात को वह विचार से तो ठीक समझता है अतएव उस पर अमल भी करना चाहता है पर वह अपनी इच्छाओं, आसक्तियों, पुरानी आदतों के कारण उस पर अमल नहीं कर सकता। यह इसीलिए होता है कि प्राण साथ नहीं देता। ऐसा बहुत देखा जाता है कि कई लोग मन से तो भगवान को पाने की और योगमार्ग का अवलम्बन करने की आवश्यकता समझते हैं, इसमें प्रवृत्त भी होते है पर प्राण की वजह से उन्हें बहुत मुश्किल पड़ती है। उनका प्राण इसे स्वीकार नहीं करता। वह अपनी इच्छाओं, भावावेशों के रास्ते पर ही चलना चाहता है। मन भगवान को चाहता है परन्तु प्राण साधारण दुनियावी जीवन के प्रति आकर्षण व राग आसानी से नहीं छोड़ना चाहता।

तुम पूछते हो कि प्राण से इच्छाओं और आसक्तियों को कैसे हटाया जाय? प्राण से ऊँची शक्ति जो मन है, मन से भी ऊपर उच्च मन, ऊर्ध्व मन, विज्ञान आदि हैं, उनके बल से इनको हटाना चाहिए।

तुम यह देखो कि वृक्षों में तो केवल भौतिक जीवन है, उनमें प्राण और मन विकसित नहीं हुआ है। पशुओं में भौतिक जीवन के साथ प्राणमय जीवन भी विकसित हुआ। पशुओं में स्वभाविक इच्छाएँ, काम क्रोध आदि वासनाएँ, प्रेम आदि भाव तो होते हैं पर वे मनुष्य की तरह मनन, चिन्तन, विचार आदि नहीं कर सकते हैं। पर मनुष्य में मन भी विकसित हुआ है तथा उसे मन से भी ऊंचे तत्वों के विकास की संभावनाएं प्राप्त हुई हैं। तो मनुष्य-जन्म पाकर प्राणों की निम्न गतियों को, अज्ञानपूर्ण इच्छाओं और काम क्रोध आदि विकृत भावों को तो त्यागना ही चाहिए।

प्राणगत इच्छाओं को हटाने का उपाय यही है कि पहले तो अन्तर्मुख होकर

अपने अन्दर की अवस्थाओं से अच्छी तरह परिचित हुआ जाय, फिर विशाल और शुद्ध प्राण में (अपने क्षुद्र, मलिन और निम्न प्राण में से निकलकर) प्रविष्ट होने का यत्न किया जाय, अपने को अपने क्षुद्र प्राण की एकात्मता से हटाकर, उससे जुदा होकर इन अनात्मीय इच्छाओं, काम-क्रोधादि भावविकारों को ऊपर की शक्तियों के द्वारा, अपने संकल्प द्वारा तथा भगवान की प्रार्थना और उनकी कृपा का सहारा लेकर हटाया जाय। बार-बार ऐसा यत्न करने से अभ्यास बढ़ता है और इसी प्रकार धीरे धीरे प्राण के भी सब मल दूर किये जा सकते हैं। पर यह काफी कठिन काम है। शायद प्राणमय भूमिका जितनी कठिनाई उपस्थित करती है, उतनी मनोमय भूमिका में नहीं होती। अस्तु।

उपनिषदों में तो प्राणों का बहुत वर्णन है, प्राणों की बड़ी महिमा बताई गई है। सभी कोषों का विस्तृत वर्णन है। अथर्ववेद का प्रसिद्ध प्राण-सूक्त बहुत ही अद्भुत और ज्ञानपूर्ण है। जो असली प्राण है; शांत, शुद्ध और विस्तृत (व्यापी) प्राण है, वह तो सब शक्ति का और संपूर्ण जीवन का भण्डार है। इसकी महिमा नाना रूप से वेदों में गाई गई है।

श्री अरविन्द की 'योग प्रदीप' पुस्तक के 'आधार के लोक और अंग' वाले अध्याय में भी प्राण, मन आदि तत्वों का जुदा जुदा बहुत उत्तम वर्णन है।

5. मन योग का उपयुक्त साधन कैसे बने ? (अदिति, अगस्त 1948)

प्रश्न—श्री अरविन्द के एक पत्र में कहा गया है—"केवल तीन रास्ते हैं जिनसे यह (मन) परम सत्य का माध्यम या यंत्र बन सकता है।" यद्यपि आगे ये तीन रास्ते अति संक्षेप में बताये भी गये हैं पर वे अच्छी तरह समझ में नहीं आते। इन्हें जरा विस्तार से समझाने की कृपा करें।

उत्तर—पत्र का जो वाक्य आपने उद्धृत किया है, उससे पहले के भाग में श्री अरविन्द ने इस बात पर बल दिया है कि मन, मानसिक विचार या मानसिक क्रिया अपने आपमें, अपने बल से परम सत्य को पाने में, कोई भी सत्य अनुभूति प्राप्त करने में अर्थात् वास्तव में योगारूढ़ होने में ही असमर्थ है, अशक्त है। तो प्रश्न होता है कि फिर क्या करना चाहिए ? मन को अपने साथ रखते हुए हम कैसे योगारूढ़ हो सकते हैं ? इसके उत्तर में श्री अरविन्द ने कहा है कि मन सम्बन्धी तीन रास्ते हैं जिनसे यह हो सकता है। पहला रास्ता यह है कि मन इतना शांत हो जाय, आत्मगत होकर इतना प्रशांत हो जाय कि उच्चतर चेतना को आने का अवकाश मिल जाय। मन की चंचलता, अशांति के कारण उच्चतर और विशालतर (अधिक ऊंची और अधिक विस्तृत) चेतना हमारे अन्दर नहीं आ पाती है। अतः मन के निश्चित रूप से, अनिवार्य रूप से प्रशांत होने पर उच्चतर चेतना को आने का और स्थिर होने का अवकाश मिल जाता है और उस उच्चतर चेतना में वे परम सत्य या सच्ची अनुभूतियां आ सकती हैं जिन्हें मन स्वयं नहीं ग्रहण कर

सकता। दूसरा मार्ग यह हो सकता है कि मन किसी तरह आन्तर प्रकाश के लिए निष्क्रिय हो जाय, निष्प्रतिरोध हो जाय। मन अपनी निजी सक्रियता छोड़ दे और उस प्रकाश के प्रति निष्प्रतिरोध हो जाय तो वह आन्तर प्रकाश हमारे मन को अपने हाथ में ले लेगा, अपना उपकरण बना लेगा। पहले उपाय में मन की शांति पर जोर है, दूसरे में मन के निष्प्रतिरोध होने पर। पहले में मन आत्मगत और शांत किया जाता है जिसका फल यह होता है कि ऊंची चेतना स्वयंमेव सावकाश हो जाती है। दूसरे में मन को आन्तर प्रकाश के लिए निष्प्रतिरोध किया जाता है जिससे कि वह प्रकाश मन को अपना साधन बना लेता है। मन की दृष्टि से, पहले में मन का शांत होना अभिप्रेत है, दूसरे में मन का आन्तर प्रकाश के लिए साधन बन जाना। और, तीसरे में मन के स्वरूप को ही बदल देना होता है। इसमें मन अपने वर्तमान स्वरूप – संदेहशील, तर्कपरायण, उथले स्वरूप को बदलकर अन्तर्ज्ञान, अन्त:स्फुरणा, अन्तर्दृष्टि से युक्त नये प्रकार का मन—सब कुछ स्पष्ट देखने वाला, सीधा ज्ञान पाने वाला और विशाल बन जाएगा। सो ऐसा मन सत्य को सीधा ग्रहण करने के योग्य होगा। ये एक से एक बलवत्तर मार्ग हैं।

तात्पर्य यह कि अपनी-अपनी अवस्था या प्रकृति के अनुसार प्रत्येक को इनमें से किसी न किसी मार्ग से मन का एक प्रकार का अतिक्रमण करना होगा, तभी वह इस योग की साधना करने में अग्रसर हो सकेगा। एवं अन्त में ये तीनों रास्ते एक हो जाते हैं।

6. रोग का परित्ययाग (अदिति, अगस्त 1948)

प्रश्न - 'मातृवाणी' में माता जी का एक वचन है—'शरीर को चाहिये कि वह रोग को वैसी ही प्रबलता के साथ त्याग दे जैसे कि हम मन में से झूठ को त्यागते हैं।' रोग की चिन्ता न करना, हाय हाय न करना, दु:ख-दर्द की तरफ से दृष्टि हटाये रखना अथवा उसे खुशी से सहन करना यह समझकर कि कोई कर्मफल है—'वाह, वाह ! पाप किये हुए का कर्जा उतर जाएगा' या यह समझकर कि 'प्रभु ने इसी में मेरा आगामी मंगल रखा होगा'—यह सब तो किया जा सकता है पर यह समझ में नहीं आया कि झूठ की तरह उसे शरीर त्याग दे। जिसे कोई असाध्य कष्ट जैसे दमा, भगंदर है या अकस्मात् चोट लगने से जिसकी टांग या बाजू टूट गया है और वह प्रबल पीड़ा से ग्रस्त है, वह उसे कैसे त्याग सकता है ? कृपया इस पर प्रकाश डालिएगा ?

उत्तर— जैसे मन को शांत रखने के विषय में लोगों को श्री अरविन्द की यह बात प्राय: समझ में नहीं आती कि 'विचार बाहर से आते हैं, अन्दर से नहीं उठते।' वैसी ही यह बात भी है। अन्दर आत्मा की दृष्टि से देखें तो शरीर में रोग भी बाहर से आता है, अन्दर से नहीं आता। यह बात जब अनुभव में आ जाएगी, तभी रोग के परित्याग करने की बात भी समझ में आ जाएगी और इसे क्रियात्मकतया किया भी जा सकेगा।

आत्मा आमय, रोग, पीड़ा, दर्द से अस्पृष्ट है, नित्य मुक्त है। अतः आत्मा का प्रभाव शरीर ग्रहण करेगा तो शरीर में कोई रोग, दर्द नहीं आ सकेगा, आवेगा भी तो वह ठहर नहीं सकेगा। यह बात जान लेनी, समझ लेनी, अनुभव कर लेनी चाहिए। आत्मा के सत्य के प्रभाव में शरीर निरामय, नीरोग, ठीक ठीक अपना कार्य करने वाला, समर्थ होगा। उसके सामने सब रोग, बीमारी, पीड़ा असत्य हैं, मिथ्या हैं। सब रोग शारीरिक झूठ हैं। उन्हें आत्मा सहन नहीं करेगा। आत्मा के प्रकाश के सम्मुख सब रोग, बीमारी, पीड़ा अन्धकार हैं. छाया हैं। ये आत्मा के जागते हुए ठहर नहीं सकते। यह है ठीक वृत्ति जिसे दृढ़ करना चाहिए। इसीलिए वेद में तो रोग को हमेशा पाप, असत्य, बुराई कहा गया है और वेद में, विशेषतया अथर्ववेद में, रोग को अयोग्य वस्तु की तरह त्याग देना, हटा देना, निकाल देना है, इस प्रकार का बहुत स्पष्ट वर्णन भी जगह-जगह आता है। रोग के विषय में वही ठीक धारणा है जिसे हमें अपनाना चाहिए।

रोग की चिन्ता नहीं करना, हाय हाय नहीं करना, उधर से वृत्ति हटाना— यह तो करना ही चाहिए। यह तो प्रारंभिक बात है। पीड़ा, कष्ट को सहन करना भी ठीक है, यह मानकर कि अभी मेरी ऐसी ही अवस्था है, इसे एकदम हटाने की शक्ति नहीं है, धीरे-धीरे ठीक होगा, इस प्रकार धैर्य, समचित्तता और शांति के साथ कष्ट के समय को व्यतीत करना। पर रोग को ठीक वस्तु, योग्य वस्तु कभी नहीं मानना चाहिए। वेद की भाषा में 'रोग पाप है' यह समझकर, रोग को सदा त्याज्य समझकर उससे अन्ततः रहित होना, मुक्त होना है, यह भाव रखना चाहिए। रोग से किसी प्रकार की (छिपी हुई) आसक्ति, प्रीति बहुत हानिप्रद है। अतः रोग को सहन करने का अर्थ उसके साथ कोई लगाव कदापि नहीं होना चाहिए।

और आध्यात्मिक दृष्टि से कोई रोग असाध्य नहीं माना जा सकता। अध्यात्म—दृष्टि में रोग की सुसाध्यता या दुःसाध्यता भी आम लोगों की दृष्टि से बहुत भिन्न होती है। जैसे कि दमा (श्वास) अध्यात्म-दृष्टि से बहुत सुसाध्य हो सकता है, एक दिन में समाप्त हो जाय यह बहुत सम्भव है। इसी तरह भगंदर भी आसानी से बहिष्कृत किया जा सकता है। सारी बात यह है कि हम उस बीमारी से अपने को पृथक् अनुभव कर सकें। पर हम तो समझते हैं कि बीमारी हमारे शरीर में है, हमारे शरीर की है, शरीर में उत्पन्न हुई और वहां जमी हुई है। बीमारी हमारी नहीं है, हमारे शरीर की भी नहीं है, यह बिल्कुल विजातीय वस्तु है, बाहरी है, हमारा शरीर इसका स्थान नहीं हो सकता। हमारा शरीर (अन्नमय आत्मा) इसे स्वभावतः हटावेगा, रहने नहीं देगा, यह बात समझ में आ जानी चाहिए, दीख जानी चाहिए। तब बहुत से असाध्य से दीखने वाले रोगों का भी थोड़ी देर में ही चामत्कारिक पलायन हो जा सकता है। हां, हड्डी टूट जाना बेशक ऐसा रोग है जो कि धीरे-धीरे देर में ठीक होगा। क्योंकि इसका सम्बन्ध शरीर के अधिक

कठोर, स्थूलतम या जड़तम भाग के साथ है। तात्पर्य यह कि पाचन क्रिया, श्वास क्रिया, हृदय क्रिया आदि पर आत्मा का प्रभाव पड़ना सरल है, हड्डी पर, जोड़ों पर, अंगों की स्थूल रचनाओं पर बहुत कठिन। इन अंगों की जड़ता उस प्रभाव को ग्रहण करने में प्रायः अशक्त होती है।

7. प्रणों के बोझ से दबा हुआ (अदिति, अगस्त 1949)

प्रश्न---मैंने समय समय पर कुछ प्रण लिये। जब जब कोई विशेष भाव पैदा हुआ, तब तब नया प्रण लेता गया। इस प्रकार से 36 प्रण ले चुका हूँ। पर मैं दुःखी हूं क्योंकि मेरे प्रण टूटते रहते हैं। अब सैंतीसवां अन्तिम प्रण मैं यह भी ले चुका हूँ कि अब और कोई प्रण नहीं लेना है। मैं अधीर हो जाता हूं कि इस जीवन में मैं सफल भी हो सकूंगा या नहीं। यह जीवन ऐसे ही चला जाएगा ? मैं सदा यत्न करता हूँ पर मेरे प्रण ज्यों के त्यों टूटते रहते हैं। मुझे क्या करना चाहिए ? मैं बड़ी परेशानी में हूं।

उत्तर—यह तो आप जानते ही हैं कि प्रण प्रणों के लिए नहीं होते बल्कि जीवन-विकास की एक अवस्था-विशेष में साधन मात्र होते हैं। आपको अब यह अनुभव करना चाहिए कि उस अवस्था-विशेष से आप यदि ऊपर उठ नहीं गये हैं तो ऊपर उठ अवश्य रहे हैं। इसीलिए प्रण अब आपको बोझ लगने लगे हैं। और इसीलिए आप अब इसके लिए बाध्य हुए हैं कि आगे कोई और नया प्रण न लेवें। आपका ऐसा करना ठीक ही है।

'प्रण' की सहायता सब इस बात में होती है कि जब हम एक बार प्रण ले लेते हैं तो फिर हमें उसे पूरा करना जरूरी हो जाता है इसलिए जहां उस अवस्था-विशेष से नीचे के लोगों के लिए—जो लोग कि प्रण को पूरा करने का ही कुछ महत्व नहीं मानते, प्रण लेकर भी उन्हें आराम से तोड़ देते हैं—'प्रण लेना' उन्नति में सहायक नहीं होता, वहां उस अवस्था-विशेष से ऊंचे उठे हुए लोगों के लिए भी प्रण लेना कुछ सहायक नहीं रहता। जो लोग यह जान जाते हैं कि असल में पूरे अर्थ में प्रण पूर्णता के साथ सम्बन्ध रखता है, जब तक मनुष्य पूर्ण नहीं हो जाता तब तक वह किसी एक तथाकथित प्रण को भी पूरी तरह निभा नहीं सकता। इसलिए ऐसा पुरुष—उस अवस्था-विशेष से ऊपर उठा हुआ पुरुष—प्रण का दबाव डालकर किसी बाह्य आचार में पूर्णता लाने के तरीके को ही हितकर नहीं समझेगा। बहुत सम्भव है कि वह ऐसा अनुभव करने लगे कि अपने एक प्रण को पूरा करने की कोशिश से उसके आत्मा के सर्वांगीण विकास में बाधा पहुँचती है। मुझे प्रतीत होता है कि आप भी ऐसी ही स्थिति में पहुँच गये हैं।

सो आपको मेरी सलाह यह है—

1. पहले तो आप अपने इन प्राणों को प्रण समझना छोड़ दीजिए। इन्हें अब आप जीवन के संचालक नियम समझिये। आपका प्रणों का समय समाप्त हो

चुका है। प्रणों को पूरा करने की बेचैनी या इनके टूटने का भय अब आपके जीवन को संचालित करने वाली प्रेरणाएं नहीं रहनी चाहिए। इनके स्थान पर अब आपको यह देखना चाहिए कि आपकी अन्दर की अवस्था इन नियमों या प्रणों को पूरा करने के लिए अधिकाधिक अनुकूल होती जा रही है या नहीं। उस प्रण के, बाह्य आचार के पूरा होने पर ध्यान कम करते जाइये। उदाहरण के लिए, क्रोध में आकर आपने कुछ बोल दिया या थप्पड़ मार दिया। अब आप देखिये यह कि उस अवस्था में आप कितने आत्मस्थ रह सके, अपने आपमें रह सके। आप आत्मच्युत क्यों हुए ? शांत होकर यह विचार आपके लिए अधिक लाभदायक है, न कि प्रण टूटने का पश्चात्ताप।

2. इन 36 जीवन संचालक नियमों पर अब इकट्ठा जोर देने की भी आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। बारी बारी से एक-एक दो-दो पर जोर दीजिये, बाकियों को गौण रखिये। ऐसा करने से, मेरी समझ में, इन नियमों द्वारा आपकी उन्नति अधिक अच्छी तरह साधित होगी।

सबसे अच्छा तो यह है कि आप ऐसा भी कुछ नियम-क्रम न रखें किन्तु स्वाभाविकतया जब जिस बात की कमी अनुभव हो या यों कहें जब आत्मा की तरफ से जिसकी स्वाभाविक अभीप्सा उठे, तब उस नियम पर कुछ समय तक जोर दीजिये। पर शायद अभी ऐसा करना आपके लिए अनुकूल न होगा। तो बारी बारी से कुछ दिन के लिए—जैसे एक दिन, तीन दिन या सप्ताह के लिए—एक-एक नियम का विशेष ध्यान रखिये। औरों का साधारण ध्यान रखिये।

3. तीसरी बात यह है कि अब इन नियमों की गिनती का भी कुछ महत्व नहीं रहना चाहिए। आवश्यकता होने पर आप इन्हें बढ़ा भी सकते हैं (बढ़ने से अब बोझ नहीं बढ़ेगा) और तत्त्वतः घटा भी सकते हैं। मुख्य बात यह है कि इन नियमों का परस्पर सम्बन्ध है, ये जुदा जुदा नहीं हैं। ये सब आत्मा के विकास के लिए हैं, इन सबको जोड़ने वाली आपकी आत्मा है। इसलिए यदि कभी आपकी आत्मा अपनी तत्कालीन अवस्थानुसार कोई नियम बढ़ायेगी तो उससे आपका बोझ नहीं बढ़ेगा बल्कि आनन्द बढ़ेगा, एक प्रकार की समृद्धि होगी। पर साधारणतः प्रवृत्ति तत्वतः इन्हें घटाने की होगी। क्योंकि ज्यों-ज्यों आपको इन नियमों में सम्बन्ध अधिकाधिक दिखाई देगा त्यों-त्यों सम्बद्ध नियमों को आप जुदा जुदा रखने के स्थान पर उन सबको एकत्वमय समझना पसन्द करेंगे। यह ज्ञान के बढ़ने का चिह्न होगा। मेरी समझ में आपके ये 36 नियम (37 वां नियम तो स्वयं हट जाएगा, उसका अब कुछ मतलब नहीं रहा) पांच या चार नियमों में आ सकते हैं—जैसे प्रेम या सर्वत्र आत्मदर्शन में, सत्य में, आत्म-स्मरण के अभ्यास में, आत्मस्थ रहने के अभ्यास में और ब्रह्मचर्य में। वैसे ब्रह्मचर्य भी आत्मस्थ रहना ही तो है।

मैंने जो यह वर्गीकरण किया है, उसे आप केवल नमूने के तौर पर समझें। आप जैसा ठीक लगे, वैसा वर्गीकरण कर सकते हैं। प्रणों की संख्या कम होनी चाहिए क्योंकि ये परस्पर सम्बद्ध हैं। इन्हें जुदा जुदा असंबद्ध समझने से ही इन्हें सम्भालना मुश्किल होता है जैसे कि बिखरे हुए मनके सम्भलते नहीं किन्तु यदि उन्हें एक दो सूत्रों में पिरोकर एक दो मालाएं बना ली जायें तो वे सब संभल जाते हैं। अन्त में तो ये सब नियम एक सूत्र में—आत्मा रूपी एक सूत्र में – पिरोये जाकर एक माला बन जायेंगे, एक हो जायेंगे। आपको एक ही नियम, एक ही प्रण पालन करने को रह जाएगा। वह होगा—सदा आत्मा में जागृत रहना।

8. विकार को जीतने की प्रक्रिया

प्रश्न—एक स्थान पर 'अदिति' में लिखा है कि साधक के मन में विषय-विकार उत्पन्न होते हैं तो उनके जीतने के दो उपाय हैं। एक तो 'विरोधी गुण को उसके स्थान पर बिठलाने से किन्तु यह शैली कठिन है, धीमी है, उनके बीज तक नष्ट नहीं कर सकती।' दूसरा उपाय है—विकार को भोग भोगने देना, जब वह अतिभोग के द्वारा तृप्त और शांत कर दिया जाता है तो वह दुर्बल और जर्जरित शक्ति वाला हो जाता है। उसके पश्चात् एक प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है जो कुछ समय के लिए विरोधी शक्ति, प्रवृत्ति या गुण को स्थापित कर देती है। पहली विधि तो सब गुरू-शिष्य बताते और कहते कराते हैं मगर दूसरी विधि जो जंचती तो पूरे सोलहों आने ठीक है किन्तु उसमें दो उलझनें खड़ी हो जाती हैं। एक तो जब इतना भोग भोगेगा तो आप ही जीर्ण हो जाएगा बल ही न रहेगा। दूसरा उस साधक के लिए जबकि अभी जवानी है, विवाह नहीं किया, घर में कोई नहीं रहा, पहले गलतियाँ भी करता रहा, समझ आ गई, प्रभु-लगन लगी तो साधु बन गया तो विषयों ने जोर किया। रात दिन लड़ाई, रोना और बह जाना ही रहता है। या दूसरा आदमी जिसकी जवानी में ही स्त्री मर जाती है। तब समझ न थी फिर (अधेड़ अवस्था में) प्रभु की ओर लगा या वानप्रस्थी बन गया। अब उसे भी समय समय पर काम या मोह विषय तंग करता है और उसकी वही अवस्था होती है—वह कैसे करे? हां, खाने-पीने की चीजों का विकार उठे, तब तो मामूली बात है कि वह अपने को तृप्त कर लेवे किन्तु कामवृत्ति जैसा अजगर! उसके लिए भी यदि कोई गृहस्थी साधना कर रहा है, उसे तो सुगमता है। वह तो शायद तृप्त, शांत हो सके। एक संन्यासी, साधु, वानप्रस्थी के लिए तो इस विषय में तृप्ति असम्भव और अपना सब कुछ गंवाना ही है। कृपया इस पर पूरी रोशनी डालें कि मेरी समझ में नहीं बैठा या मैंने गलत समझा है?

उत्तर—आप जिस कथन की तरफ निर्देश कर रहे हैं, वह 'अदिति' में प्रकाशित हो रही 'कर्मयोगी' लेखमाला के छठे लेख में 'विकास की प्रक्रिया' में

वर्णन किया गया है। उस लेख में जो दूसरी क्रिया बताई गई है, वह संक्षेप में इस प्रकार है—पहले इस विकार को भोग द्वारा थकाना, फिर निग्रह द्वारा उस पर प्रभुत्व स्थापित करना और उसे कमजोर करना और फिर अन्त में उससे छुटकारा पाना। इसीलिए पहले तो यह ध्यान रखना चाहिए कि यह विधि केवल भोग की नहीं है किन्तु भोग, निग्रह और संयम एक के बाद एक होने वाली इन तीन क्रियाओं से मिलकर बनी है। उस लेख में भी बताया गया है कि भोग और प्रतिक्रिया की यह विधि भी प्रकृति की एक प्रिय और सार्वभौम विधि है परन्तु यह अपने में कभी भी पूर्ण नहीं है—आत्मप्रभुत्व की दृष्टि से व्यर्थ और अनिर्णायक है। यह विधि केवल तभी प्रभाव जनक हो पाती है जबकि इसके बाद संयम का प्रयोग किया जाता है। दूसरी बात यह है कि यह विधि कोई नई नहीं है। यह भी उतनी ही सामान्य है जितनी कि विरोधी गुण को उसके स्थान पर बैठाने की पहली विधि है। ये दोनों ही विधियां प्रकृति की सामान्य शैलियां हैं। दोनों से प्रकृति अपना कार्य कर रही है। पहली विधि, विरोधी गुण को उसके स्थान पर स्थापित करने की शैली के विषय में तो उस लेख में भी लिखा है कि यद्यपि यह धीमी है तो भी यह प्रकृति के साधारण तरीकों में से हैं और अधिकतर इस उपाय के द्वारा ही, जिसे कि बहुधा अनजाने या थोड़ा बहुत जाने हुए प्रयुक्त किया जाता है, मनुष्य का चरित्र एक जीवन में या एक जीवन-काल की अवधि में भी बदलता और विकसित होता है। अर्थात् इस प्रकार पहली विधि का महत्व भी इस लेख में बताया गया है। पर जैसे वह एक प्रकृति की विधि है, उसी प्रकार वह दूसरी भोग और प्रतिक्रिया की विधि भी प्रकृति की एक सार्वभौम विधि है। यह कोई नई चीज नहीं है। सांख्य और योग-दर्शन में प्रकृति को जो भोग और अपवर्ग के लिए बताया गया है, वह यही बात है। इन दर्शनों में बार-बार कहा गया है कि भोग का अधिकार समाप्त होने पर ही अपवर्ग मिलता है। प्रकृति भोग कराती है। जब उसकी प्रतिक्रिया होती है तो अपवर्ग (मोक्ष) दिलाती है। प्रकृति ही ये दोनों कार्य कराती है। इसी तरह आर्य आश्रम व्यवस्था का आधार भी यही भोग और प्रतिक्रिया का सिद्धान्त है। ब्रह्मचर्य आश्रम में ठीक भोग के लिए सामर्थ्य संग्रह किया जाता है, गृहस्थ में भोग किया जाता है, प्रतिक्रिया होने पर वानप्रस्थ में निग्रह किया जाता है और संन्यास में संयम द्वारा सिद्धि प्राप्त की जाती है। यही विकास का सामान्य नियम है। प्रकृति माता इसी नियम से मनुष्य को जन्म जन्मान्तर में विकसित कर रही है। इसी नियम के अनुसार आर्य धर्म ने मनुष्य के लिए इस प्रकार की आश्रम व्यवस्था बनाई और यह विधान रखा कि सामान्यतया प्रत्येक मनुष्य को इन चारों आश्रमों में से गुजरना चाहिए। जिन्हें इन सबमें से जरूरी न हो, वे थोड़े से अपवाद होते हैं।

आपने जो कहा है कि 'जब इतना भोग भोगेगा तो आप ही जीर्ण हो जाएगा, बलहीन रहेगा'—सो वह दूसरे प्रकरण की बात है। ऊपर कही विस्तृत दृष्टि से देखें तो यह प्रश्न नहीं उठता। 'भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता:' वाली बात तो उन लोगों के लिए है जो भोग के लिए भोग भोगते हैं, जिनका ध्येय भोग ही होता है। आर्य धर्म की मानव विकासकारिणी आश्रम शृंखला के अन्दर तो भोग भोग के लिए नहीं है, भोग अपवर्ग के लिए है, मोक्ष प्राप्ति का एक क्रम है। भोग उद्देश्य नहीं है, उद्देश्य है परमेश्वर प्राप्ति। भोग में रत होना—रमण, भोगेच्छा को रोकना दमन, ये दोनों ही चीजें मनुष्य के सामने आती हैं। इनके विषय में दो सिद्धान्त हैं जो दोनों ही अपने स्थान पर ठीक हैं। एक है गीता के वचन में—प्रकृति यान्ति भूतानि, निग्रह: किं करिष्यति। अर्थात् निग्रह करने से, दमन से काम नहीं चलेगा। दूसरा सिद्धान्त मनु के शब्दों में है—हविषा कृष्णवत्मेव भूय एवाभिवर्तते। अर्थात् इन्द्रियों को भोग भोगने देना अग्नि में आहुति डालना है जिससे विषयाग्नि बुझने के बजाय और अधिक बढ़ती है। ये दोनों ही सिद्धान्त ठीक हैं। यह मनुष्य के विकास की अवस्था पर या मनुष्य की तात्कालिक अन्त: स्थिति पर निर्भर करता है कि उस समय उस पर इन दोनों में कौन सा सिद्धान्त लागू होता है। जो मनुष्य अभी विकारों की दृष्टि से पाशविक अवस्था में है या अपनी स्थिति के कारण अन्धा हो रहा है, वह निग्रह की बात सुनेगा ही नहीं, सुनेगा भी तो ता उसे निभा नहीं पाएगा। दबाये विषय दुगने वेग से उसे आहत करेंगे और परास्त कर देंगे। दूसरी तरफ जो मनुष्य समझता हुआ भी विषयों के ध्यान को नहीं छोड़ेगा या अपनी कमजोरी या परिस्थिति आदि के कारण विषयों में रमण करता रहेगा, उसे कभी शांति नहीं मिलेगी। वह भोगों द्वारा भुक्त हो जाएगा। इसलिए जिसका उद्देश्य प्रभु की प्राप्ति है, वह रमण या दमन को यथास्थान करेगा। वह यदि स्वयं न समझ सकेगा तो दूसरे ज्ञानियों या गुरुओं की सलाह से निश्चय करेगा कि उसे अमुक अवस्था में रमण या दमन क्या करना है या कब रमण हानिकारक है। मुख्य बात यह है कि उसने जो कुछ भी करना है (रमण या दमन) वह अपने पवित्र ध्येय के लिए करना है, साधन के तौर पर करना है। रमण रमण के लिए, दमन-दमन के लिए नहीं है। जो ऐसा करेगा, उसे न रमण से हानि होगी, न दमन से। उसे न तो भोग भोग डालेंगे और न निग्रह घातक होगा। इस सब कथन से अब आपको शायद यह भी स्पष्ट हो गया होगा कि आपने इस दूसरी 'भोग और प्रतिक्रिया' की विधि को पूरे तौर से समझा नहीं था। यह एक व्यापक विधि है। जो मनुष्य वानप्रस्थी या संन्यासी बना है, उसका मतलब यह है कि वह भोग की अवस्था को पार कर चुका है और प्रतिक्रिया की अवस्था में निग्रह या संयम की प्रक्रिया में पहुँचा हुआ है। इसे और विस्तार से कहूँ तो यह बताना

होगा कि योग-दर्शन के अनुसार विकारों की चार अवस्थाएं बताई गई हैं—उदार विच्छिन्न, तनु और दग्धबीज कल्प। काम—क्रोध आदि विकार जब अपने पूर्ण वेग में होते हैं और लगातार खूब आते रहते हैं, तब उनकी 'उदार' अवस्था होती है। जब वेग कम हो जाता है और वे रुक रुककर कुछ कुछ समय बाद आते हैं तो वे विच्छिन्न अवस्था में हो जाते हैं। जब ये इतने क्षीण हो जाते हैं कि केवल संस्कार मात्र रह जाते हैं, तब ये 'तनु' कहलाते हैं। जब इनका संस्कार रूपी बीज भी दग्ध हो जाता है और ये विकार रूप में उग ही नहीं सकते, तब ये चौथी अन्तिम अवस्था में पहुंच जाते हैं, पूर्णतया नष्ट हो जाते हैं। काम विकार जब तक उदार रूप में उठता है, तब तक गृहस्थ में रहना चाहिए। जब विच्छिन्न हो जाये या तनु हो जाये तो वानप्रस्थ सेवन करें। वानप्रस्थ सपत्नीक होने का भी विधान है, अपत्नीक होने का भी। शायद विच्छिन्न अवस्था के काम विकार के लिए सपत्नीक वानप्रस्थ होना लाभदायक होगा। संन्यासी तब होना चाहिए जबकि विकार तनु या दग्धबीज हो जायें। कइयों के मत में संन्यासी होने का अधिकार विरलों का ही होता है और विकारों के दग्धबीज हो जाने पर ही होता है। मेरे गुरू अच्युत मुनि जी महाराज कहा करते थे कि संन्यासी हो जाने के बाद मन में एक बार भी राग-द्वेष का उपजना गो घात के बराबर पापजनक होता है इसलिए वे सन्यासी बहुत देर में मरणासन्न समय देखकर ही हुए थे। अस्तु। विकार की इन चार अवस्थाओं का वर्णन करने का मेरा अभिप्राय यह है कि विच्छिन्न और तनु अवस्था में तो विकार वानप्रस्थी में भी रह सकते हैं और उनका सूक्ष्म भोग भी कर सकता है पर स्थूल भोग का स्थान तो गृहस्थ ही है। जब तक काम इतना प्रबल हो, उदार हो कि मनुष्य उसे स्थूल रूप में ही भोगे बिना संतुष्ट न हो सके, तब तक उसे गृहस्थी ही रहना चाहिए। नियम यही है। पर जब इतना न रहे, प्राण में, मन तरंगों के रूप में उठे, अवचेतन में से उभरकर (प्राण मन को) तंग करता रहे, तब कुछ बात नहीं। तब उस वेग को निग्रह और संयम द्वारा धीरे-धीरे वशीभूत या निर्मूल किया जा सकता है और उसके लिए स्थूल भोग में पकड़कर गृहस्थी होने की जरूरत नहीं। वानप्रस्थी या संन्यास में रहता हुआ वह मन-प्राण के सूक्ष्म भोग को सहायक उपाय के तौर पर काम में ला सकता है।

आपने जो जवानी में साधु बने साधक का दृष्टान्त दिया है, वह विषय अब स्पष्ट हो गया होगा। ऐसे मनुष्य को यदि विकार उसके अन्दर सचमुच स्थायी तौर पर उठते हों तो गृहस्थी हो जाना चाहिए और अपरिपक्वावस्था में साधु संन्यासी होने की गलती को सुधार लेना चाहिए। पर यदि उदार अवस्था में न हो तो बिना घबराये अन्तःसंघर्ष जारी रखना चाहिए। उसमें यदि सूक्ष्म (मानसिक, प्राणिक) भोग भी करना पड़े तो उसका भी सहारा लेकर धीरे-धीरे विकार पर पूर्ण विजय प्राप्त कर लेनी चाहिए। पर मुख्य चीज है आंतरिक सच्चाई। अपने आपको धोखा

कभी नहीं देना चाहिए। अपने अन्दर की सच्ची अवस्था को ठीक-ठीक जानना, मानना और उससे संचेतन रहना चाहिए। यदि यह आंतरिक सच्चाई हो तो मैं कहूंगा कि उस साधक का मार्ग निष्कंटक है, उसे चाहे कितना उग्र रूप विषयों का दिखाई देता हो, वह उसे पार कर जाएगा। ऐसे जो सच्चे भाव से साधक बने हैं, उनके वेग (वे तात्कालिक रूप में चाहे कितने प्रबल मालूम होते हों) कुछ समय में स्वयमेव बैठ जाते हैं, विलीन हो जाते हैं। उन्हें केवल उतनी देर दृष्टा भाव का विशेषतया अवलंबन करना पर्याप्त होता है। उनके लिए स्थूल रूप से भोग भोगने की आवश्यकता समझना बड़ी भूल होगी।

विकार पर विजय पाने की अन्तिम प्रक्रिया आतमस्थ होकर उसका त्याग करना या आतम सम्बन्ध परित्याग रूप संयम है जो कि दोनों विधियों में अन्त में आवश्यक है।

संध्या

'आचार्य जी का गुरुकुल के ब्रह्मचारियों को एक उपदेश'—इस टिप्पणी के साथ यह लेख 'आर्य' के श्रावण 1990 अंक में प्रकाशित हुआ था। लेखक के रूप में नाम' आचार्य देवशर्मा जी' छपा है।

—सम्पादक

गत बार मैंने शान्ति निकेतन की विशेषताओं में पहली विशेषता उपासना के ढग की विशेषता कही थी। हमारी उपासना में मुख्य वस्तु संध्या है। अग्निहोत्र पर तो कई वर्ष हुए मैंने एक बार व्याख्यान माला सी दी थी। पर अभी तक मैंने संध्या पर ब्रह्मचारियों को कभी कुछ नहीं कहा है। मैं आज तुम्हें अपने अनुभव सुनाना चाहता हूं। मेरा मनन इन विषयों में इतना भीरु है कि जब से मुझे गुरुकुल में संध्या सिखाई गई है, उसके बाद से मैंने कभी भी संध्या को नहीं छोड़ा है। संध्या को छोड़ते हुए डर लगता है। मैं रोगग्रस्त होकर छह-छह महीने चारपाई पर पड़ा रहा हूँ तो भी एक भी समय की संध्या नहीं छोड़ी है। आपको यह जानकर शायद आश्चर्य होगा कि मैंने यह 'शन्नो देवी' वाली संध्या ही चार चार घण्टे तक की है। यद्यपि आजकल मैं इस संध्या में पांच-दस मिनिट ही लगाता हूं और शेष समय जप, ध्यान और प्राणायामादि करता हूं और प्रतिदिन तीन घण्टे की संध्या का मुख्य हिस्सा यह ध्यान-जप आदि ही होते हैं। तो भी अब तक भी यह 'शन्नो देवी' वाली संध्या कर लेना आवश्यक समझता हूँ। अतः संध्या के विषय में मेरे कुछ अनुभव हैं जिनका कि वर्णन अन्यों के लिये कुछ लाभदायक हो सकता है।

असल में यह संध्यायें बहुत प्रकार की प्रचलित रही हैं और हर एक व्यक्ति अपनी मानसिक अवस्था के अनुसार स्वभावतः किन्हीं मन्त्रों को उनमें से घटा या बढ़ा लेना चाहता है। किन्हीं मन्त्रों पर कम ध्यान होता है और किन्हीं पर ज्यादा (वैयक्तिक उपासना में ऐसी स्वाधीनता होनी भी चाहिए। यद्यपि सामूहिक उपासना बिल्कुल एक ढंग की होनी चाहिए)। यही नहीं अपितु मनुष्य अपनी मानसिक अवस्था के अनुसार किसी समय में किसी मन्त्र को ज्यादा महत्व देता है और किसी समय में किसी दूसरे को। मेरा यह कथन उन्हीं लोगों को ठीक लगेगा जो कि संध्या

को मननपूर्वक किया करते हैं। इस मनन के बिना संध्या व्यर्थ है। ऋषि दयानन्द द्वारा संगृहीत अपनी यह संध्या ही मैंने सीखी थी अतएव उन्हीं मन्त्रों का मननरूप मेरी संध्या थी। बहुत बार वास्तव में 'मैं क्या मन्त्र बोल रहा हूं' यह भी मुझे मालूम नहीं रहता था। किन्तु मन्त्रों के अर्थों की एक विचार-शृंखला मेरे सामने रहती थी। मेरे लिए संध्या एक क्रमिक विचार परम्परा के रूप में रही है, जिस विचार-परम्परा में एक बार बिना गुजरे मुझे शान्ति नहीं मिलती है। यद्यपि यह ठीक है कि उस विचार-परम्परा में आजकल मुझे उतना समय नहीं लगता जितना कि पहले लगता था। (यह समय मेरा ध्यान, जप में चला जाता है)। परन्तु एक समय था कि मन्त्र के अर्थ पर विचार करते हुए और जब तक कि सन्तुष्टि न हो जाए, तब तक उसी मन्त्र को लेकर बैठे रहते हुए मुझे साधारणतया संध्या में प्रति-दिन घण्टा भर लग जाता था। जैसा कि मैंने अभी कहा है कि कभी-कभी चार चार घण्टे तक भी लगे हैं। इस तरह यह संध्या की विचार परम्परा छोटी और लम्बी होती रही है तो भी इसकी एक सामान्य आकृति मेरे मन में बनी हुई है जिसको कि मैं आज तुम्हारे सम्मुख रखना चाहता हूं।

प्रारम्भ में हम 'आपः' नाम से परमात्मा का स्मरण करते हैं। वह सब प्यासों को बुझाने वाला, सब कामों की वर्षा करने वाला जल है। जल देवता के रूप में उसे ध्यान करने से हमारी उद्विग्नता, चञ्चलता शान्त होगी और मन सम्यक् ध्यान करने (संध्या करने) के योग्य होगा। जल का आचमन भी इसी शान्ति को लाने के लिए किया जाता है। ईश्वरीय वर्षा का ध्यान करके जब तक मन शान्त न हो जाए, तब तक आगे नहीं चलना चाहिए। इसी मन्त्र का ध्यान करते जाना चाहिए। इस समय जल तत्व का अपने अन्दर आह्वान (आवाहन) करना चाहिए। यह प्रारम्भिक कार्य हुआ।

उपासक के लिए आगे-आगे बढ़ते हुए मन्त्रों का अर्थ किस प्रकार बदलता जाता है, नए-नए आशय वाला होता जाता है। इसका स्पष्ट उदाहरण मैं इन्द्रिय स्पर्श मन्त्रों में दे सकता हूं। प्रारम्भिक अवस्था में, वाणी, आंख, कान, नाक का स्पर्श ध्यान करने का मतलब होता है कि ये इन्द्रियां स्वस्थ, नीरोग, बलवान शत-वर्ष तक ठीक चलने वाली होवें। फिर यह होता है कि इनसे मैं कोई पाप न करूं, बुरा न देखूं, न सुनूं इत्यादि। उस समय साधक एक एक इन्द्रिय को लेकर देखता है कि इससे मैंने आज कोई पाप तो नहीं किया, इसका दुरुपयोग तो नहीं किया। जो साधक इस अवस्था से भी ऊपर उठेगा, वह इन्द्रियों की सूक्ष्म दिव्य शक्तियों को विकसित करने पर (इन मन्त्र को पढ़ते हुए) ध्यान व विचार करेगा। और शायद अन्तिम अवस्था यह है जब कि इन इन्द्रिय-स्पर्श के मन्त्रों को पढ़ते हुए उपासक अपनी एक-एक इन्द्रिय को सर्वभाव से प्रभु अर्पित करता है या इन्हें सर्वजगत् कल्याण के लिए समर्पित करता है।

इन स्पर्श मन्त्रों के साथ मार्जन मन्त्र द्वारा अङ्गों की पवित्रता की भी प्रार्थना की जाती है। भूः भुवः स्वः आदि सात—परमेश्वर की व्याहृतियां हैं, पुकारने के नाम हैं। ये एक से एक ऊँचे लोक के भी वाचक हैं अर्थात् परमेश्वर के अधिक-अधिक ऊँचे स्वरूप को प्रकट करने वाले नाम हैं। 'सत्य' सबसे उच्च स्वरूप का द्योतक नाम है। अतः इसके आगे इन्हीं सात नामों द्वारा प्राणायाम भी किया जाता है। प्राणायाम पर कहना एक जुदा और बड़ा विस्तृत विषय है। यहां इतना कहना है कि मनोनिरोध के लिए यह अमोघ उपाय है, और भूःभुवः स्वः आदि लोकवाचक ईश्वरीय व्याहृतियों द्वारा अन्लोकों से सम्बद्ध शरीर के सिर नेत्र आदि के प्राण केन्द्रों को जगाया जाता है। भूः से लेकर तपः तक के नामों द्वारा सिर से मूलाधार तक आकर फिर सत्य नाम द्वारा सिर तक पहुँच कर प्राण के दोनों मार्गों को खोला जाता है।

अघमर्षण मन्त्रों द्वारा अघ अर्थात् पाप का मर्षण अर्थात् सहन किया जाता है। मनु ने प्रायश्चित्ताध्याय में इन मन्त्रों के जप की महिमा कही है। इन मन्त्रों से अघमर्षण कैसे होता है, इसमें मेरा अनुभव यह है कि इन मन्त्रों के ध्यान से इस ब्रह्माण्ड का समष्टि रूप सामने आ जाता है। प्रभु के 'अभीद्ध तप' से ऋत और सत्य प्रकट हुए हैं और उससे यह विश्व ब्रह्माण्ड इसके अनगिनत भुवन और इसका अपार अहोरात्र का प्रवाह सब कुछ उस वशी प्रभु द्वारा अनादिकाल से यथापूर्व प्रवृत्त होता आ रहा है। इस विश्व दर्शन द्वारा मैं निरभिमान हो जाता हूं। इस अपार विश्व के सामने मुझे अपना परम तुच्छ वैयक्तिक रूप प्रकट हो जाता है। मैं इस विश्व दर्शन के समुद्र में गोता लगाता हूं और अपने 'मैं' के, पाप के, मैल को धो लेता हूं। यह हम जानते हैं कि सब पाप 'मैं' के साथ हैं और प्रभु का जो नए नए अहोरात्र लाने का विधान है, उसको ध्यान करके मैं अगले अगले अहोरात्र में बिलकुल निष्पाप होने की उत्साहना प्राप्त करता हूँ, नए नए अहोरात्र में नई नई उमंग के साथ प्रविष्ट होता हूं। इस प्रकार विश्व-दर्शन द्वारा तथा नए संकल्प द्वारा प्रतिदिन अघों का मर्षण करता हुआ चलता जाता हूं।

निष्पाप होने के बाद मानसिक तौर पर विश्व विजय किया जाता है। अथर्ववेद के इन छह मन्त्रों का विनियोग सायण भाष्य में विजययात्रा के लिए लिखा है। विजय-गामिनी सेना पहले पूर्व दिशा में एक कदम आगे बढ़ावे और 'प्राचीदिगग्नि' का पाठ करे, फिर दक्षिण मुख होकर दक्षिण दिशा में एक पग आगे बढ़ावे और 'दक्षिणादिगिन्द्रो' का पाठ करे, इसी तरह छहों दिशा में कदम रख कर छहों दिशाओं की परिक्रमा करते हुए छहों मन्त्र पढ़े। सायण भाष्यानुसार भौतिक तौर पर तो शायद ध्रुवा और ऊर्ध्वा दिशा में कदम बढ़ाना सम्भव नहीं। पर हमें मानसिक तौर पर इन छहों दिशाओं की परिक्रमा एक विश्वविजयी वीर की तरह अवश्य करनी चाहिये। अतएव ये मन्त्र मन द्वारा परिक्रमा करने के कहे गये हैं। हम मन

द्वारा एक-एक दिशा में चलें और उस-उस दिशा में प्रभु जिस-जिस रूप में 'अधिपति' और अपने उस दिशा के इषु द्वारा 'रक्षिता' बने हुए हैं उस-उस रूप में उनका ध्यान और नमन करते हुए उनकी शक्ति द्वारा अवश्य विजयी बनें। इस प्रकार प्रत्येक दिशा में नाना रूप से अधिपति और रक्षिता बने हुए अपने प्रभु द्वारा छहों तरफ से संसार को हम जीत लेवें। सब द्वेषों को प्रभु की दाढ़ में रख कर निश्चिंत और निर्द्वेष हो जावें। संसार की छहों दिशाओं में हमारा कोई द्वेष कर सकने वाला न रहे। अहो, कैसा सुन्दर विश्व विजय है।

हमें मनसा परिक्रमा के बाद अपनी विघ्न बाधाओं को हटाने के बाद असली उपासना प्रारम्भ करनी चाहिए। अगले तीन मन्त्रों द्वारा सूर्य रूप से उसका ध्यान करते हुए उसके समीप पहुँचने, समीप बैठने का यत्न करना चाहिए। प्रभु का सूर्य स्वरूप वह लक्ष्य है जहां कि हमें पहुँचना है। निरुक्त परिशिष्ट में आदित्य को आत्मा का सर्वोत्कृष्ट स्वरूप कहा है। 'हम अन्धकार से उठकर प्रकाश की ओर चलते हुए परमोत्तम ज्योति को प्राप्त होवें', संसार के सब 'केतु' उसी ज्ञान स्वरूप की तरफ उसी के के दर्शन करने के लिए हमें ले जा रहे हैं' और 'वह सूर्य स्थावर जंगम का आत्मा है' द्यौ पृथ्वी में भरपूर है। सब जगत् का चक्षु है, उससे देवों की यह अद्‌भुत सेना उदित हुई है।' इस प्रकार क्रमशः उपस्थान के तीन मन्त्रों का आशय होता है। यह उपस्थान के मन्त्र मुझे बड़े ही प्यारे लगते हैं। इनका ध्यान आत्मा को एकदम ऊँचा उठा देता है। इन मन्त्रों द्वारा उस परम प्यारे ज्ञान प्रकाश स्वरूप को पा लेने के लिए हमारा मन दौड़ पड़ना चाहिए। अस्तु। उस प्रकाश स्वरूप 'चक्षु;' को सदा सामने देखता हुआ उपासक इसके बाद यह प्रार्थना करता है कि मेरी आंखें, कान आदि सौ वर्ष तक देखते सुनते रहें। मैं सौ वर्ष तक अदीन रहूं और सौ वर्ष के बाद भी ऐसा ही अक्षुण्णपूर्ण जीवन व्यतीत करूं। यही आर्य जीवन है। हमारा संपूर्ण जीवन परमेश्वर को न भूलते हुए बीते, यही तो संध्या का उद्देश्य है। अतः अब इसके आगे हम प्रसिद्ध गायत्री मन्त्र को पढ़ते हैं।

असल में गायत्री मन्त्र ही सारी संध्या कहा जा सकता है। वेदारम्भ में आचार्य इसी मन्त्र का शिष्य को उपदेश करता है। शास्त्रों में इस मन्त्र के जप की बड़ी-बड़ी महिमा लिखी है। ब्रह्मचारी की सब ज्ञातव्य विद्या इस सावित्री को ही कहा है। इस मन्त्र की विशेषता इसकी यह प्रार्थना है कि 'वह हमारे को प्रेरणा करें। हमारे सब निश्चय और कर्म सिद्धि उसी की प्रेरणा से होवें।' पर इस महान् सिद्धि को पाने के लिए हमें जो कुछ करना चाहिए वह यह है कि हम 'सविता' देव के उस वरेण्य शुद्ध तेज को अपने में धारण करते चले आवें।' सविता के भर्ग का धारण तथा अतएव उस द्वारा हमारी बुद्धियों की प्रेरणा, ये दो भावना हैं जिसके द्वारा इस महा महिमा वाले मन्त्र की सावित्री शक्ति को हम प्राप्त कर सकते हैं, इस सावित्री माता के मातृत्व को अनुभव कर सकते हैं।

इस प्रकार संध्या यहां समाप्त हो जाती है । इस समय हम पूर्ण शान्त और प्रसन्न होते हैं । ऐसी अवस्था में परमेश्वर को अन्त में नमस्कार करना स्वाभाविक सा है । इसलिए अन्तिम मन्त्र में परमेश्वर को बार-बार नमस्कार किया गया है, उसे उसके सब रूपों में नमस्कार किया गया है ।

तुम्हारे सामने मैंने संध्या की उस एक विचार-शृङ्खला को रखने का यत्न किया है, जिसमें से बिना एक बार (प्रातः सायं) गुजरे मुझे शान्ति नहीं मिलती है । मैं चाहता हूँ कि तुम सब संध्या का आनन्द प्राप्त करो । मुझे पूर्ण आशा है कि यदि तुम कुछ इस प्रकार के एकान्त विचार करने में—मनन करने में---आत्म निरीक्षण करने में (इसे ही मैं संध्या करना कहता हूं) लगोगे तो तुम्हें सुख शान्ति और जीवन प्राप्त होगा । शुरू में जी न लगे तो भी संध्या करना छोड़ो नहीं, आज नहीं तो कल और कल नहीं तो कुछ दिन बाद क्रमशः उसमें निस्सन्देह ऐसा रस आने लगेगा कि तुम संध्या को छोड़ ही नहीं सकोगे । इसी संध्या द्वारा हमें एक दिन आत्मा का साक्षात्कार तक हो सकता है । जब तक यह अवस्था न आजावे कि हमें चौबीसों घण्टे प्रभु का दर्शन बना रहे, जब तक हम सच्चे संन्यासी न हो जाएं, तब तक हमें कभी भी संध्या को छोड़ना नहीं चाहिए । कम से कम दिन रात में दो बार प्रभु का स्मरण, अपने कर्त्तव्य का स्मरण, यह संध्या वन्दन अचूक जारी रखना चाहिए । संध्या का वह दिव्य रसपान के लिए कुछ काल तक प्रतिदिन अचूक जारी रखना आवश्यक है । दिव्य आत्मानन्द पाने की यह आवश्यक सीढ़ी है ।

मौन संध्या

यह लेख 'गुरुकुल' के शुक्रवार 27 आषाढ़ 1993 (10 जुलाई 1936) अंक में प्रकाशित हुआ था। लेखक के रूप में नाम छपा है—श्री पं० देवशर्मा जी। प्रारम्भिक टिप्पणी भी कोष्ठक में यथावत् दी जा रही है।

—सम्पादक

[आज कल गुरुकुल के बड़े ब्रह्मचारी बोल कर नहीं मौन होकर संध्या करते हैं। सप्ताह में केवल एक दिन बोल कर भी संध्या की जाती है। यह परिवर्तन आचार्य जी के जिस भाषण के उपरान्त किया गया है, उसका सारांश नीचे दिया जाता है]

इस वर्ष हमने आध्यात्मिक दृष्टि से जो उन्नति करनी है, उसका कार्य क्रम जो मैंने सोच रक्खा है, उसके अनुसार पहिला पग यह उठाना चाहिये कि तुम मौन होकर संध्या किया करो। इतने बड़े होकर भी बोल कर संध्या कराने की आवश्यकता होना मुझे लज्जा की बात लगती है। तभी तो हम चौदह वर्ष तुम से संध्या कराये जाते हैं तो भी तुम सब में संध्या के लिए रस पैदा नहीं करा पाते।

संध्या में रस आवे, इसके लिए सबसे पहली आवश्यकता है कि मन को शांत किया जाय। इसीलिये संध्या में सब से पहिले शान्तिदायक जलदेवता के मन्त्र पढ़ कर आचमन किया जाता है। बिना शान्त हुए हम असली संध्या का प्रारम्भ ही नहीं कर सकते। अतः मैं तुम्हें कहता हूँ कि संध्या के समय प्रारम्भ में तुम और कुछ न करो, केवल मन को शान्त रखने का यत्न करो। मन में कोई भी विचार, कोई भी संकल्प विकल्प न आने पावे। जो भी कुछ विचार आने लगे, सब को हटाते जाओ। मन बिल्कुल खाली, संकल्प विकल्प हीन रहे, ऐसा यत्न करो। यह ठीक है कि मन एक दम शान्त नहीं हो जायेगा, मन को वस्तुतः निर्विकल्प रखने का अभ्यास अनेक वर्षों तक करने पर भी पूरा नहीं होगा। पर साथ ही यह भी ठीक हैं कि ऐसा यत्न करते हुए तुम्हारा एक भी दिन का परिश्रम निरर्थक नहीं जायेगा।

अतः धैर्यपूर्वक प्रतिदिन यह यत्न करते जाना चाहिये। अभी तक मन पूर्णतया रुका नहीं, यह देख कर घबराना नहीं चाहिये। थोड़ी सी भी मन की स्थिरता होगी तो तुम्हें आनन्द अनुभव होने लगेगा। मन की चंचलता ने ही तो हमारा आनन्द रोका हुआ है।

इसके लिये वायुरहित स्थान पर रखे दीपक की लौ का दृष्टान्त सन्मुख रखना बड़ा सहायक होता है—

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।

हमारा मन दीपक की ज्वाला की तरह सुक्षोभ्य है। जरा सी हवा जैसे दीपशिखा को हिला देती है, वैसे ही जरा सा विचार, जरा सी मानसिक वृत्ति हमारे मन को कहां का कहां पहुंचा देती है? बस, ऐसा हो कि हमारा मन निवातस्थ दीप' की तरह शान्त एकाकार होकर प्रकाश करता रहे, जरा भी चिन्तन, विचार विकल्प, क्षोभ, इच्छा इसकी निश्चल शान्ति को भंग न कर सकें। जरा ऐसा अभ्यास करके तो देखो।

एक बार मैंने शान्तिनिकेतन के अनुभव पुराने ब्रह्मचारियों को सुनाये थे। शान्तिनिकेतन के विद्यार्थी अपनी उपासना शान्त, एकाग्र मन रखने द्वारा ही करते हैं. यह देखकर मुझे प्रसन्नता हुई। महर्षि देवेन्द्रनाथ निर्गुण ब्रह्म, अमूर्त्त पुरुष के उपासक थे। अतः उन्होंने अपने यहां ऐसी ही मौन उपासना चलाई। वहां के विद्यार्थी आसनों पर बैठ कर दस पन्द्रह मिनट तक मौन रहते हैं। वे मन में कोई मन्त्र पाठ या जप या ध्यान कुछ नहीं करते। केवल यह यत्न करते हैं कि इतनी देर उनका मन बिलकुल विचारशून्य रहे। प्रारम्भिक अभ्यास यही करना चाहिये। तुम्हारी वाणी ही नहीं किन्तु मन भी मौन रहे, मन जरा भी न बोले, मन एकाकार होकर चमकता रहे, यह कितना सुन्दर अभ्यास है।

ऐसा करने से परमेश्वर की दिव्य शान्ति तुम्हारे अन्दर प्रविष्ट होगी। परमेश्वर के जिन-जिन गुणों को मनुष्य अपने अन्दर धारण कर सकता है, ध्यान आदि द्वारा अपने में लाना चाहता है उनमें से सब से पहिले जिस गुण को अपने अन्दर लाना चाहिये वह शम (शान्ति) का ही है। योगिराज श्री अरविन्द का ऐसा ही उपदेश है। तुम जानते होगे कि अरविन्द के योग मार्ग का लक्ष्य तो भगवान की दिव्यता को नीचे—संसार में, मनुष्य में—लाना है। पर वे कहते हैं कि भगवान की अन्य शक्ति को अपने में अवतीर्ण करने से पहले प्रारम्भ में उनकी शान्ति को ही अपने अन्दर बसाना चाहिये। यदि हम ऐसा नहीं करेंगे, पहिले शान्ति को नहीं बसा लेंगे—अन्य शक्तियों को अपने में आहूत करने का यत्न करेंगे तो या तो हम उन्हें अपने में ला ही नहीं सकेंगे, यदि कुछ लावेंगे तो उन्हें सम्भाल नहीं सकेंगे, वे हमारे अन्दर विकृत रूप में आकर हमें जलाने सी लगेंगी। ये सब बातें सुनाने से मेरा तात्पर्य यह है कि तुम प्रारम्भ में प्रातः सायं कुछ समय निर्विकल्प रहने का, शान्त

रहने का, मन से भी मौन रहने का, अपने में शान्ति को अवतीर्ण करने का अभ्यास करो। यह तुम्हारे लिये संध्या से लाभ उठाने का प्रथम पग है।

(इसके कुछ दिनों बाद ब्रह्मचारियों की संध्या में चंचल होने की शिकायत कई बार आई तो आचार्य जी ने संध्या हवन के समय आकर जो समझाया, उसका सारांश यह है)

निःसंकल्पता, एकाग्रता लाने के लिए सब से पहिले तो बाह्य निश्चलता की आवश्यकता है।

तुम नौजवान हो, तुम में चंचलता होनी ही चाहिये। तुम्हारी ठीक प्रकार की चंचलता मुझे प्रिय है। पर दिन रात या अपने जागृतकाल में जहां तुम सदा चंचल रहते हो वहां प्रातः और सायं दस मिनट के लिये निश्चल होकर भी तो देखो। जरा देर की निश्चलता तुम्हारी शेष दिन भर की चंचलता को शुद्ध कर देगी और बलवान कर देगी। जीवन के लिये निश्चलता भी आवश्यक है, तभी प्रकृति तुम्हें सुला देती है, सुषुप्त सुला देती है। पर वह निद्रा तो जवर्दस्ती की निश्चलता है और तामसिक निश्चलता है, तुम्हें कुछ जानबूझ कर और जागते हुए की निश्चलता लानी चाहिये। सात्विक निश्चलता लानी चाहिये। तुम्हें बेशक यह सब संसार चलायमान, सदा गतिशील, चंचल दिखाई देता है पर इस सब बृहत् चंचलता के पीछे एक अनन्त निश्चलता है, एक असीम स्थिरता है, एक अगाध शान्ति है जिसके बिना जगत् की यह सब चंचलता ठहर ही नहीं सकती। समुद्र में जो भारी-भारी लहरें उठती हैं, तूफान खड़ा हो जाता है, वे सब आखिर समुद्र की ऊपरी सतह पर ही होती हैं, नीचे तो अगाध जलराशि पड़ी होती है। इसी तरह इस चलायमान जगत् के आधार में भी एक शान्ति का, निश्चलता का, समुद्र भरा पड़ा है। जरा उस निश्चलता के समुद्र की तरफ, उस महान् शान्ति की तरफ भी कभी मुंह फेर कर देख लेना चाहिये। उसके बिना तुम्हारे जीवन में घोर अपूर्णता रहेगी। मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूं कि इस निश्चलता को लाने के लिये किया गया तुम्हारा यत्न तुम्हें श्रेष्ठ फल प्राप्त करायेगा, तुम्हें सच्चा मनुष्य बनायेगा, तुम्हें पूर्णता की तरफ ले जायेगा।

———

वर्ण का संकल्प

यह लेख 'गुरुकुल' के शुक्रवार 26 आषाढ़ 1994 (9 जुलाई 1937) अंक से उदधृत है ।
—सम्पादक

कोई भी यज्ञ संकल्प के बिना नहीं चल सकता । यह मनुष्य-जीवनरूपी पवित्र यज्ञ भी किसी संकल्प से ही चलना चाहिये । तुमने पांच व्रत लेते हुए अपने को धर्म (देश) की सेवा के लिये तैयार करने का व्रत लिया है । सो तुम्हें यह भी देखना है कि तुम यह सेवा किस रूप से करने की योग्यता रखते हो । गुरूकुल न केवल आश्रम व्यवस्था के उद्धार की नींव है किन्तु वर्णव्यवस्था के उद्धार की भी नींव है । गुरूकुल से तुम ब्रह्मचर्याश्रम को पूर्ण करके निकलो इतना ही नहीं, किन्तु गुरूकुल माता के गर्भ से तुम ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य रूप से (दूसरा) जन्म ग्रहण करो यह भी वैदिक सभ्यता को अभीष्ट है । समाज व्यवस्था के वैदिक आदर्श के अनुसार मनुष्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र बनकर चार प्रकार से समाज सेवा कर सकता है । चूंकि शूद्र तुममें से कोई नहीं है (या होना नहीं चाहिये) अतः मैं कहता हूँ कि तुम्हें ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य इनमें से मैं कौनसी श्रेणी में होकर सेवा कर सकता हूं, यह पता लगाकर वैसा बनने का संकल्प करना चाहिये ।

वर्ण पर आगे कहने से पहले कुछ शब्द संकल्प के बारे में कह देता हूँ । संकल्प और इच्छा में फर्क है । इच्छा बाहिरी चीज है, पर संकल्प असल में आत्मा का ही गुण है । ब्राह्मण यदि पूजा जाता है, क्षत्रिय को यदि यश मिलता है तो हर कोई ब्राह्मण क्षत्रिय बनने की इच्छा करे, यह हो सकता है । पर हमारी जो आन्तरिक इच्छा है, आत्मा की इच्छा है वह इन बाहिरी बातों पर आश्रित नहीं है । उस संकल्प को अन्दर गहराई में घुसने से ही जाना जा सकता है । सच तो यह है कि हमारे अन्तरात्मा ने एक संकल्प कर रखा है, अपनी विकास की अवस्था के अनुसार न केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य होने का संकल्प किन्तु एक खास प्रकार का ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य होने का संकल्प कर रखा है, हमने उसे केवल जानना है । और फिर उस संकल्प की चिनगारी को बढ़ा कर जीवन-व्यापी अग्नि का रूप

देता है। अर्थात् वर्ण को चुनने की अपेक्षा वर्ण को जानना ऐसा कहना अधिक ठीक है। जो आत्मा का संकल्प है वह बहुत बड़ी चीज है, वह अजेय और अवन्ध्य होता है। यदि उसे स्पष्ट जानकर उसके अनुसार चला जाय तो सम्पूर्ण संसार हमारे उस संकल्प की मदद करता हुआ अनुभव होगा। सब देव हमें ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य बनाने में सहायक होंगे।

वर्ण का अर्थ चुनी हुई वस्तु हो सकता है, इसका अर्थ रंग भी होता है। हमारे अन्तरात्मा ने अपने परमेश्वर की तरफ विकास प्राप्त करने के रास्ते में इस जन्म में किस वर्ण को चुना है या उसके कारण उसके जीवन में कौन सी रङ्गत आ गयी है यह जानकर ही ठीक ठीक वर्ण संकल्प किया जा सकता है। योगी गुरु इसे आसानी से बता भी सकते हैं। परन्तु मैं तो तुम्हें मोटी सी पहिचान बताऊंगा, जिनके अनुसार यदि तुम विचार करोगे और अपने अन्दर गहराई में जाकर देखोगे तो अपने विषय में ठीक प्रकार निश्चय करने में तुम्हें पूरी सहायता मिलेगी।

चातुर्वर्ण्य एक स्वाभाविक वस्तु है। चाहे किसी देश व काल में ब्राह्मण आदि नाम न बोले जावें पर फिर भी मनुष्यसमाज में यह चार विभाग और यह चार रंगत हमेशा रहती हैं। अत: मैं भी आज किन्हीं शास्त्रीय शब्दों को छोड़ कर सामान्य शब्दों में तीनों वर्णों का चित्र खींचने का तुम्हारे सामने यत्न करूंगा, जिसे ध्यान से सुन कर तुम अपना निश्चय सुगमता से कर सकोगे।

ब्राह्मण वे लोग होते हैं, जो कि समाज का ज्ञान द्वारा, सत्य के प्रकाश द्वारा नयन (नेतृत्व) करते हैं। संसार में सत्य की सदा रक्षा करने की, सत्य का बार-बार उद्धार करने की, जरूरत होती है। जिनका हृदय सचमुच शुद्ध होता है और बुद्धि पवित्र प्रतिभाशाली होती है अतएव जिनका जीवन उच्च और तपोमय होता है उनमें ऐसी ज्ञात द्वारा नेतृत्व की शक्ति होती है, वे ही ब्राह्मण होते हैं। वे उस समय की बुराइयों से ग्रस्त समाज में रहते हुए भी उन बुराइयों के विरोधी नये सत्य को देख सकते हैं। उस सत्य को पाने के लिये तथा अन्य लोगों को वहां पहुँचाने के लिये घोर तपस्या का जीवन बिताते हैं। क्षत्रिय वे होते हैं जो कि ब्राह्मण द्वारा दिखलाये गये इस सत्य को शीघ्र ही ग्रहण करने को उद्यत हो जाते हैं और जोश के साथ इस सत्य पर अमल करने लगते हैं, कठिनाइयों, मुसीबतों को झेलते हुए भी इसे नहीं छोड़ते। डटे रहते हैं। ये लोग उस सत्य को स्वयं नहीं देखते पर दिखलाये जाने पर वे उसके करने के लिए एकदम कटिबद्ध हो जाते हैं। ये कर्म प्रधान होते हैं, ब्राह्मण ज्ञानप्रधान। ये एक सत्य ज्ञान को ब्राह्मण की तरह पूर्ण व्यापक रूप में नहीं देख पाते। इसी दोष के कारण ही इनमें यह गुण होता है कि वे उसे बिना इधर-उधर देखे बड़े जोश के साथ करने लगते हैं। क्षत्रियों का विशेष गुण पक्का अनुयायी, सैनिक बनना है। वह पीछे कदम नहीं हटाता। कष्ट सहने में उसे मजा आता है। विपत्तियों को वह निमन्त्रण देता है, शूरता, वीरता और धैर्य

उसके मुख्य गुण होते हैं। पर उनकी इस कर्मण्यता को, उनके इस कर्मप्रवाह को गति देने वाला ब्राह्मण होता है। राज्य संचालन, प्रबन्ध करना आदि कार्य उच्च क्षत्रिय ही अपने हाथ में लेते हैं। पर उन्हें जिनकी सलाह माननी होती है वे ब्राह्मण होते हैं। विचार ही संसार पर शासन कर रहे हैं (आडियाज रूल द वर्ल्ड) यह सिद्धान्त सत्य है। इन विचारों (आइडियाज) को देने वाला, नये सत्य का आविष्कार कर लोगों को जगाने वाला, प्रचार करने वाला ब्राह्मण होता है। अतएव प्रचारक, शिक्षक और अध्यापकों के पेशे ब्राह्मणों के पेशे समझे जाते थे। किसी देश व जाति की विचार धारा के बदलने वाले ब्राह्मण ही होते हैं। और इस नये विचार, नये सत्य के प्रभाव को जो लोग सबसे पहले ग्रहण कर और निर्भय होकर क्रियान्वित करने लगते हैं, वे क्षत्रिय होते हैं। और जो आम लोग पीछे से (मैदान साफ हो जाने पर) इन्हें स्वीकार करते हैं, वे वैश्य होते हैं।

सर्व साधारण आदमी ही वैश्य होते हैं। अतएव 'विश' का अर्थ सर्व साधारण प्रजा हो गया है। वे मासूली भोग के जीवन में, धन कमाना, कुटुम्ब बढ़ाकर खाना-पीना आदि में लगे रहते हैं। इन्हें परिवर्तन पसन्द नहीं होता है। अतएव यह लोग नई बात को तब ग्रहण करते हैं, जब वह आम हो जाती है। उसमें कोई खतरा नहीं रहता। समाज में सदा वैश्य अधिक होते हैं, क्षत्रिय उससे कम होते हैं और ब्राह्मण और भी कम होते हैं।

उस रात जब जगजीतपुर में आग लगी थी तो जिन ब्रह्मचारियों को आग देखकर या यह सुन कर स्वयं करुणाभाव से इच्छा हुई कि हमें मिलकर वह आग बुझानी चाहिये और वे दूसरों से शान्ति पूर्वक कहने लगे और कह कर स्वयं चल दिये, वे ब्रह्मचारी ब्राह्मण बृत्ति वाले हैं। जिन्हें कहने सुनने या स्वयं उधर ध्यान खिंचने से जोश आया और डण्डे उठाकर दौड़ पड़े, वे क्षत्रिय हैं। और जो पीछे से धीरे-धीरे उठकर चले या कुछ दूर जाकर लौट आये कि आग तो बुझ ही जावेगी, वे तीसरे प्रकार के हैं। वहां पहुँच कर भी क्षत्रिय-स्वभाव ब्रह्मचारी वहां से तब तक लौटने को नहीं तैयार होते थे जब तक कि आग का एक अंगारा भी सुलगता दीखता रहे। ब्राह्मण स्वभाव वाले वे थे जो उस गड़बड़ में काम करते हुए भी शान्त बुद्धि से सोच भी रहे थे कि यह आग शीघ्र कैसे बुझे और आग के फिर भड़कने का भय किस तरह हटा दिया जाय और उन उपायों को स्वयं शुरू करके काम में ला रहे थे। अस्तु।

एक शब्द में ब्राह्मण वह है जो ज्ञान शक्ति से सेवा करता है। क्षत्रिय वह है जो सत्ता की शक्ति का उपयोग करता है। वैश्य वह है जो धन की शक्ति का उपयोग करता है। संसार में कई प्रकार की शक्तियां काम कर रही हैं। आम लोग तो धन की, अर्थ की शक्ति में विश्वास रखते हैं। वे समझते हैं कि धन के, सांसारिक पदार्थों के संग्रह से सब कुछ हो जाता है। वे वैश्य होते हैं। वे इससे ऊपर की

किसी शक्ति में वास्तविक श्रद्धा नहीं रखते हैं। परन्तु जो कुछ लोग देखते हैं कि धन और अर्थ में कुछ नहीं है। जहां बहादुरी है, मर मिटने की उमङ्ग है, तेजस्विता है, वहां आवश्यक धन भी आ जाता है वे क्षत्रिय होते हैं। वे बुराई को, अन्याय को कभी सह नहीं सकते, इनको शीघ्र नष्ट हुआ देखना चाहते हैं। अतः (सत्ता) शक्ति, संगठन बल, उत्साह, धैर्य आदि द्वारा कार्य करने में उन्हें आनन्द आता है, इसके सामने वे धन दौलत की परवाह नहीं करते। फिर इससे पीछे वे लोग हैं जो बुराई, अन्याय को देखकर भी अपनी शांति को नहीं त्यागते क्यों कि वे ज्ञानी होते हैं। उन्हें सत्य में (और परमेश्वर में) श्रद्धा होती है। वे ब्राह्मण वर्ण के होते हैं। अन्याय और बुराई को वे भी नहीं सहते परन्तु वे इसका विनाश करने का उपाय सत्य, ज्ञान और तप में देखते हैं, सत्ता के बल, जबरदस्ती या हिंसा के उपयोग की वे आवश्यकता नहीं समझते। ज्ञान और तप की शक्ति ही सर्वोच्च शक्ति है। उसी से वास्तविक परिवर्तन होता है। इसमें उन्हें पूर्ण विश्वास होता है, अतः वे इस शक्ति के सामने सत्ता बल या धन शक्ति को अत्यन्त तुच्छ समझते हैं। अतएव वे कभी धन शक्ति से खरीदे या सत्ता बल से डराये भी नहीं जा सकते। परमेश्वर की अनन्त शक्ति के आश्रय पर वे निश्चिंत और निर्भय होकर कार्य करते हैं। इसी कारण संसार को ठीक तरफ ले जाने वाले ये ही होते हैं। इन्हीं के पीछे दूसरी शक्तियां चलती हैं।

आशा है मेरा यह कथन इन तीनों वर्णों का स्वाभाविक स्वरूप दिखलाने को पर्याप्त है। तुम देखो कि तुम्हारे लक्षण कैसे हैं? तुम्हारी प्रकृति कैसी है? उस के अनुसार संकल्प कर लो कि मैं आदर्श ब्राह्मण, आदर्श क्षत्रिय या आदर्श वैश्य बनूंगा। उस के अनुसार शम, दम, तप आदि को या शौर्य, तेज, धृति आदि को अपने में दिनों दिन विकसित करो। नहीं तो सामान्य सद्गुणों को अपने में संग्रह कर अच्छे वैश्य बनने का यत्न करो।

तात्पर्य यह कि जैसे आज कल तुम अधिकारी परीक्षा उत्तीर्ण कर लेने के बाद महाविद्यालय में आते हुए यह चुनते हो कि तुम वेद महाविद्यालय में जाओगे, साधारण महाविद्यालय में या आयुर्वेद विभाग में अथवा जैसे यह चुनते हो कि तुम अर्थ शास्त्र लोगे या इतिहास, पाश्चात्यदर्शन या रसायन, वैसे ही तुम्हें यह भी महाविद्यालय में पहुंचकर अन्तिम तौर पर चुनाव कर लेना चाहिये कि तुम वैश्य होगे या क्षत्रिय वीर बनोगे या ब्राह्मणत्व का उच्च जीवन व्यतीत करोगे। यह चुनाव उस चुनाव से भी पहले कर लेना चाहिये क्योंकि इसी चुनाव के आधार पर तुम अपने महाविद्यालय या विषय के चुनाव को भी बहुत कुछ अवलंबित कर सकोगे। 'अन्तिम तौर पर' यह शब्द इसलिये कहे कि वैसे अपने वर्ण का निश्चय तुम्हें प्रारम्भ से ही करना चाहिये, परन्तु इस उम्र में पहुँचकर तुम अपने को इतना अधिक समझ सकते हो कि अपने वर्ण का अपने तौर पर अन्तिम निश्चय कर सकते हो। मैंने पहले ही कहा है बिना संकल्प के जीवन निरर्थक है, बिना उद्देश्य के जीना जीना नहीं है, अतः अब से अपने जीवन की नींव संकल्प के रूप में दृढ़ डाल लो और फिर उस संकल्प को विकसित होने दो। यदि तुम्हारा संकल्प सच्चा है, आन्तरिक

है, आत्मा का है तो वह दिनों दिन बढ़ता, फैलता और बलवान होता जाएगा, जैसे कि यह हवन की अग्नि एक चिनगारी से प्रारम्भ होकर सारे कुण्ड में और आस पास में व्याप्त हो जाती है। संकल्प की चिंगारी आज स्थापित कर लो और चार वर्षों में उसे बढ़ाते जाओ, प्रतिदिन अग्निहोत्र करते हुए अपने वर्ण संकल्प को दृढ़, पुष्ट और शक्तिशाली बनाते जाओ, जिस से स्नातक होने पर तुम एक आदर्श ब्राह्मण, आदर्श क्षत्रिय, या आदर्श वैश्य के रूप में जगत् में प्रवेश कर सको।

यह याद रखो कि (जैसा कि शास्त्र कहते हैं) मनुष्य को एक क्षण भर भी आश्रम हीन या वर्ण हीन नहीं रहना चाहिये। हर समय किसी न किसी आश्रम व वर्ण की मर्यादा में जो रहता है, वही उन्नत हो सकता है। किसी समय यदि थोड़ी देर के लिए भी मनुष्य ऐसी अवस्था में है, जब वह किसी प्रकार के धर्म से बंधा नहीं, तभी वह बुरी तरह गिर सकता है। अतः वर्ण का चुनाव और जब तक उस वर्ण में है, तब तक उस धर्म का पालन करना—यह मनुष्यत्व की रक्षा के लिए आवश्यक है। अस्तु।

प्रत्येक वर्ण के जुदा जुदा धर्म और मर्यादाओं के बारे में मैं आगे क्रमशः कहूँगा।

———

ब्राह्मण वृत्ति

यह लेख 'गुरुकुल' के शुक्रवार। श्रावण 1994 (16 जुलाई 1937) अंक में प्रकाशित हुआ था।

—सम्पादक

सबसे प्रथम मैं ब्राह्मण वर्ण को लेता हूं क्योंकि आशा की जाती है कि गुरुकुल से ब्राह्मण अधिक मात्रा में निकलेंगे। किसी भी अन्य संस्था की अपेक्षा यहां से ब्राह्मण अधिक निकलेंगे, इतनी आशा रखना तो सर्वथा स्वाभाविक भी है। मैं तो गुरुकुल संस्था को ब्राह्मण-संस्था देखना चाहता हूं और ऐसा ही मानकर व्यवहार करता हूँ। तो यह गुरुकुल ब्राह्मणों के जन्म का मुख्य स्थान हो, यह तो समझता ही हूँ। लोग गुरुकुल से जैसे स्नातकों की आशा करते हैं और जिस आशा से गुरुकुल को तन-मन-धन से पोषित करते हैं, वह तो ब्राह्मणों के निकलने से ही पूरी हो सकती है।

तुममें से जिन्होंने ब्राह्मण का संकल्प किया है, उन्हें आज का मेरा कथन विशेष ध्यान से सुनना ही चाहिये परन्तु जिन्होंने वैसा संकल्प नहीं किया, उनके लिये भी इस उच्चवर्ण का माहात्म्य अच्छी तरह जान लेना बहुत लाभकारक होगा क्योंकि क्रमश: सब को उसी तरफ जाना है।

वेद में कहा गया है कि ब्राह्मण ही इस पृथ्वी का असली राजा है। वस्तुत: ब्राह्मण इस संसार को चलाते हैं। मैं बता चुका हूं कि संसार में सदा सत्य की रक्षा करते हुए ज्ञान द्वारा नये सत्य के मार्ग पर संसार को ले चलने वाले ब्राह्मण होते हैं। 'आइडियाज रूल दि वर्ल्ड' का अर्थ यही है कि संसार पर असल में ज्ञान-शक्ति, ब्रह्मशक्ति ही शासन करती है। क्षत्रशक्ति समझती है कि मैं बड़े-बड़े वीरता के कार्य करके उथल-पुथल कर रही हूँ या धन शक्ति समझती है कि मैं संसार में बड़े-बड़े परिवर्तन ला रही हूं परन्तु असल में इन दोनों को पीछे से गति देने वाली एक ज्ञानशक्ति है। जो लोग उस ज्ञानशक्ति से अपनी एकता करते हैं, वे ब्राह्मण होते हैं। ब्राह्मण मनुष्य समाज रूपी शरीर के मस्तिष्क (बुद्धि) होते हैं, सत्वगुणमय होने से ऊपर ठहरने वाले और ऊपर से ज्ञान प्रकाश का प्रभाव उत्पन्न करने वाले

होते हैं । क्या तुम में से कोई है जो उस जगह अपना स्थान देखते हैं ? तो उनमें जो स्वाभाविक गुण होने चाहियें, उन्हें गीता के शब्दों में सुनो—

शमो दम: तप: शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ।

यदि तुम दुनिया में ब्राह्मण का भाग पूरा करने आये हो तो तुम्हारे अन्दर ये शम, दम, तप आदि गुण स्वभावत: होंगे । ये ब्राह्मणत्व की पक्की पहचान हैं । यदि तुम में शम है, मानसिक शान्ति है, यदि तुम्हारा मन इतना चलायमान नहीं है कि वह विशेष यत्न करने पर भी न रुके, तुम्हारे मन की वृत्ति प्रशान्तवाही है, और यदि तुम में दम है अर्थात् इन्द्रियनिग्रह, इन्द्रियदमन करना तुम्हारे लिये बड़ी भारी समस्या नहीं है, यद्यपि कहा है कि 'बलवान इन्द्रियग्रामी विद्वांसमपि कर्षति' तो भी यदि तुम कुछ यत्न करके इन्द्रियों पर अपना प्रभुत्व पा लेते हो तो तुम इन ब्राह्मण गुणों वाले हो यदि तुम तपस्वी हो, कष्ट सहने से घबराते नहीं हो बल्कि अपने कर्त्तव्यपालन में जो स्वाभाविक कष्ट आवें उन्हें झेलने में आनन्द पाते हो तो तुम्हारे पास ब्राह्मण का धन या ब्राह्मण की शक्ति (वज्र) विद्यमान है । तप: शक्ति, सत्य के लिये कष्ट सहन, [आजकल की भाषा में 'सत्याग्रह] वह हथियार है जिससे ब्राह्मण सर्वत्र विजय प्राप्त करता है । यदि तुम में स्वभावत: अन्दर और बाहर की पवित्रता (शौच) रखने की वृत्ति रहती है तो यह ब्राह्मण वृत्ति है । ब्राह्मण किसी भी मलिनता को बर्दाश्त नहीं करता है, बाहर की ही नहीं किन्तुअन्दर की भी कभी नहीं । क्षमा ब्राह्मण का स्वभाव होता है, वह कभी बदले की सोच ही नही सकता । वह मानता ही नहीं कि उसका कभी कोई अपकार कर सकता है, अत: वह अपनी तरफ से सबको सदा क्षमा किये रहता है । क्षत्रिय क्षमा न करें, यह हो सकता है पर ब्राह्मण सहनशीलता (क्षमा) छोड़ दे तो ब्राह्मणत्व से गिर जाय और फिर आर्जव, सरलता ऐसा गुण है जो ब्राह्मण का सर्वोत्कृष्ट भूषण है । कुटिलता, टेढ़ापन, असत्य ये ब्राह्मण में नहीं हो सकते । जहां ज्ञान है वहां कुटिलता, टेढ़ापन, मिथ्या व्यवहार टिक नहीं सकते । अत: सरलता सच्चे ज्ञान के पात्र ब्राह्मण की पक्की पहिचान है । और अन्त में ज्ञान और विज्ञान ब्राह्मण के मुख्य लक्षण हैं । ज्ञान और उच्च प्रकार का ज्ञान जिसमें होता है, उसमें शम, दम आदि स्वयमेव होते हैं । मन की शांति का ज्ञान से सम्बन्ध स्पष्ट है । इन्द्रियदमन भी जबरदस्ती करने से कभी नहीं सफल हो सकता, पर ज्ञान प्रकाश होने पर आसानी से हो जाता है । तप की शक्ति भी ज्ञान शक्ति ही है । अत: परमेश्वर के तप के विषय में कहा है 'यस्य ज्ञानमयं तप:' । इसी तरह अन्य सब ब्राह्मण के गुण भी ज्ञानमूलक ही हैं । पर उसके भी मूल में आत्म (परमात्म) सत्ता पर निर्भर होना अर्थात् आस्तिक्य है । ब्राह्मण में आत्म-सता पर विश्वास तर्क द्वारा नहीं किन्तु एक प्रकार के हार्दिक अनुभव द्वारा होता है । वह सहज स्वभाव से परमेश्वर में श्रद्धा रखता है । और

फिर ब्राह्मण की सब शक्ति, सब उच्चता, सब ज्ञान भंडार उसे जगदन्तरात्मा पर इस प्रकार पूर्णतया आश्रित होने के कारण ही प्राप्त होते हैं। अस्तु। ये ब्राह्मण के स्वाभाविक गुण हो गये। जैसे कि गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है—

मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव !

उसी तरह जो लोग इस शम, दम आदि संपत्ति को जन्म से ही साथ लेकर पैदा होते हैं, वे ब्राह्मण होते हैं। अतः तुममें से जिनमें ये सहज गुण हों या आसानी से आ सकते हों, वे अपने को ब्राह्मण के धर्म द्वारा सेवा करने के योग बनावें।

कोई ब्राह्मण है या नहीं, यह बात माता पिता तथा गुरु बालक के इन गुण कर्म स्वभावों द्वारा जन्म से ही देखकर जान सकते हैं इतना ही नहीं किन्तु यदि हम और आगे बढ़ें तो पायेंगे कि ब्राह्मण आदि उत्पन्न कर लेना माता-पिता पर आश्रित है अर्थात् माता-पिता के संकल्प पर आश्रित है कि वे गर्भाधान संस्कार करते हुए किस प्रकार के आत्मा का, किन गुणों वाले आत्मा का आह्वान करते हैं। पर इतना आजकल कौन करता है ? किस में इतनी शक्ति है ? पर यह सत्य है कि असल में वर्णव्यवस्था का पुनरुद्धार वहां से शुरू होना चाहिये। संकल्प वहां से प्रारम्भ होवे, तब तुम्हारे लिए अब संकल्प करना कुछ कठिन न रहे। अस्तु, अन्त में मैं यह कहना चाहता हूं कि अपने संकल्प की दृढ़ता के लिये तुम्हें वर्तमान काल के महान् ब्राह्मणों के चरित्र ध्यान से देखने चाहियें, उनके संपर्क में आने का यत्न करना चाहिये, बल्कि उनकी शिष्यता ग्रहण करनी चाहिये, तब तुम्हारा ब्राह्मणत्व अति-शीघ्र चमक उठेगा, यह तुम देखोगे। मैं किस वर्ण का हूं, यह जानने का भी सबसे अच्छा तरीका यह है कि मनुष्य भिन्न-भिन्न प्रकार के महापुरुषों के जीवन-चरित्र पढ़े और फिर देखे कि उसे किसका चरित्र सबसे अधिक भाता है, कि जैसा बनने को उसका अन्तरात्मा उछलता है तो वह महापुरुष जिस वर्ण का माना जाता है, उसी वर्ण का तुम अपने को समझ लो।

इस युग के एक महान् ब्राह्मण दयानन्द हुए हैं। उनको देखो। उन्होंने उदित हुए सूर्य की तरह देश के घोर अज्ञान को दूर किया। अपने शम, दम और जप के बल से देश में क्रांति पैदा कर दी, सब लोग इनके दृष्टिकोण से देखने सोचने लगे। पश्चिमीय सभ्यता के प्रबल प्रवाह को ऐसा धक्का पहुँचाया कि अवस्थायें ही बदल दीं। गांधी जी हैं जो कि सचमुच दुनिया को एक नया सन्देश देने को जन्मे हैं। इस जमाने में उनका अहिंसा पर न केवल वैयक्तिक अहिंसा किन्तु सामुदायिक अहिंसा पर भी, इतना अटल विश्वास होना यह अत्यन्त असाधारण बात है, मानवातीत सी बात है। उनके नजदीक साथी भी उनके इस विषयक व्यवहार से बहुत बार चकरा जाते हैं पर उनका आस्तिक्य, उनका ज्ञान, उनका तप, उनकी क्षमा उन्हें ऐसा अजेय बनाये हुए हैं कि यह हिंसाभरी दुनिया आज उस एक व्यक्ति की आसानी से अवहेलना नहीं कर सकती। एक और महान् ब्राह्मण बल्कि ऋषि, परमहंस योगी श्री अरविन्द हैं जिनकी महत्ता शायद अभी

संसार के लिए प्रकट होने को है।

यह तो बहुत बड़े ब्राह्मणों का वर्णन हुआ। पर तुम अपने स्नातक भाइयों में ही देखो। मुनि देवराज जी विद्यावाचस्पति एक ब्राह्मण हैं। नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं। मानसिक शान्ति तो उन में इतनी है कि एक स्नातक मित्र कहते थे कि मुनिजी जब चलते हैं बैठते हैं तो एक शान्ति का वातावरण सदा उनके साथ रहता प्रतीत होता है, जो दूसरों पर शान्ति का प्रभाव डालता है। उन्होंने अब तक (स्नातक हो जाने के बीस वर्ष बाद तक भी) ज्ञान-सम्पादन करने में अपना जीवन लगाया है। उन्हें कुछ सच्चा, सूक्ष्म और ऊंचा ज्ञान मिला है, यह उनसे बातचीत करने पर, उन के लेख पढ़ने से प्रतीत हुए बिना नहीं रहता है। उनका इन्द्रियनिग्रह, उन की तपस्या, उन की सरलता से हम सब अच्छी तरह परिचित हैं। श्री पं० बुद्ध देव जी को कौन नहीं जानता? उनके अन्दर जो एक लगन है, अग्नि है, आर्यसमाज व ऋषि दयानन्द के लिए ज्ञानमयी भक्ति है, उसे कौन अस्वीकार कर सकता है? सन् 30 में जब मैंने इन्हें स्नातक सत्यग्रही जत्थे में शामिल होने को कहा तो उन्होंने कुछ ऐसा सा जवाब दिया (उन जैसी सुन्दर और ठीक ठीक भाषा तो मैं नहीं बोल सकता) कि आप जिस काम के लिये मुझे चाहते हैं, वह है तो बहुत ही अच्छा किन्तु मैं क्या करूं? मैं अपना सिर तो पहले ही दयानन्द को दे चुका हूं, यदि मेरा दूसरा सिर होता तो उसे इसके लिये दे देता। उनकी तपस्या और क्षमा शीलता के भी कई दृष्टान्त सुनाये जा सकते हैं। बड़े से बड़ा त्याग उनके लिये खेल है। पर सबसे बड़ी विशेषता उनकी आर्जव (सरलता) सरलहृदयता है, उनके हृदय में कुटिलता जरा भी नहीं है। उनके विरोधी भी अपने दिल में उनकी इस लगन और इस सरलहृदयता के कायल हैं। उनकी विद्वत्ता वक्तृत्वशक्ति तथा कवित्व तो शायद बच्चा-बच्चा जानता है। फिर पं० जयदेव जी वेद भाष्यकार हैं। जिनके ब्राह्मण होने में मुझे कोई शक नहीं। उनका विद्या-व्यसन, उनका विस्तृत अध्ययन, उनका तप, सादगी तथा सरल वृत्ति उन्हें ब्राह्मण वर्णीय बनाती है। स्वामी व्रतानन्द जी हैं, जो संन्यासी भी हो चुके हैं। आजन्म ब्रह्मचारी हैं। कितने सच्चे, सरल, तपस्वी और धर्म परायण हैं। ब्रह्मशक्ति के बल से चित्तौड़ जैसी जगह में गुरुकुल चलाने का कार्य कर रहे हैं। इन कुछ प्रसिद्ध पुराने स्नातकों के अतिरिक्त मैं अन्य कई प्रचार कार्य में लगे या गुरुकुलों में लगे तथा देश-सेवा में लगे स्नातकों को भी ब्राह्मण वर्ण में गिना सकता हूं और कुछ ऐसे हैं जिनसे मैं भविष्य में दृढ़ आशा रखता हूं कि वे कुछ समय बाद ब्रह्मतेज से चमकेंगे. पर अभी उन सब का नामोल्लेख करने की शायद आवश्यकता नहीं। जिसमें ब्राह्मणत्व ऊँचे दर्जे का होगा और स्पष्ट होगा, वह छिपेगा नहीं। उसका अनुकरण भी ब्राह्मण-वृत्ति रखने वाले लोग करेंगे पर यह भी सत्य है कि बहुत लोग ऐसे होते हैं जो इन वर्णों में से ब्राह्मण वर्ण में ही आ सकेंगे और किसी में नहीं, किन्तु उनका यह ब्राह्मणत्व किसी

न किसी त्रुटि या कमी के कारण पूरी तरह समर्थ या प्रभावशाली नहीं हो पाता है, ऐसे पुरुषों को ब्राह्मण धर्म पालन करते हुए ही अपनी उन त्रुटियों, कमियों को दूर करने का यत्न सतत जारी रखना चाहिये। अन्य वर्णों के लिये भी यही बात लगती है। अस्तु। आज का मेरा विषय तुम्हें ब्राह्मण वृत्ति, ब्राह्मण के स्वाभाविक गुण, धर्म, स्वभाव बतलाने का ही था। कुछ ब्राह्मणों के चरित्र का वर्णन भी मैंने इसी बात को स्पष्ट करने के लिये किया है। अगली बार मैं ब्राह्मण-कर्म पर बोलूंगा और यह बतलाऊँगा कि कौन कौन से कार्य, कर्म (पेशे) हैं जो कि ब्राह्मणत्व प्राप्त कर निकले स्नातकों को भविष्य जीवन में स्वीकार करने चाहियें अर्थात् देश में कौन से कार्य स्थान व क्षेत्र हैं जो कि ब्राह्मण स्नातकों की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

——

ब्राह्मण कार्य

यह लेख 'गुरुकुल' के शुक्रवार 22 श्रावण 1994 (6 अगस्त 1937) और 13 अगस्त 1937 अंकों से उद्धृत है। इसमें लेखक का नाम है—श्री आचार्य देव शर्मा जी 'अभय'।

—सम्पादक

तुम में से जो ब्राह्मण हैं, उन्हें क्या कार्य करने चाहियें जब मैं इसका वर्णन करने लगा हूँ तो तुम यह आशा करोगे कि मैं कुछ 'पेशे' गिनाऊंगा, अपनी जीविका (रोजी) चलाने के कुछ धन्धे गिनाऊंगा जो कि ब्राह्मण वृत्ति वाले पुरुषों को करने चाहियें। पर सब से पहली और अन्तिम बात ध्यान देने योग्य यही है कि ब्राह्मण (बल्कि क्षत्रिय भी) कोई 'पेशा' नहीं करते हैं, कोई भी कार्य इसलिये नहीं करते हैं कि इससे इन्हें धन मिलेगा, अर्थ मिलेगा। वे तो सेवा करते हैं। सेवा के बदले में कुछ चाहते नहीं। ऐसा वही पुरुष कर सकता है, जिसे परमेश्वर पर पूर्ण विश्वास है। इसीलिये (तुमने देखा होगा कि) ब्राह्मण के गुणों में 'आस्तिक्य' को सर्वोपरि स्थान दिया गया है। जो यह विश्वास रखता है कि जिस परमेश्वर ने मुझे यह शरीर मन आत्मा दिया है, उसी ने इसको चलाने का प्रबन्ध भी कर रखा है, जिसे भगवान् की इस प्रतिज्ञा पर पूरा भरोसा है—

"तेषां सततयुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्"

वही पुरुष खाने पीने की चिन्ता में न पड़ कर सामने जो अपने योग्य सेवा कार्य देखते हैं, उसे करने लगते हैं। उन्हें ही (जैसा कि मैं आगे कहूंगा) भिक्षा स्वीकार करने का अधिकार होता है। अतः प्रारम्भिक बात यह हुई कि ब्राह्मण लोग पेशे के तौर पर कोई कार्य नहीं करते। तो भी (पेशे के तौर पर नहीं किन्तु अपने अन्तः प्रेरित कर्त्तव्य के तौर पर) जो जो कार्य करते हैं, उन्हें तुम मनु महाराज के शब्दों में निम्न प्रकार से याद कर लो—

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा
दानं प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्॥ मनु० 1/88॥

अर्थात्, पढ़ना और पढ़ाना, यज्ञ करना और यज्ञ कराना, दान देना और दान लेना, ये कार्य ब्राह्मणों के लिये विधान किये गये हैं। मैं तुम्हारा इस तरफ

ध्यान खींचना चाहता हूं कि ब्राह्मणों के लिये निर्दिष्ट किये गये इन छह कार्यों में से तीन कार्य अर्थात् पढ़ना, यज्ञ करना और दान देना ऐसे हैं जो कि आगे क्षत्रिय के लिये भी बताये हैं, बल्कि ठीक उन्हीं शब्दों में वैश्य के लिये भी कहे हैं, शेष तीन कार्य ही ऐसे हैं जो कि केवल ब्राह्मण के लिये हैं। वे हैं पढ़ाना (अध्यापन), यज्ञ कराना (याजन) और दान लेना (प्रतिग्रह)। यदि इन तीन को तुम अच्छी तरह समझ लोगे तो ब्राह्मण कार्य के सम्बन्ध में असली बातें जान लोगे।

इनमें से दान लेना (अर्थात् भिक्षाचर्या) तो और तरह की चीज है इसका वर्णन मैं पीछे करूंगा, शेष पढ़ाना और यज्ञ कराना ये दो कार्य ब्राह्मणों के करने के रह जाते हैं। पर इन दोनों को भी हमें जरा विस्तृत अर्थ में लेना चाहिये। पहले अध्यापन को लीजिये। विस्तृत अर्थ में इसका मतलब है–ज्ञान को फैलाने के सब कार्य, जिनमें पढ़ाना भी एक कार्य है। पढ़ाना अर्थात् शिक्षक, गुरु, अध्यापक या उपाध्याय, आचार्य का कार्य ब्राह्मण का ही कार्य है। यदि सचमुच शिक्षण का सारा कार्य आज देश भर में उन लोगों के हाथ में आजाय जो ब्राह्मण हैं अर्थात् जिन में (पिछली बार व्याख्या किये गये) शम, दम, तप, आस्तिक्य आदि गुण स्वभावतः हैं तो थोड़े ही काल में देश का कायापलट हो जाय। पर आजकल तो शिक्षक बनने के लिये अक्षरज्ञान या एक पाठक्रम में से गुजरा होना इतना ही काफी समझा जाता है, आचरण आदि कुछ नहीं देखा जाता। मुझे यह देख कर हंसी आती है कि प्रत्येक ऐसा व्यक्ति जिसने कुछ पढ़ लिया है, अपने को शिक्षक बनने के योग्य समझता है। कई बार रोजी ढूंढते हुए लोग यहां आते हैं और गुरुकुल में कहीं स्थान चाहते हुए कहते हैं कि "और कोई काम न हो तो छोटे बच्चों को पढ़ाने का ही काम दे दीजिये।" मानो पढ़ाने का कार्य ऐसा है जो हरेक पढ़ना जानने वाले को दे दिया जाना चाहिये। गुरुकुल के स्नातक भी प्रायः सभी पढ़ाने का कार्य प्राप्त करना सबसे अधिक पसन्द करते हैं, पर गुरुकुल में रहते हुए ब्राह्मणत्व को पाने का उतना गम्भीर यत्न नहीं करते। प्रायः स्नातक भाई मुझे कहते या लिखते हैं कि "मेरे लिये किसी स्थान का ख्याल रखियेगा, मेरी विशेष रुचि पढ़ाने के कार्य में है, यह भी ध्यान रखियेगा।" पर उनमें ब्राह्मण वृत्ति के बहुत कम होते हैं। जो ब्राह्मण वृत्ति के होते हैं उन्हें प्रायः ऐसा कहने की जरूरत नहीं होती। अभी एक स्नातक बन्धु ने जब मुझे कहा कि मैं कुछ पढ़ाने का कार्य करना चाहता हूँ तो मैंने उसे कहा कि पढ़ाने का कार्य तो बहुत है, बेहद है। उसने पूछा— कहां? मैंने कहा "तुम जानते हो हिन्दुस्तान देश में 95 फी सदी बे-पढ़े हैं, निरक्षर हैं, देश भर के लोग घोर अज्ञान में ग्रस्त हैं। तुम किसी भी गांव में जा बैठो और पढ़ाओ, शिक्षा दो।" मेरे इस उत्तर से वह समझ गया कि उसे असल में पढ़ाने का कार्य नहीं चाहिये, किन्तु उसे कोई ऐसा उपाय निकालना चाहिये जिस से वह कम से कम चालीस रुपये मासिक प्राप्त कर सके। जो ब्राह्मण होगा (उसने यदि ऐसा अध्यापन करना ही अपना कर्त्तव्य निश्चय किया होगा तो) वह तो पढ़ाने जा बैठेगा

और उसे पूर्ण विश्वास होगा कि मेरे खाने को भगवान ने वहां प्रबन्ध कर रखा है। अस्तु, मैं कह यह रहा था कि शिक्षा का कार्य ब्राह्मणों का ही है। आज बहुत सी बुराई की जड़ यह है कि हमारे बच्चों और युवकों को शिक्षा देने वाले वे हैं, जो ब्राह्मण नहीं हैं अर्थात् ऐसे लोग हैं जिनमें पढ़ाई-लिखाई की दृष्टि से बहुतेरी विद्वत्ता बेशक है पर उनमें शम, तप, आर्जव, आस्तिक्य आदि यथेष्ट मात्रा में नहीं हैं। मेरे एक सनातनी मित्र हिन्दू यूनिवर्सिटी को एक लाख रुपया इस शर्त पर देना चाहते थे कि वहां के सब प्रोफेसर ब्राह्मण (जन्म से जाति से ब्राह्मण) ही हों। पर श्री मान्य पं० मालवीय जी ने इसे स्वीकार नहीं किया। पर वे दानी महाशय यदि जन्म के ब्राह्मणों के स्थान पर शम दमादि गुणों वाले ब्राह्मणों का आग्रह करते तो मैं भी पूर्णतः उनके साथ होता। शिक्षा के लिए धन देते हुए ऐसी शर्त लगाना मैं आज भी पसन्द करता हूँ।

जब 'अध्यापन' का अर्थ मैंने 'ज्ञान-प्रसार' का कार्य किया है तो यह स्पष्ट है कि अध्यापन में प्रचारक का कार्य, उपदेश व्याख्यान देना, ग्रन्थलेखन, पत्र संचालन आदि सब आ जाते हैं। मैं क्रमशः इनकी चर्चा करता हूँ। ये सब ब्राह्मणों के ही कार्य हैं, अन्यों के नहीं। यह तो शायद हम सब अनुभव करते हैं कि प्रचारक बनना जनता को शिक्षित करना, लोगों में उनके हित की बातें बताना, ज्ञान चर्चा करना, व्याख्यान, उपदेश आदि देना यह उन्हीं को करने का अधिकार है जो ब्राह्ममण वृत्ति वाले हैं। जब दूसरे लोग प्रचारक हो जाते हैं तो लाभ की जगह भारी हानि होती है। पर आजकल हरेक चीज व्यावसायिक हो गई है। धनी लोग, व्यावसायिक कंपनियां, पार्टियां या सरकारें अपने धनबल से या सत्ताबल से असत्य का, हानिकारक विचारों का भी प्रचार करती हैं। उनके रखे हुए 'प्रचारक', 'उपदेशक' बेखटके अनर्थ करते हैं, दुनिया को धोखे देते हैं। पर जो प्रचारक ब्राह्मण होगा, वह कभी ऐसा नहीं करेगा। वह कभी अपनी आत्मा को नहीं बेचेगा। वह न धन के लोभ में फंसेगा और न किसी से डरेगा। वह तो इन सबसे ऊंचा रहता हुआ जो कुछ सत्य होगा, कल्याणकारी होगा, उसे ही कहेगा, उसका प्रचार करेगा। वह धन की व राजा की परवाह नहीं करेगा। 'ब्राह्मण' की 'गौ' ही उसका हथियार है जिससे वह बड़े से बड़े अभिमानी राजा को भी परास्त करके सत्य का प्रचार करता हुआ विजय लाभ करता है। इसलिए प्रचारक व उपदेशक बनना ब्राह्मण का ही अधिकार है। यहां पर भी मैं फिर एक बार दोहरा दूं कि जिस ब्राह्मण ने प्रचारक बनना है, वह यह प्रतीक्षा नहीं करेगा कि उसे फलानी संस्था द्वारा कम से कम इतने रुपयों पर नियत किया जायेगा, तब वह प्रचार करेगा। वह तो स्वयं अपना क्षेत्र चुनेगा या फिर लोग उसे स्वयं निमन्त्रण देंगे जिसे वह स्वीकार या अस्वीकार करेगा। ऋषि दयानन्द को पीछे से तो निमन्त्रण आने लगे थे और वे जहाँ जाते थे प्रायः उसी के 'धर्म' का खण्डन करते थे, पर पहले तो वे स्वयमेव डंडा लेकर खड़े हो जाते थे और गरजने लगते थे। लेकिन अपनी अन्तरात्मा की प्रेरणा से, किसी भी अन्य शक्ति की आधीनता से नहीं।

इसी तरह ग्रन्थ-लेखन का कार्य है जो आजकल पेशा हो गया है और व्यावसायिक ढंग पर चलता है। रद्दी और गन्दी चीजें धड़ाधड़ छप रही हैं और जो अच्छे-अच्छे साहित्य हैं, उन्हें कोई प्रकाशक ही नहीं मिलते। प्रकाशक कहते हैं कि यह चीज तो बड़ी अच्छी है पर क्या करें यह बिकेगी नहीं। दो आने, आठ आने प्रति पृष्ठ देकर प्रकाशक लोग जनता की खराब, नीची रुचि के अनुसार साहित्य लिखवाते हैं। जनता की रुचि को भी सुधारना, उन्नत करना चाहिए, इससे अपना कुछ सम्बन्ध नहीं समझते। यह सब इसीलिए है कि ग्रन्थ लेखन का कार्य ब्राह्मणों के हाथ में नहीं रहा। हम देखते हैं पश्चिम में या इधर जो बड़े-बड़े वैज्ञानिक पुरुष या कोई अन्य ज्ञानमयी रचना करने वाले पुरुष हुए हैं, उन्हें अपने जीवन में ख्याति भी नहीं मिली, वे बड़ी तंगी और दरिद्रता का जीवन बिताते रहे। प्रायः उनकी कद्र उनके मरने के बाद संसार ने की। ब्राह्मण लेखक तो ऐसे होते हैं। यदि तुममें से किसी ब्राह्मण के अन्दर कोई सचमुच समय की आवश्यकता को पूरा करने वाले ज्ञान भरे ग्रन्थ के लिखने की प्रेरणा होती है तो उसे समझ लेना चाहिए कि इसके लिए उसे जीवन व्यापी तपस्या की जरूरत होगी। पर ब्राह्मण को ऐसी तपस्या निःसन्देह प्यारी लगेगी। श्री स्नातक जयचन्द्र जी विद्यालंकार ने ही अपनी वह इतिहास की पुस्तक दस, बारह वर्ष के विशेष प्रयत्न से लिखी है। सचमुच लोगों ने जीवन भर के प्रयत्न से ही ग्रन्थरत्न निकाले हैं। आपटे ने जो अंग्रेजी-सस्कृत कोश लिखा है, उसके लिए उसने बहुत भारी प्रयास किया था, अपनी आँखें तक खो दीं, ऐसा कहा जाता है। कई यूरोपियनों के बारे में जब हम सुनते हैं कि उन्होंने बीस या तीस वर्ष लगातार वैदिक साहित्य का अध्ययन किया तो हमें लज्जा आती है और दुःख होता है कि अपनी शताब्दी मना लेने पर तथा बहुत से स्नातक निकाल लेने पर भी आर्यसामाजिक साहित्य की दिशा में कोई महान् कार्य हम नहीं कर सके हैं।

पत्र-संचालन का कार्य भी किसी प्रकार ब्राह्मणों के हाथ में नहीं है। अखबार नवीस तो ऐसे हैं जो कि वही बात अखबार में लिखेंगे जिससे अखबार ज्यादा बिकें, चाहे उन विचारों से जनता का कितना ही नुकसान हो। साम्प्रदायिक अखबार अपनी बिक्री के लिए हिन्दुओं और मुसलमानों को भड़काने वाली बातें मोटे-मोटे अक्षरों में झूठी सच्ची लिखेंगे, यह नहीं सोचेंगे कि इससे देश का कितना भारी नुकसान वे कर रहे हैं। आर्यसामाजिक अखबार भी गन्दे से गन्दे इश्तिहार छापेंगे, क्योंकि उनसे अधिक से अधिक पैसे मिलते हैं। यह तो साफ है जो जितना झूठा या गन्दा इश्तिहार छपाना चाहेगा वह उसके लिए उतना ही अधिक पैसा देने को तैयार होगा। इन सब अनर्थों से रक्षा तभी हो सकती है यदि यह ज्ञानप्रसार का कार्य (पत्र सम्पादन) भी ब्राह्मण वृत्ति वाले पुरुषों की आधीनता में हो। आज ब्राह्मण कार्य करने वाले पत्रों की सख्त जरूरत है। जो राजा महाराजाओं से भी किसी तरह की रिश्वत न लेवें, जो सरकार की सच्ची आलोचना करने से न डरें, धन के लिए झूठे, गन्दे तथा विदेशी-वस्तु-प्रचारक इश्तिहार न छापें और अपने लेखों, टिप्पणियों,

समाचार संग्रहों द्वारा जनता में निष्पक्षपात सच्चे, कल्याणकारी ज्ञान को फैलायें, ऐसे ही पत्रों की जरूरत है। क्या तुममें से कोई ब्राह्मण-स्नातक इसके लिए तैयार हो रहे है? यह सब बड़ी तपस्या से सिद्ध होने वाले कार्य हैं। मुझे याद है कि कानपुर में जब 'प्रताप' साप्ताहिक प्रारम्भ हुआ था तो कितनी मुश्किलों का सामना करना पड़ा था। स्वनामधन्य गणेशशंकर जी का ही सामर्थ्य था कि उस सब आर्थिक कष्ट, विरोध, घर वालों से भी जुदा होना, पग-पग पर अड़चनें आना इस सबको सहते गये और लोगों में राष्ट्रीय जागृति पैदा करने के ध्येय से इस पत्र को चलाकर छोड़ा। अब तो 'प्रताप' का अपना प्रेस है, विज्ञापनों से खूब आमदनी होती है, कार्यकर्त्ताओं की कोई कमी नहीं है। दैनिक 'अर्जुन' के संपादक श्री पंडित रामगोपाल जी से कभी पूछना तो पता लगेगा कि उन्होंने हिन्दी पत्र सचालन के कार्य को कितनी मुसीबतें झेलकर, कितने वर्षों के सतत परिश्रम के बाद हस्तगत किया है। पर शुद्ध ब्राह्मणवृत्ति से पत्र चलाना और भी कठिन है। वह किसी-किसी के ही बस का काम है।

अस्तु, इन सब ज्ञान-प्रसार के कार्यों को तथा अन्य ऐसे कार्यों को तुम मनु महाराज के 'अध्यापन' इस शब्द द्वारा याद रख सकते हो।

अब मैं दूसरे 'याजन' शब्द पर आता हूं। इसे भी तुम विस्तृत अर्थ में लो। 'यज्ञ कराना'--इसका मतलब इतना ही नहीं है कि अग्निहोत्र के अनुष्ठानों में, संस्कारों में या किन्हीं बड़े बड़े कर्मकांड के यागों में पुरोहित ब्रह्मा आदि बनना, किन्तु सभी सार्वजनिक परोपकार के कार्यों का संचालन करना। संसार में समय समय पर जो भिन्न-भिन्न रूप में अनिष्ट, अनर्थ, पाप के चक्र चलने लगते हैं तो उनकी प्रतिक्रिया में सच्चे ब्राह्मणों को हमेशा ही कोई यज्ञचक्र प्रवर्तित करने होते हैं। इन यज्ञों को कराना, यज्ञचक्रों को चलाना यह ब्राह्मण का काम है। ब्राह्मण अपने ऊंचे ज्ञान द्वारा बुराई को ठीक ठीक समझ लेता है और उसके प्रतिविधान का भी दर्शन कर लेता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में आता है कि अमुक समय में अमुक ऋषि को इस यज्ञ का दर्शन हुआ। एवं यज्ञ के दर्शन करने की और अतएव यज्ञ को चलाने की, यज्ञ कराने की शक्ति ब्राह्मण में ही होती है अत: याजनकार्य ब्राह्मण का ही है। याजन तो सब करते हैं। जब ब्राह्मण ने यज्ञ बता दिया तो उसे करते तो क्षत्रिय भी हैं, वैश्य भी हैं, परन्तु याजन ब्राह्मण ही करता है, नेतृत्व वही करता है। यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिये। देश के या जगत् के सब शुभ आन्दोलन, सब परोपकारिणी प्रवृत्तियां यज्ञ हैं और उन्हें चलाने वाले ब्राह्मण होते हैं। संसार में जो अशुभ संगठन हो गये हैं, शोषण के चक्र चलने लगे हैं, उसका कारण यह है कि ब्राह्मणों का नेतृत्व नहीं रहा है। उसके संगठनों या चक्रों में हिस्सेदार होना अब्राह्मणों के चलाये 'यज्ञ' में उन्हें 'यज्ञ' शब्द से पुकारना ही नहीं चाहिये) सम्मिलित होना है। उदाहरण के लिए विदेशी कपड़े का व्यापार एक पापचक्र है जिसके प्रतिविधान में में एक महान् ब्राह्मण (गांधी जी) ने सूत्रयज्ञ (कातने का यज्ञ) चलाया है। सो यह

यज्ञ करना तो इस समय सबका कार्य है, पर इसे कराना ब्राह्मण का कार्य है। अन्य लोग चर्खा इसलिये कातेंगे कि इससे सूत पैदा होगा और सच्ची स्वदेशी की मांग पूरी होगी, पर ब्राह्मण इसलिये कातेगा कि जिससे यह यज्ञ विस्तृत हो, प्रचारार्थ कातेगा। श्री विनोबा जी यदि छह छह घण्टे कातते या इस सम्बन्ध में अन्य परीक्षण करते, चरखे आदि उपकरणों के सुधार पर ध्यान देते हैं तो यह सब यज्ञ कराने के लिये है। इसी तरह यदि इस समय गोपालन की तरफ ध्यान देने की विशेष जरूरत है तो यद्यपि यह वैश्य का कार्य है तो भी इसका पुनरुद्धार करने के लिए इस विज्ञान का अध्ययन करना, स्वयं गौएं रखकर और उनकी सब तरह की सेवा करके इस विद्या का आविष्कार करना यह ब्राह्मण करेगा और यह याजन (यज्ञ कराना) कहलायेगा। राष्ट्र एक यज्ञ है। इस यज्ञ को करने वाला तो क्षत्रिय (राजा) होता है, पर इस यज्ञ को कराने वाला (राजपुरोहित) ब्राह्मण होता है। उस पुरोहित को कानूनी तौर से राजा पर कोई अधिकार होता था यह नहीं कहा जा सकता, पर यह एक प्रथा थी या अलिखित कानून (Convention या Unwritten law) था कि राजा को उसकी बात माननी ही चाहिये। एवं राज्य को पीछे से अप्रत्यक्ष तौर पर किन्तु असल में चलाने वाला ब्राह्मण ही होता था। आज कांग्रेस में जो गांधी जी की स्थिति है, उसे देखकर तुम उसका साक्षात् उदाहरण पा सकते हो। गांधी जी आज कांग्रेस के मामूली चार आने के सदस्य भी नहीं हैं अतः उन्हें किसी भी स्थानीय या प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी में भी मत देने का अधिकार प्राप्त नहीं, पर फिर भी कांग्रेस की अखिल भारतीय कार्य समिति स्वेच्छा से उनकी सलाह को सर्वोपरि मानती है, बल्कि उनकी सलाह बिना कुछ नहीं कर सकती है, यह कहना भी गलत नहीं है। तो यह गांधी जी की ब्राह्मण शक्ति है जिसके कारण वे इस तरह आज राष्ट्रोत्थान यज्ञ (कांग्रेस) के पुरोहित बने हुए हैं। आशा है इस सब कथन से मैं तुम्हें समझा सका हूँगा कि 'यज्ञ कराना' इस कार्य का क्या तात्पर्य है। इससे यह भी स्पष्ट है कि संसार का कोई भी कार्य ऐसा नहीं है जिसे कि परोपकार की दृष्टि से, यज्ञ कराने के प्रयोजन से ब्राह्मण के लिए अकरणीय कहा जा सके। क्षत्रियों और वैश्यों के सभी कार्य सुधार के लिए, ठीक नेतृत्व के लिए, ब्राह्मण कर सकता है। अर्थात् वह युद्ध कार्य में तथा व्यापार के कार्यों में भी कभी सक्रिय हस्तक्षेप कर सकता है, ऐसा करना उसका आवश्यक कर्त्तव्य हो जाता है। आगे मैं कहूँगा कि क्षत्रिय को तथा वैश्य को अपने सब कार्य व पेशे यज्ञ भावना से करने चाहिये अपने-अपने यज्ञ करना क्षत्रिय और वैश्यों के लिए आवश्यक कर्त्तव्य है। अतः जब कभी क्षत्रियों या वैश्यों के कर्त्तव्य में कोई बिगाड़ हो जाता है, उसे ठीक करके यज्ञ रूप में चलाना ब्राह्मण का कर्त्तव्य हो जाता है। यह सब ब्राह्मण के 'याजन' कर्त्तव्य में आ जाता है।

तुम में से जो आयुर्वेद महाविद्यालय में पढ़ते हैं, उन्हें मैं कहना चाहता हूँ कि असल में, वैद्य, चिकित्सक होना यह भी ब्राह्मण का कार्य है। कम से कम वेद में मैंने यही पाया है। ऋग्वेद के औषधि सूक्त में कहा है :—

यत्रौषधी: समग्मत राजान: समिताविव ।

विप्र: स उच्यते भिषक् रक्षोहामीवचातन: ।।01।97।6।।

इसमें स्पष्ट 'विप्र' विशेषण से भिषक् (वैद्य) का लक्षण किया गया है । इस का अर्थ यह है कि जैसे युद्ध में क्षत्रिय इकट्ठे होते हैं, उस तरह जिस के पास सब ओषधियां आकर एकत्र हो जाती हैं ऐसी विप्र (ब्राह्मण) वैद्य कहलाता है, जो उन द्वारा राक्षसों का हनन करने वाला और रोगों का विनाश कर देने वाला होता है । इसका तात्पर्य मुझे यह लगता है कि जैसे युद्ध में क्षत्रियों का ठीक-ठीक उपयोग ब्राह्मण करता है, वैसे ही दुनिया में फैले हुए राक्षसों (रोगबीजों) या व्याधियों से लड़ने और उन्हें इस युद्ध में परास्त करने के लिए मानो सब ओषधियां ब्राह्मण वैद्य के नेतृत्व में इकट्ठी हो जाती हैं अर्थात् ब्राह्मण वैद्य को सब ओषधियों का इतना ज्ञान होता है और उन पर उसका इतना पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त होता है कि वह ओषधियां मानो हाथ जोड़कर उसकी आज्ञा पालन के लिए सब की सब उसके पास एकत्र हो जाती हैं । इसी तरह एक दूसरे मन्त्र में कहा है :—

ओषधय: संवदन्ते सोमेन सह राज्ञा ।

यस्मै कृणोति ब्राह्मणस्तं राजन् पारयामसि ।।

इसमें तो स्पष्ट ब्राह्मण शब्द है । इसमें कहा है कि ओषधियां सोम राजा को कहती हैं कि हे राजन् ! ब्राह्मण (वैद्य) हमें जिस किसी (रोगी) को देता है उसे हम (दुस्तर रोग से भी) पार कर देती हैं ।

अत: वेद को तो वैद्य का ब्राह्मण होना ही अभीष्ट प्रतीत होता है । परन्तु आजकल यह भी धन कमाने का ही एक जबरदस्त पेशा समझा जाता है क्योंकि रोग-ग्रस्त पुरुष अपनी बेबसी में सब कुछ देने को तैयार होता है । जैसे मैंने कहा कि अधिक से अधिक गन्दे इश्तिहार से अधिक से अधिक पैसे अखबार वालों को मिलते हैं, वैसे ही अधिक से अधिक दु:खी (रोगग्रस्त) से चिकित्सक को अधिक से अधिक पैसे मिलते हैं । पर ऐसी बुरी कमाई तो वैश्य वैद्य को भी नहीं करनी चाहिये, जैसे कि मैं वैश्य के प्रकरण में कहूँगा । तो भी आज तो दूसरे की विवशता से लाभ उठाना जिस किसी तरह पैसा कमाना मनुष्यों का ध्येय सा हो गया है । पर अब भी कहीं-कहीं ब्राह्मण वैद्य मिल जाते हैं, तुम्हें उनका अनुकरण करना चाहिये । उनके सामने पैसे का जरा भी विचार नहीं होता और वे केवल रोगियों को रोगमुक्त करने और इसके लिए सेवा-परायण होने में ही परमानन्द पाते हैं पर प्राय: देखा जाता है कि उन्हें पैसे की भी कभी कमी नहीं रहती । हमारे डाक्टर चिरञ्जीव भारद्वाज थे जो कि कभी-कभी गरीब बीमारों को दवाई ही मुफ्त नहीं किन्तु उनके दूध आदि के लिए रुपये भी अपने पास से दे दिया करते थे । ऐसे भी वैद्य हैं जो देना चाहने वालों के लिए दानपात्र में धन डालने की व्यवस्था करते हैं, यह भी नहीं देखना चाहते कि किसने कितना रुपया दिया है । मतलब यह है कि जो ब्राह्मण होगा और चिकित्सक का कार्य करना चाहेगा तो वह इसीलिये चाहेगा कि चूंकि उसे जगत् में फैली हुई

व्याधियों और रोगग्रस्त नर-नारियों की दशा देखकर अत्यन्त करुणा आयी होगी। धन के लिए नहीं, किन्तु अपनी हृदय की व्यथा मिटाने के लिए वह धंधा शुरू करेगा। वह तो साफ़ ही है कि ब्राह्मण कभी दूसरों के अज्ञान का, दरिद्रता का या अन्य बेबसी का फायदा उठाकर कोई अपना स्वार्थ सिद्ध नहीं करना चाहेगा जैसा कि आजकल चारों तरफ हो रहा है और ब्राह्मण कहलाने वालों द्वारा भी निःशंक हो रहा है।

इस तरह चिकित्सा के साथ वकालत का पेशा भी धन संग्रह का कामधेनु पेशा समझा जाता रहा है। पर वह भी असल में ब्राह्मण का पेशा है क्योंकि कानून के ज्ञान द्वारा दूसरे न जानने वालों की ठीक-ठीक सेवा करना यही वकालत करने का प्रयोजन है। ऐसा ब्राह्मण वकील (प्राड्विवाक्) झूठे मुकद्दमे लड़ाने को कभी तैयार नहीं होगा, यद्यपि यहां भी जितना ही अधिक झूठा मुकद्दमा हो उतना ही अधिक धन मिलता है।

तात्पर्य यह है कि ज्ञान द्वारा सेवा करने के सब कार्य ब्राह्मण के ही हैं। ब्राह्मण ने ही सच्चे ज्ञान की उपासना की होती है और इस ज्ञान के कारण ही प्रत्येक प्रकार के यज्ञ को चलाने का अधिकार भी केवल ब्राह्मण को प्राप्त है। ब्राह्मण की इस शक्ति को अवस्थानुसार ज्ञानशक्ति, ब्रह्मशक्ति, वाणी की शक्ति, तपःशक्ति, अध्यात्म शक्ति आदि नामों से पुकारा जाता है। अध्यात्मशक्ति यह नाम पुकारने से एक और तरफ ध्यान जाता है जिसे तुम्हारे लिए प्रकट करना जरूरी है। वह है योग का क्षेत्र। योगमार्ग के अद्भुत चमत्कार सच्ची अध्यात्मशक्ति पर ही अवलम्बित हैं। सर्वोच्च ब्राह्मण जो हैं, वे इसी महती योगशक्ति द्वारा जगत् को हिलाते हैं। अतः तुम में से ब्राह्मण स्नातक जहाँ बड़े-बड़े गुरू व आचार्य बनें, प्रभावशाली उपदेष्टा बनें, वेद, वेदांग, चिकित्सा, मनोविज्ञान, भौतिकविज्ञान, रसायन, ज्योतिष, कला आदि अनन्तों विद्याओं में से किसी के भी अद्वितीय ग्रन्थकार बनें, सच्चे पत्रकार हों या दिव्य पीयूषपाणि वैद्य हों, प्रसिद्ध राज नियम निर्माता वा राजपुरोहित हों या किसी भी दिशा के धुरन्धर पडित अग्रणी व नेता हों. वहां तुम में से कुछ ऊंचे महान् योगी भी बनें यह मेरी आन्तरिक अभिलाषा है। मेरी ही नहीं, शायद आर्य-जनता और सब की अभिलाषा है। पश्चिम मे जो पिछले बीस-तीस वर्षों में विरोधी शक्तियों का संघर्ष और विचारों का मन्थन जोरशोर से चल रहा है, उससे वहां सच्ची अध्यात्मशक्ति पाने की प्यास पैदा हुई प्रतीत होती है और लोग स्वभावतः इसके लिये भारत की तरफ देखने लगते हैं और जो भी कोई ऐसा जिज्ञासु भारत में आता है तो उसकी दृष्टि गुरुकुल की तरफ जरूर जाती है, बीसियों पाश्चात्य लोग इस खोज में गुरुकुल आचुके हैं। पर मैं देखता हूँ कि अभी हमारे पास ही कुछ देने लायक वस्तु नहीं कही जा सकती। क्या तुम में से किसी ब्राह्मण को योगमार्ग में जीवन खपा देने की इच्छा पैदा नहीं होती? इसमें तो सन्देह नहीं है कि संसार में सर्वोच्च प्रकार के ज्ञान का अवतरण योग द्वारा ही किया जा सकता है और संसार रूपी यज्ञ की प्रक्रियाएं चलाना, इनका सर्वोत्कृष्ट प्रकार से याजन योगशक्ति द्वारा ही

किया जा सकता है। आज लोग बड़े बड़े धावे बोलते हैं, महान् कार्य हाथ में लेते हैं, कोई दुनिया भर की यात्रा करता है, कोई समुद्र तैरता है, कोई हिमालय की चोटियों या ध्रुवों में पहुंचने का प्रयत्न करता है। परन्तु ये सब तो क्षत्रियों के साहस हैं। पर ब्राह्मणों की महत्वाकाक्षाओं के विषय या भारतवासियों को शोभने वाले एक्सिपडिशन्स तो यह हैं कि कई जन्म लगा कर भी योग की सिद्धियों विभूतियों को प्राप्त किया जाय। योग-सिद्धियों को प्राप्त करने की इच्छा करना कोई बुरा नहीं है, यदि यह उचित मनः स्थिति के साथ किया जाय। अभी तक इधर हमारी अप्रवृत्ति का मुख्य कारण मेरी समझ में हमारी घोर अशक्तता, कमजोरी या इन बातों को असंभव समझना, इन पर अविश्वास होना है, न कि इन सिद्धियों के प्रति हमारा सच्चा वैराग्य। कहने का मतलब यह है कि यदि तुम में से किसी की अन्तरात्मा महान् योगी बनने को उद्बुद्ध होना चाहती है तो वह बेशक इस दुर्गम मार्ग पर आवे। वह गुरुकुल माता के सर्वोत्कृष्ट ब्राह्मण पुत्रों में गिना जायगा।

ब्राह्मण के तीसरे प्रतिग्रह (भिक्षा लेने) के विषय में शायद मुझे अब अधिक कहने की जरूरत नहीं रही। चूंकि ब्राह्मण का अपना कुछ नहीं होता। उसका सब जनता का या संसार का होता है, अतएव वह जो कुछ होता है वह सबके लिए होता है, उसके अपने लिए नहीं। अतएव ब्राह्मण को अग्नि कहा है। जैसे— अग्नि में डाला हुआ पदार्थ सूक्ष्म होकर सब जगह पहुँच जाता है वैसे ही ब्राह्मण को दी गयी भिक्षा सार्वजनिक हित करने वाली होती है। स्वार्थी और अज्ञानी पुरुष को अर्थात् अब्राह्मण को दिया गया दान ऐसा फल नहीं ला सकता। अतएव वैदिक-वर्ण मर्यादा में ब्राह्मण को ही भिक्षा लेने का अधिकार दिया है, अन्यों को नहीं; क्षत्रिय सरकार द्वारा तथा अन्य संस्थाओं द्वारा पालन-पोषण प्राप्त करता है और वैश्य अपने कमाये धन पर जीता है। पर ब्राह्मण परमात्मा के भरोसे रहता है और इसी का नाम भिक्षा है। वह अपनी सेवा के बदले में बाहर के किसी प्रतिफल की आकांक्षा नहीं रखता। सेवा के फलस्वरूप वह न धन चाहता है और न यश। वैश्य धन चाहता है, प्राप्ति की इच्छा से प्रेरित होकर वह काम करता है, यह कहा जा सकता है। क्षत्रिय यद्यपि धन नहीं चाहता तो भी यश और मान चाहता है, यश की इच्छा करना उसे त्याज्य नहीं है। पर ब्राह्मण के लिये तो कहा है कि मान से वह विष की तरह दूर हटे और अपमान को अमृत समझ कर ग्रहण करे अर्थात् ब्राह्मण मान और अपमान के प्रभावों से भी प्रभावित नहीं होता। तो फिर ब्राह्मण क्या चाहता है ? इसका उत्तर है अन्तरात्मा की सन्तुष्टि। न उसे धन से तृप्ति मिलती है न मान से। केवल अन्तरात्मा की आवाज को (ईश्वरीय आज्ञा को या भगवान् की इच्छा को) पूरा करने में वह जो निरन्तर परमानन्द पाता है, इसके सिवाय उसे और कुछ नहीं चाहिये। यह अन्तरात्मा की संतुष्टि उसकी सब क्रियाओं की प्रेरक कारण होती है, दूसरा कोई भी भाव नहीं।

याद रखो कि क्षत्रियों और वैश्यों को ठीक करना, सुधारना ब्राह्मण शक्ति द्वारा ही हो सकता है अर्थात् वर्णाश्रम व्यवस्था का पुनरुद्धार जगत् में उत्पन्न होने

वाले सच्चे ब्राह्मणों द्वारा ही संभव है। वैश्यों को चाहे कुछ हद तक क्षत्रिय भी सुधार सकें पर क्षत्रियों को और वैश्यों को ठीक प्रकार मर्यादा में लाना ब्रह्म शक्ति के ऊपर उठने से ही हो सकता है। पर आज संसार में धन शक्ति का ही प्रभुत्व है। क्षत्रिय और ब्राह्मणों को धन ने खरीद रखा है। बड़े बड़े विद्वान् वैज्ञानिक रुपयों वालों की गुलामी में बैठे हुए मारने की गैसों तथा अन्य हत्या के सामान बनाने में अपनी सब ज्ञानशक्ति लगा रहे हैं। कहीं युद्ध चाहने वाले लोग युद्ध करा देते हैं और विद्वान् ब्राह्मणों को भी इस के लिए मजबूर होना पड़ता है। इसका मतलब है कि ब्राह्मण निस्तेज हो गये हैं, ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं रहे। भगवान् से माँगना (भिक्षा) छोड़ धनियों से जीवन (धन) माँगने लगे हैं। कहते हैं कि गत यूरोपीय महायुद्ध के दिनों में इंग्लैंड ये सब अखबार एक समय लायड जार्ज के खरीदे हुए, पूरी तरह उसके हाथ में थे। एक शब्द भी उसकी इच्छा के विरुद्ध किसी अखबार में नहीं लिखा जा सकता था। पर धन ने क्षत्रियों को भी कैसे खरीदा हुआ है इसका सब से उत्तम नमूना तब देखा गया जब कि जर्मनी के गोलाबारूद के कारखाने वालों ने न केवल अपनी बिक्री के लिए लड़ाई शुरू करवा दी किन्तु जब उन्हें कुछ दबाने का यत्न किया गया तो उन्होंने अपना गोला बारूद फ्रांस भेजना शुरू कर दिया और जर्मनी का बना हुआ गोला बारूद जर्मन सिपाहियों पर ही पड़ने लगा और उनकी हत्या करने लगा। इस तरह आज सारा क्रम ही उलटा हुआ है, ब्राह्मण क्षत्रियों के आधीन हैं और ब्राह्मण सहित क्षत्रिय वैश्यों के आधीन है। तो आज ब्राह्मणत्व को ठीक स्थान पर स्थापित करना कितना कठिन है? पर इसी पर संसार का भविष्य निर्भर है। क्या तुममें से किन्ही को वर्तमान जगत के अन्तरात्मा की सच्चे ब्राह्मणों के लिए की गयी पुकार सुनायी देती है? और क्या तुममें से किन्हीं के आन्तर-हृदयों से उसके प्रत्युत्तर में शान्त 'हाँ' निकलती है।

क्षत्रिय वृत्ति

यह लेख 'गुरुकुल' के शुक्रवार 26 चैत्र 1994 (8 अप्रैल 1938) अंक से उद्धृत है।
—सम्पादक

क्या तुममें से कोई क्षत्रिय बनने वाले हैं ? किनका अन्तरात्मा क्षत्रिय-धर्म की पुकार को सुनता है और उसको पूरा करने के लिए मानो तड़पता है ? सच्चे क्षत्रियों की आज अत्यन्त आवश्यकता है। कुपित हुए वैश्यत्व एवं बनियेपन ने आज क्षत्रियत्व को दबा रक्खा है। इसलिये आज सच्चे (वैदिक धर्म की कल्पनानुसार) क्षत्रिय बनना संसार में एक कल्याणकारी क्रान्ति प्रारम्भ करना है। तो यदि संसार में जो क्षत्रियों का स्थान है, उसे तुम पाना चाहते हो तो तुम में निम्न लिखित स्वाभाविक-गुण प्रकट होने चाहियें—

शौर्यं तेजो धृति दाक्ष्यं, युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रकर्म स्वभावजम्॥

शौर्य, शूरता, बहादुरी, कठिनाई का मुकाबिला करने का शौक क्षत्रिय में स्वभावतः होता है। जितनी बड़ी मुसीबत सामने आवे, उतना ही अधिक उत्साह उसमें उमड़ता है। मुश्किल कठिनाई को तो वे मानो निमन्त्रण देते हैं। संसार की बड़ी से बड़ी जो आपत्ति, जोखिम हो सकती है वह सामने आवे, उनकी वीरता किसी भी बाधा व भय से नहीं घबराती बल्कि बाधा के सामने आने पर द्विगुणित होती है। और भय को तो वह जानती ही नहीं। यह कहा जा सकता है कि क्षत्रिय की निर्भयता का ही भावात्मक नाम शौर्य है। बल्कि क्षत्रिय के तेज, धृति, अपलायन आदि अन्य गुण भी निर्भयता के ही भावात्मक रूप या परिणाम हैं। अस्तु—इसी शौर्य (या भावात्मक निर्भयता) के कारण क्षत्रिय के अन्दर तेज होता है, जिससे दुश्मन को डर लगता है। उसके बहुत से काम इस तेज के कारण हो जाते हैं, उसे उसे कुछ करना नहीं पड़ता। हम अपने समय कहा करते थे कि यदि लाला नन्दलाल जी (उस समय के गुरुकुल के प्रसिद्ध सहायक मुख्याधिष्ठाता) अपनी मूंछों पर हाथ लगाते हुए अपने कार्यालय में मौजूद हैं यह मालूम रहे (अथवा महात्मा मुन्शीराम

अपने बंगले के बरामदे में घूमते दीखते रहें) तो इतने से ही गुरुकुल का सब काम ठीक चलता रहता है। बहुत सा काम उनका तेज कर देता है। बहुत से शत्रु तो क्षत्रिय के तेज से ही परास्त हो जाते हैं, उसे हथियार उठाने की जरूरत नहीं होती। शायद इसी आशय से वेद में कहा है :—'भय दधाना: हृदयेषु शत्रव: पराजितासो अप निलयन्ताम्'। तो दुश्मन को डराने वाला, तपाने वाला यह स्वाभाविक तेज क्षत्रिय का प्रसिद्ध गुण है। धृति, धैर्य क्षत्रिय का प्रसिद्ध गुण है। क्षत्रिय कभी धैर्य नहीं छोड़ता, कभी भी हताश नहीं होता। बिल्कुल विपरीत अवस्थायें आ जाने पर भी वह कभी हतोत्साह नहीं होता, युद्ध के चाहे जितना लम्बा खिंच जाने से वह अधीर नहीं हो जाता। वह अनन्त काल तक लगे रहने की, लड़ाई जारी रखने की, कर्तव्य को न छोड़ने की सामर्थ्य रखता है। यह है धृति। अगला गुण है दक्षता, निपुणता, कुशलता, चतुराई, काम करने, काम कराने, कार्य संगठित करने की, कार्य के लिए सब उपयोगी मनुष्यों और उनकी शक्तियों को संगठित करने की, प्रबन्ध करने की, शक्ति संचालन करने की योग्यता, क्षमता, कुशलता। आगे मैं क्षत्रिय के कार्यों में प्रबन्ध (सब प्रकार का शासन) बतलाऊँगा। उस कार्य के लिये यह गुण स्वाभाविकतया आवश्यक है। इस दक्षता में ज्ञान व बुद्धिमत्ता अपेक्षित है। यद्यपि ब्राह्मण जैसी उच्चज्ञान की शक्ति क्षत्रिय के पास नहीं होती। पर इसका यह मतलब नहीं कि वह ज्ञानवान् नहीं होता। बल्कि ब्राह्मण से उतर कर ज्ञानी वही होता है। युद्ध से न भागना, डटे रहना, कभी पीठ न फेरना, आग्रहीं व जिद्दी होना यह भी क्षत्रिय का स्वभाव प्रसिद्ध है। पिछले सत्याग्रह के आन्दोलनों में हजारों मामूली दिखाई देने वाले भारत-वासियों में छिपा हुआ क्षत्रिय स्वभाव प्रकट हो गया। किस तरह सत्याग्रही डटे रहे, इसके सैकड़ों उदाहरण हैं जो अखबार पढ़ने सुनने वालों से छिपे नहीं है। ऐसे भी बहुत हैं जो अखबारों में कभी नहीं छपे। तुम्हारे पास के ही एक गांव में एक कुम्हार के लड़के ने, सन् 1930 में जब रुड़की तहसील में आतंक जमाने को फौज घुमाई गयी, तब अपने गांव के पेड़ पर लगे 'राष्ट्रीय झंडे' को, जब तक अपने होश में रहा, नहीं उतरने दिया। एक दूसरे वीर युबक को कोर्ट में झण्डा लाने और नारे लगाने के अपराध में जब बेंतों की सजा दी गई तो प्रत्येक बेंत पड़ने पर वह उतने ही जोश से 'गांधी की जय' व 'वन्दे मातरम्' के नारे लगाता गया। क्षत्रिय कभी हार नहीं सकता, वह मर सकता है या कुछ देर के लिए मजबूर रह सकता है किन्तु हार नहीं सकता।

क्षत्रिय का अगला स्वभाव है दान। ब्राह्मण की तरह क्षत्रिय भी संग्रह नहीं कर सकता अपितु त्यागता है, देता है। संग्रह करना तो वैश्य का काम है। क्षत्रिय तो शक्ति का ही संग्रह करता है जैसे ब्राह्मण ज्ञान का संग्रह करता है। क्षत्रिय उदार स्वभाव होता है। अनुदारता अथवा तंगदिली क्षत्रिय के साथ नहीं रह सकती।

क्षत्रिय शत्रु के प्रति भी अनुदार नहीं रह सकता। यहाँ पर वह दृश्य स्मरण करने योग्य है जबकि रामचन्द्र जी ने रावण के धनुष बाण रथ तोड़ दिये और घोड़े मार दिये तो उस निहत्थे पर यह कह कर वार नहीं किया कि पहले नये धनुषबाण रथ आदि ले आओ, तब लड़ाई लड़ेंगे। यह है असली क्षत्रिय स्वभाव, उदारता। पर क्षत्रिय के दान स्वभाव का असली और मौलिक अर्थ है समर्पण। क्षत्रिय अपने देश के लिये अथवा किसी महान् लक्ष्य के लिये समर्पित हुआ होता है। यही क्षत्रिय का क्षत्रियत्व है। वह अपने देश के लिये प्रजा, गौ, निर्बलों, सताये हुओं, अथवा धर्म की रक्षा के लिये या अपने किसी महान् वीरता-पूर्ण लक्ष्य के लिये अपना धन सुख सम्पत्ति आदि ही नहीं किन्तु अपना सब कुछ अपने प्राण तक दे चुका होता है। यह सब कुछ देने की शक्ति उसमें जिस स्रोत से आती है वह क्षत्रिय का अन्तिम और आधारभूत गुण ईश्वर भाव है। क्षत्रिय आस्तिक होता है। उसकी भगवान् में अटल श्रद्धा होती है। किसी बड़ी भारी शक्ति में विश्वास रक्खे बिना, धैर्य, लगातार युद्ध जारी रखना, कभी हतोत्साह न होना और सर्वस्व अर्पण कर देना ये कभी नहीं हो सकते। ईश्वरभाव के बिना क्षत्रियत्व के अन्य गुणों को अपने में लाने का प्रयत्न करने से गुण्डापन, हिंस्रता, क्रूरता आदि विकार पैदा हो सकते हैं किन्तु क्षत्रियत्व नहीं आ सकता है। यही ईश्वर भाव है जो क्षत्रिय को ब्राह्मण के आधीन रखता है, उसकी शक्ति को आसुरीय कार्यों में लगाने की स्वाभाविक प्रवृत्ति रखता है। इसलिये क्षत्रिय के इस गुण की जरा भी अवहेलना नहीं करनी चाहिये बल्कि इसे उसके अन्य सब गुणों का आधार समझना चाहिये। अस्तु, ये हैं क्षत्रिय के सहज गुण, कर्म, स्वभाव। ब्राह्मण से भेद करते हुए यदि क्षत्रिय के स्वरूप को देखा जाय तो एक वाक्य में इस तरह कह सकते हैं कि ब्राह्मण में जो व्यापकता होती है, उसके स्थान पर एक एकलक्ष्यता अतएव तीव्रता, तीक्ष्णता होती है। ब्राह्मण की विशालता के स्थान पर क्षत्रिय में ऊर्ध्वगामिता, उत्तुंगता होती है जो कि गम्भीर महत्वाकांक्षा, विजयाकांक्षा आदि रूप में प्रकट होती है। अस्तु।

यहाँ पर भी मैं फिर वही कहूंगा कि क्षत्रिय बनने के लिए माता-पिता का संकल्प और सबसे अधिक उसकी अन्तरात्मा का संस्कार आवश्यक है। फिर वैसी शिक्षा, वैसे वायुमण्डल में बचपन से रहना, समर्थ गुरू की शिष्यता तथा सच्चे क्षत्रियों के इतिहास, वीर गाथा, बड़े संघर्ष के बाद राज्य के विजय की कथा आदि के श्रवण मनन द्वारा क्षत्रिय आदर्श को सदा सन्मुख रखना, ये साधन हैं जिनसे क्षत्रियत्व विकसित होता है।

हमारे पुराने राम, भीम, अर्जुन, फिर राणा प्रताप, शिवाजी आदि के बहुत से आदर्श हैं ही। पर बिलकुल हमारे जमाने के पं० जवाहरलाल जी, खान अब्दुल गफ्फार खाँ आदि राष्ट्रीय नेता हैं जिन्होंने देखते देखते असंख्य नवयुवकों में नया

जीवन फूँक दिया है। इनके तेज, शौर्य, धृति, दक्षता ने हजारों को स्वाधीनता की लड़ाई के लिये तैयार और संगठित कर दिया है। ये तो विशेष ऊँचे दर्जे के क्षत्रिय हैं पर इस स्वतन्त्रता संग्राम में जोश और उत्साह से भाग लेने वाले वे हजारों नरनारी भी क्षत्रिय क्षत्राणी हैं जो रण-भेरी बजने पर इसमें कूद पड़े और नाना प्रकार के बलिदान किये। एक अहिंसावादी महात्मा द्वारा चलाये जाने के कारण इस संग्राम में भाग तो बहुत से ब्राह्मण वृत्ति वाले लोगों ने भी लिया जिन्हें इस आन्दोलन के आध्यात्मिक और आदर्शवादी भाग ने आकर्षित किया और बहुत से वैश्य वृत्ति वाले आम लोगों ने भी कर्तव्य देख कर अपनी शक्ति भर कई तरह से इसमें भाग लिया परन्तु इसमें स्वभावतः अधिक संख्या उन क्षत्रिय स्वभाव वाले लोगों की ही थी जिन्होंने अपने देश की स्वाधीनता पाने, विजय लाभ करने, शत्रु को परास्त करने के वीरभाव से ही इसमें पूरे जोश से भाग लिया है। पर देश के लिये मरने और नाना प्रकार की विपदायें भोगने वाले ऐसे भी 'भारत माता' के पुत्र हैं जिनके शौर्य, तेज, धृति की कथायें पूर्ण स्वराज्य होने पर ही और वह भी शायद कुछ अंश में जानी जा सकें (यहाँ पर आचार्य जी ने कुछ दृष्टान्त अनारकिस्टों के कार्य सुनाये जिनसे पता चलता है कि किस तरह उन्हें जब बड़े-बड़े आकर्षक प्रलोभन दिये तो उन पर उन्होंने लात मार दी, उन पर थूक दिया और जब दूसरी तरफ उन्हें बड़ी-बड़ी रोमाञ्चकारी पीड़ायें पहुंचाई गईं तो देश के लिये अपना भेद नहीं दिया, अपने व्रत से नहीं डिगे।)

क्षत्रियत्व का प्रकरण छिड़ने पर मुझे अपने स्नातक भाइयों में से पं० देशबन्धु जी तथा पं० सत्यपाल जी (अफ्रीका वाले) का स्मरण आये बिना नहीं रह सकता। पं० देशबन्धु जी में क्षत्रिय के शौर्य, तेज, धृति, दक्षता आदि कई गुण सहज दिखाई देते हैं। यहाँ गुरुकुल में रहते हुए जंगलों में जाना और हिंस्र जन्तुओं से मुकाबला करना जैसे कार्य करते ही थे। पर स्नातक हो जाने के बाद के भी उनके बहुत से वीरता और साहस के कार्य हैं, जिनकी कथा तुम में क्षत्रिय धर्म से प्रेम करा सकती है। (यहाँ पर आचार्य जी ने पं० देशबन्धु जी विद्यालंकार की दो घटनायें सुनाईं। एक मथुरा शताब्दी वाली घटना जब वे स्वामी श्रद्धानन्द जी की रक्षा के विचार से उनके पीछे चल दिये पर स्वामी जी द्वारा लौटा दिये जाने पर वे कैसे उत्तेजित लट्ठधारी पण्डों के बीच में पड़ गये। कैसे उन्होंने उनमें से एक लाठी अपने काबू में की और वे केवल उसी के सहारे सैकड़ों प्रहार रोकते रहे और अन्त में स्वयं प्रहार करने की स्थिति में आकर भी उन पर प्रहार नहीं किया किन्तु उन्हें डरा कर, भगा कर, लाठी वहीं छोड़ कर चले आये। दूसरे वह घटना जब शाहजहांपुर स्टेशन के पास रेल में उनके विवाह के जेवरों का बड़ा कीमती ट्रंक किसी ने उठा लिया। पता लगते ही वे चलती गाड़ी से उतर पड़े। रात को भटके।

चोर को पकड़ा। उसे दो थप्पड़ लगा कर आगे से चोरी न करने को कह कर अगली गाड़ी से उस ट्रंक सहित ठीक समय पर हरिद्वार पहुंच गये।)

इसी तरह पं० सत्यपाल जी साहस के काम के लिये गुरुकुल में सदा तैयार रहते थे। जिस दिन गंगा अधिक से अधिक चढ़ी हो, उस दिन वे जरूर पार जाते थे। अफ्रीका में गोरों से टक्कर लेने की उनकी कई घटनायें मजेदार हैं। सन् 1932 में वे अफ्रीका से भारत में आये। आते ही फिर स्वाधीनता सग्राम छिड़ जाने से उसमें ही भाग लेने का निश्चय कर लिया। उपदेशकी से इस्तीफा दे दिया। लाहौर में डिक्टेटर बने और उसी दिन साढ़े चार साल के लिये जेल भेज दिये गये। जेल में भी वे सदा अदम्य कैदी रहे। अभी जब मैंने उन्हें अफ्रीका से फिर भारत आकर काम करने के लिए लिखा तो मुझे यह जवाब दिया कि मुझे तब बुला लेना जब मेरा काम हो (अर्थात् लड़ाई छिड़े)। आजकल के लिए तो वहाँ पर काम करने के लिए आपके पास बहुत से कार्यकर्ता हैं।

पं० सत्यपाल जी में क्षत्रिय के ईश्वरभाव, दान, उदारता गुण विशेष रूप से दृष्टिगोचर होते हैं। इसी तरह अन्य कई स्नातक हैं जिनका वर्गीकरण क्षत्रियवर्ग में ही हो सकता है। पर यहाँ ये दो उदाहरण पर्याप्त हैं।

तो यदि तुम से किन्हीं में क्षत्रियत्व का अंकुर है तो उसे स्वाभाविकतया इन दिशाओं में विकसित होने दो। याद रक्खो कि कई बार एक ही घटना, एक ही दृष्टान्त, एक ही बार का प्रोत्साहन, इस विकास के लिए इतनी प्रभूत सामग्री उत्पन्न कर देता है कि मनुष्य बहुत काल तक अनायास ठीक दिशा में उन्नति करता जाता है अतः हमें सदा ऐसे अवसर के लिए अपने आपको खुले रखना चाहिए।

क्षत्रिय कार्य

यह लेख 'गुरुकुल' के शुक्रवार 17 वैशाख 1995 (29 अप्रैल 1938) अंक से उद्धृत है।

—सम्पादक

क्षत्रिय के गुणों का वर्णन हो चुका है, अब क्षत्रिय कार्य को देखना है। यह देखना है कि तुम में से जो क्षत्रिय स्वभाव ब्रह्मचारी हैं, जिनमें पिछली बार कहे गये क्षत्रियों के गुण स्वभावत: विद्यमान हैं, उन्हें स्नातक बनकर किस प्रकार के कर्मों में लगकर अपने क्षत्रिय वर्ण को चरितार्थ करना है।

ब्राह्मण प्रकरण में मैं यह कह चुका हूं, इसे दोहराने की जरूरत नहीं कि क्षत्रिय भी (लगभग ब्राह्मण की ही तरह) धन कमाने के लिये पेशा नहीं करता। क्षत्रिय अपने वर्णोचित कोई कार्य (या पेशा) करता हुआ यह भाव नहीं रखता (या यह भाव अत्यन्त गौण होता है और उच्च क्षत्रियों में बिल्कुल नहीं होता) कि इससे मेरा पेट पालन होगा, रोजी चलेगी, रोटी कमाई जायेगी। वह तो सेवा करता है। करुणा, शूरता के उदात्त भाव से प्रेरित होकर सेवा करता है। यदि यह बात समझ ली है तो क्षत्रिय कार्य के विषय में जो कहा जायगा उसे तुम ठीक तरह समझ सकोगे।

इस विषय में मनु का श्लोक निम्न प्रकार है :—

प्रजानां रक्षणं दानं इज्याध्ययनमेव च
विषयेष्व प्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासत:।

इन में तीन बातें कही हैं (1) प्रजानां रक्षणं (2) दानं इज्या, अध्ययनं (3) विषयेषु अप्रसक्ति:। इनमें से प्रजानां रक्षणं इस वचन में ही असल में क्षत्रिय का सब कार्य आ जाता है। 'दानं, इज्या, अध्ययन' अर्थात् दान, यज्ञ करना तथा अध्ययन ये तीनों कार्य तो ऐसे हैं जो ब्राह्मण भी करता है और वैश्य भी करता है। ये कार्य क्षत्रिय की विशेषता नहीं। ये तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनों के सामान्य कर्म हैं। अत: इनका वर्णन मैं वैश्य प्रकरण में करूंगा। संक्षेपत: इतना कहा जा सकता है कि क्षत्रिय को भी सदा दान करना चाहिए, यज्ञ करना चाहिए, अपने

कार्यों को यज्ञ भाव से करना चाहिए तथा अपने कार्य सम्बन्धी ज्ञान का अनुशीलन, पढ़ना, स्वाध्याय सदा जारी रखना चाहिए। इसी तरह 'विषयेषु अप्रसक्ति' अर्थात् विषयों में आसक्ति न होना यह क्षत्रिय का कार्य नहीं है किन्तु एक शर्त्त है। यह शर्त्त इतनी आवश्यक है कि इसका वर्णन क्षत्रिय कार्य के प्रकरण में करना जरूरी समझा गया है। अतः तुम में से क्षत्रिय बन कर क्षत्रिय कर्म करना चाहने वालों का इस की तरफ जितना ध्यान खींचा जाय, उतना थोड़ा है। क्षत्रिय का पतन, भ्रंश, नाश जिस एक वस्तु से सहज ही में हो जाता है वह यही 'विषयों में फँस जाना' है। संसार भर के इतिहास में से और भारतवर्ष के ही गत पाँच सौ वर्षों के इतिहास में से ही ऐसे क्षत्रिय-पतन के बहुत से दुःखदायी उदाहरण हमारी आँख खोलने में सहायक हो सकते हैं। मतलब यह कि यदि क्षत्रिय अपने प्रजा पालन, प्रजा रक्षण के कर्त्तव्य में तल्लीन होकर विषय-वासनाओं को सर्वथा भूल नहीं सकता तो वह क्षत्रिय नहीं है, वह कच्चा आदमी अपने को तथा अपने देश, जाति, समाज व संस्था को कभी बुरी तरह धोखा दे सकता है। इसलिए मैं कहता हूं कि क्षत्रिय वर्ण धारण करके कर्म करने वाले के लिए अपना धर्म पालन कर सकने की सब से बड़ी शर्त्त 'विषय में अप्रसक्ति' है। गुरुकुल में ब्रह्मचर्याश्रम में रहते हुए तुम्हें अपने दृढ़ प्रयत्न द्वारा, सतत जागरुक और प्रबल साधनात्मक यत्न द्वारा, वह अवस्था प्राप्त कर लेनी चाहिये जिसमें बड़े से बड़ा विषयों का प्रलोभन तुम्हें विचलित न कर सके। क्षत्रिय के धृति, दान, ईश्वर भाव के गुणों को पालने की सच्चे हृदय से की गई साधना द्वारा इस अवस्था को पा लेना कुछ कठिन भी नहीं। परन्तु इस अवस्था को प्राप्त किए बिना तुम 'क्षत्रिय' कहलाने के अधिकारी नहीं हो सकते। इसके बिना सदा भय रहेगा कि तुम बड़े बड़े बहादुरी और विजय के कर्मों के करते हुए भी किसी दिन गढ़े में न गिर पड़ो और अपने कृत्य से अपने क्षत्रियत्व तथा अपने कुल को कलंकित न कर दो। इस पर इतना जोर इसीलिए दिया गया चूंकि क्षत्रिय जीवन के साथ यह प्रलोभन बिल्कुल लगा हुआ है।

यह तो क्षत्रिय कार्य की एक आवश्यक अपरिहार्य शर्त्त हुई। जो असली क्षत्रिय कार्य 'प्रजा संरक्षण' इस एक ही शब्द में कह दिया गया है। क्षत्रिय ने जो कुछ करना है, वह किसी न किसी रूप में अपनी शक्ति द्वारा प्रजा का पालन करना है। जब मैं लोगों के मुख से यह सुनता हूं कि "आजकल हमारी पराधीन अवस्था में क्षत्रियों का कुछ काम नहीं, क्षत्रियों का तब उपयोग होगा जब हम स्वाधीन हो जायेंगे" तो मुझे आश्चर्य होता है। बात तो उलटी है। इस समय जितनी क्षत्रियों की जरूरत है, उतनी स्वराज हो जाने पर नहीं रहेगी। इसी समय प्रजा पालन, रक्षण की सब तरफ से जरूरत है। इसी समय स्वाधीनता को प्राप्त करने के लिए न केवल क्षत्रियों को कार्य करने की जरूरत है किन्तु विशेष अवस्था के तौर पर ब्राह्मणों को

भी अपने अन्तर्निहित क्षत्रियत्व से काम लेने की जरूरत है जिसे वे पार कर ऊपर उठ चुके हैं और वैश्यों को जो भी कुछ उनमें क्षत्रियत्व बाहर आ सकता है, उस सबको शक्ति भर निकाल कर लगा देने की जरूरत है। मतलब यह है कि जब तक हमें सब तरफ पूर्ण स्वाधीनता नहीं प्राप्त हो जाती तब तक मुख्यतया क्षत्रियत्व की ही जरूरत है। तो क्षत्रिय स्वभाव स्नातकों को तो आज काम ही काम है, उनके लिए भारत माता की करुण पुकार निरन्तर हो रही है (यदि वे उसे सुनें)। आज क्षत्रिय स्वभाव पुरुष कभी अपने को बेकार नहीं अनुभव कर सकता। यदि वह बेकार अनुभव करता है, यह सोचता है कि मैं देश की सेवा तो करूं पर मुझे खाने को कहां से मिलेगा तो वह क्षत्रिय नहीं। यदि क्षत्रिय स्वभाव लोग भी आज ऐसा अनुभव करते हैं तो यह आजकल की सड़ी हुई शिक्षा का फल है या आजकल की गुलामी-भरी परिस्थिति के कारण है। सच्चे क्षत्रिय को तो आजकल भारत में अपना काम, अपना स्थान तुरन्त मिल जाना चाहिए क्योंकि इसकी बेहद मांग है। तुम में से जो क्षत्रिय है, वह स्वयं सेवक बन जायगा स्वयं-सेवक का जीवन व्यतीत करेगा। राष्ट्रीय महासभा के स्वयं-सेवक दल में ऊपर, मध्यम या नीचे भी कहीं उसके उपयुक्त स्थान हैं। यहाँ स्वयं-सेवक शब्द मैं विस्तृत अर्थ में बोल रहा हूं जिस अर्थ में महात्मा गांधी सब से बड़ा स्वयं सेवक है। नहीं तो हिन्दुस्तानी सेवादल, खुदाई खिदमतदारों का दल, आर्य वीरदल तथा महावीरदल भी तथा अन्य ऐसे स्वयं-सेवकों के दल अपने ठीक संचालन तथा ठीक संगठन के लिए सच्चे क्षत्रियों की अत्यधिक आवश्यकता रखते हैं। सच्चे क्षत्रियों के अभाव से ही अभी तक हम स्वाधीनता संग्राम को ठीक तरह संगठित नहीं कर पाए हैं। यह समझना घोर मूर्खता है कि यदि यह हमारा संग्राम अहिंसात्मक है तो यह क्षत्रियों का क्षेत्र नहीं है। यह तो उन लोगों की बहानेबाजी है (तथा दूसरों को भी बहकावट में डालने का तरीका है) जिनमें स्वयं क्षत्रियपन का बिल्कुल अभाव है, नपुंसकता है। क्षत्रियत्व का हिंसा से कुछ भी वास्तविक संबंध नहीं। पिछले बार विस्तार से कहे क्षत्रिय गुणों को यदि तुम तत्वतः जान गये हो, समझ चुके हो तो तुम्हें यह बातें कहने की जरूरत नहीं। तुम्हें यह भी समझना चाहिये कि क्षत्रिय का काम केवल सिपाही; सैनिक होना नहीं किन्तु संगठन, संचालन, शासन और प्रबन्ध सम्बन्धी कार्य भी है। आजकल राष्ट्रकार्य के जो तीन विभाग किये जाते हैं अर्थात् व्यवस्थापन (Legislature) न्याय, (Judicial) तथा शासन (Executive) इनमें शासन (Executive) का सब कार्य क्षत्रिय का ही कार्य है, न्याय (Judicial) ब्राह्मण का है।

इन्द्र देवता का सब कार्य क्षत्रिय का है—

सर्वाबलकृतिरिन्द्रस्य

आजकल का राष्ट्र संचालन क्रम वैसा नहीं है जैसा वैदिक आदर्श प्रतीत

होता है या जैसा उस जमाने में था जब वर्णव्यवस्था अपने अधिक से अधिक ठीक रूप में चल रही थी। अत: इस क्रम में ब्राह्मण आदि विभाग ठीक प्रकार करना कुछ कठिन है पर सिद्धान्त यह है (और इसी के अनुसार हमें अपने शासन क्रम को ढालना होगा) कि सब भौतिक बल प्रयोग तथा लौकिक दृष्टि से यथा तथा महत्वाकांक्षा के स्थान क्षत्रिय के लिए हैं तथा इसके पीछे रहकर क्षत्रिय के लिए मार्ग निर्देश; नीति निर्धारण और अन्तिम उत्तर-दातृत्व का पद ब्राह्मण का है। (आजकल के कांग्रेस मंत्रियों को सम्मान ग्रहण का कार्य दूसरे लोगों के लिए छोड़ कर असली सूत्र संचालन के कार्य में व्यापृत रहने की नीति डालनी चाहिए चूँकि हमारे आदर्श अनुसार मंत्रित्व ब्राह्मण कार्य है)।

अस्तु, तात्पर्य यह कि तुम में से जो क्षत्रिय हैं, उनके लिए वर्तमान काल में अपनी मातृ-भूमि को बन्धन मुक्त करने में, पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त करने के संग्राम में किसी जगह सैनिक सिपाही, मुखिया, संगठन कर्त्ता, संचालक, नेता व सेनापति बनने का कार्य स्वभाव प्राप्त है और उन्हें ही स्वराज्य हो जाने पर अपनी योग्यतानुसार देश का शासन करने वाले पदाधिकारी व राष्ट्रपति (राजा, भारत-सम्राट्) तक बनने का भी अवसर व अधिकार है, ऐसी महत्वकांक्षा रखने का अधिकार है। केवल राष्ट्र कार्य में ही नहीं किन्तु सामाजिक सेवा के कार्यों के लिए भी जो संगठन, समाज, संस्था बनते हैं उनमें भी प्रबन्ध आदि का कार्य करना क्षत्रिय कार्य हैं।

अन्त में क्षत्रिय धर्म पालन करना चाहने वालों का ध्यान वर्तमान काल की अवस्थाओं के अनुसार एक बात की तरफ आकर्षित करके इस विषय को समाप्त करूंगा। वह बात यह है कि चूंकि आज क्षत्रियों के ऊपर स्वभावत: सच्चे ब्राह्मण का सात्विक ज्ञान नहीं है, बल्कि वैश्यों ने चतुराई से क्षत्रियों की शक्ति को भी खरीद लेने का प्रबन्ध कर रखा है, अत: क्षत्रियों को अपना कर्म करने में बहुत सावधानी रखने की जरूरत है। क्षत्रिय को यूँ ही अन्धाधुंध जोश में आकर किसी कार्य के लिए लड़ने मरने को, अपनी जान देने को, अपनी शक्ति व्यय करने को नहीं उभर पड़ना चाहिए, क्योंकि स्वार्थी सम्प्रदाय या राष्ट्र आज गरीबों की रक्षा के लिए नहीं किन्तु गरीबों के और शोषण के लिए संग्राम छेड़ते हैं पर दिखाते यह हैं कि यह संग्राम महान् परोपकार के लिए है। इसलिए क्षत्रिय को समझ बूझकर या पूर्ण निःस्वार्थ सच्चे ब्राह्मण की सलाह से ही अपनी क्षत्रिय शक्ति का उपयोग करना चाहिए। पर आज ऐसा नहीं हो रहा है। बहुत ही कम क्षत्रिय अपनी शक्ति का सदुपयोग कर पाते हैं। अभी यह गढ़वाली सैनिकों का गोली चलाने से इन्कार करना और सैनिक दंड लेने को तैयार होना अंधेरे में एक चमकता हुआ दृष्टान्त दिखाई देता है। पर क्षत्रियों

की तरफ से ऐसे सुवर्णीय दृश्य उपस्थित होने की आज जगत् में बहुत जरूरत है, तभी क्षत्रियत्व अपने ठीक स्थान को प्राप्त कर सकता है। क्षत्रिय ऐसे हों जो कि अन्याय पूर्ण युद्ध में भाग लेने से सर्वथा इन्कार करदें बेशक उन्हे सैनिक दण्ड देकर गोली से क्यों न उड़ा दिया जावे। क्षत्रियों के ऐसे क्रान्तिकारी कार्य ही दुनियां को ठीक ठीक मार्ग दिखा सकेंगे। यह तब हो सकता है जब कि संग्राम (युद्ध) को पूर्ण धार्मिक भाव से, यज्ञ भाव से किया जाय। वैदिक भाषा में संग्राम और यज्ञ शब्द समानार्थक होते हैं। जब तक संग्राम यज्ञ जैसा पवित्र भाव से किया जाने वाला कार्य नहीं बन जाता जब तक क्षत्रियत्व का पुनरुद्धार नहीं हो सकता। सिर में रहने वाले (ब्राह्मणों के) ज्ञान प्रकाश में स्पष्ट कर्त्तव्य को देख कर हृदय में जो पवित्र भाव उत्पन्न होता है और हाथों और बाहुओं (क्षत्रियों) को संचालित करता है, तभी सच्चा यज्ञ या सच्चा संग्राम होता है और वह निश्चय से जगत् के लिए कल्याणकारी होता है। जो जगत् में राष्ट्रों के संग्राम में क्षत्रियों के लिए ठीक है, यही परिमित क्षेत्र में सामाजिक सेवादि कार्य में लगे क्षत्रियों के लिए भी सत्य है। उन्हें भी पूरा सोच विचार कर ही या सच्चे ब्राह्मण की अनुमति से ही किसी कार्य में स्वयं-स्वयंसेवक व सहयोगी बनना चाहिए।

धन-शक्ति

यह लेख 'गुरुकुल' के 24 कार्त्तिक शुक्रवार 1997, 15 मार्गशीर्ष शुक्रवार 1997, 22 मार्गशीर्ष शुक्रवार 1997 अंकों में क्रमशः प्रकाशित हुआ था।

—सम्पादक

ब्राह्मण और क्षत्रिय के विषय में कह चुका। अब वैश्यवर्ण पर आता हूं। वैश्य के गुण कर्म का ठीक ठीक वर्णन कर सकूं, वैश्य की वृत्ति और कर्त्तव्यों को भली प्रकार तुम्हें समझा सकूं इसके लिये तुम्हें पहले वैश्य की शक्ति अर्थात् धनशक्ति क्या है, यह कैसे काम करती है, इस विषय में कुछ आधारभूत बातें स्पष्टता पूर्वक समझ लेना आवश्यक है। मैं तुम्हें यह बतादूं कि यद्यपि मैं गुरुकुल में वेद का उपाध्याय होकर आया, और वैसे भी रुपये पैसे की बातें करने वाले दुनियावी आदमियों सा नहीं समझा जाता, तो भी गुरुकुल में मेरा ऐच्छिक विषय अर्थशास्त्र था और उसमें होशियार था, परीक्षा में बहुत अंक मिलते थे। उन दिनों इतिहास-अर्थशास्त्र और राजनीति एक इकट्ठा विषय होता था। यही विषय मैंने लिया था क्योंकि समझता था कि देशसेवा करने के योग्य बनने के लिये यही विषय सर्वश्रेष्ठ है, यद्यपि गणितोपाध्याय मेरी गणित सम्बन्धी प्रतिभा देखकर बहुत चाहते थे कि मैं गणित का विषय लूं। इसलिए यदि मैं अर्थशास्त्र की सी कुछ बातें करूं तो यह अनधिकार चेष्टा नहीं समझी जायगी। यह तो मुझे कह ही देना चाहिये कि आधुनिक अर्थशास्त्र, राजनीति, इतिहास, के अध्ययन ने भी मुझे तो 'दुनयावी' कहलाने वाले बनाने की अपेक्षा मुझे परमेश्वर के अधिकाधिक नजदीक पहुंचाने में ही सहायता दी हैं। इसमें मुझे कुछ भी सन्देह नहीं है। अस्तु।

धन या अर्थ या संपत्ति क्या है? इस विषय में आज कल की माया के कारण हमारे अन्दर ऐसे अशुद्ध विचार और गलत धारणाएं बैठ गयी हैं कि इस सम्बन्ध में मामूली सी स्पष्ट और सही बाते देखना भी हमारे लिए कठिन हो गया है। इन्हें हमें ठीक करना होगा। में अर्थशास्त्र के कोई विशेष पारिभाषिक शब्द इस्तेमाल नहीं करता, मोटी भाषा में बोल रहा हूं। ये रुपये पैसे धन या अर्थ नहीं हैं। ये तो मुद्रा हैं, चिह्न हैं जो विनिमय के लिये साधन के तौर पर सहूलियत के लिये बरते जाते हैं। जो काम में आने वाली, उपयोग में आने वाली वस्तुएं हैं वे धन हैं, अर्थ हैं,

सम्पत्ति हैं। तो तुम देखो कि तुम्हें जो रुपये पैसे रखने से मना किया जाता है तो इसमें तुम्हें धन रखने की मनाही नहीं है। धन तो तुम्हें रखने दिया जाता है। ये तुम्हारे पहिने हुये कपड़े धन हैं, तुम्हारे लोटे थाली आदि बरतन धन हैं, भोजन धन है। यह अन्न देने वाली पृथ्वी और श्वास द्वारा प्राण जीवन देने वाले वायु का आकाश, ये परमेश्वर के दिये हुए धन हैं। ये कोई आध्यात्मिक या आलंकारिक अर्थों में धन नहीं हैं किन्तु अर्थशास्त्र की भाषा में ही ये धन हैं। जब मैं पहली बार अपने ग्राम में गया और देखा कि ग्राम के पशु-समूह को बल्कि उनके एकत्रित होने के स्थान को 'धन' कहते हैं तो एक स्फूर्ति दायक आनंद मिला क्योंकि आधुनिक ग्रामभाषा जिस परम्परा से आयी है, उस समय के लोगों में जो वस्तुओं के शुद्ध दर्शन करने की शक्ति या ज्ञान था, उसकी झांकी मिली। सचमुच ये गौएं धन हैं, ग्राम के सब गौ आदि पशु ग्राम के अति उत्कृष्ट धन हैं, हम सब मनुष्य भी राष्ट्र की सम्पत्ति हैं, धन हैं, जैसे भारत की भूमि, यहां के नदी, पहाड़, समुद्र, जंगल आदि भारतीय राष्ट्र की सम्पत्ति हैं, मतलब यह कि सब काम में आने वाले, सार्थक उपयोगी पदार्थ अर्थ हैं, धन हैं।

यह सामने मेज पड़ी है। इसका बनाया जाना अर्थ की उत्पत्ति, धनोत्पत्ति है। जब तक यह लकड़ी निरर्थक (निरुपयोगी) थी, तब तक यह अर्थ (धन) नहीं थी। जब श्रम द्वारा, बुद्धि और हाथ के श्रम द्वारा इसे उपयोगी (सार्थक) रूप में ले आये तो हमने एक अर्थ की उत्पत्ति करदी। कपास निरुपयोगी (या कम उपयोगी) पड़ी थी, हमने उसे धुन, कात और बुनकर कपड़ा बना लिया तो हमने धन का, (अधिक मूल्यवान् धन का) उत्पादन किया। रुपये पैसे टकसाल में बनने से धनोत्पत्ति नहीं होती। रुपयों के जेब में आने से धनार्जन नसीं होता। रुपये या नोट बनाने में चांदी या कागज को अभीष्ट व्यवहारोपयोगी आकार देने में टकसाल के श्रमियों द्वारा जो श्रम किया जाता है, बस उतनी ही उत्पत्ति है। जिस श्रम के बदले में हमें रुपये मिले हैं और हमने जेब में डाले हैं, उस श्रम से जो उपयोगी वस्तु सिद्ध हुई है वही धन का अर्जन हुआ है, रुपया तो उसका केवल एक चिह्न है, 'टिकट' मात्र है, एक प्रमाण पत्र है जिससे दूसरों से धन (उपयोगी वस्तुओं और श्रम) के लेन देन में आसानी हो सके। ये सिक्के रूपी प्रमाण पत्र असल में फर्जी हैं, एक धातु या कागज के टुकड़े को सौ, हजार या लाख रुपये मान लिया गया है। यह ऐसा ही है जैसे हम परीक्षा में तुम्हें अंक देते हैं और काटते हैं। असल में न कुछ देते है और न कुछ रख लेते हैं। वे केवल योग्यता की सापेक्ष माप लेने के लिए फर्ज कर लिए जाते हैं। वैसे ही ये सिक्के संपत्ति का सापेक्ष माप करने के लिए फर्जी चिह्न हैं। धन को जो माया कहा जाता है सो इन सिक्कों के रूप में तो यह माया है ही क्योंकि ये कुछ भी न होते हुए सब कुछ हैं। ये इतना प्रभाव रखते हैं कि लोग असली धन को छोड़कर

भी सिक्के बटोरने की धुन में पागल रहते हैं। तुममें से भी बहुतों को अंको की माया का इतना जबरदस्त प्रभाव है वे जिस किसी तरह अंक पा लेना चाहते हैं। अंक तो कल्पित किये जाते हैं स्पर्धा द्वारा योग्यता बढ़ाने के लिए। पर मायान्ध होकर जब बिना योग्यता बढ़ाये भी अंक पाने की इच्छा होती है तो पर्चे चोरी करना या परीक्षा में नकल करने आदि की प्रवृति होती है, जैसे कि जब श्रम किये बिना (उपयोगी वस्तु) प्राप्त करने की इच्छा होती है तो जाली सिक्के व नोट बनाने की या सिक्के चुराने की प्रवृति होती है। यह सब सिक्के की माया है।

और यह सिक्के रूपी टिकटें विनिमय के लिए हर हालत में जरूरी हैं, यह भी नहीं। जैसे पहले गुरु लोग निकट और वैयक्तिक सम्बन्ध होने से शिष्य की योग्यता को वैसे ही जान लेते और जांच लेते थे, वैसे पुराने लोग सिक्के के बिना ही, वस्तुओं का ही लेन-देन कर लेते थे। मेरे दादा और चाचा जी कहते थे कि उन्हें रुपयों-पैसों को छः छः महीने और वर्षों तक देखने की भी जरूरत नहीं पड़ती थी। दोनों फसलों पर अन्न होता था, उसे खाते थे। कपास कात लेते थे। फिर बढ़ई, लुहार, जुलाहा, चमार, धोबी आदि से जो सहायतायें लेते थे उनके बदले में उन्हें भी नियत परिमाण में अन्न दे देते थे। कभी-कभी ही बनियों के साथ व्यवहार में सिक्का ढूंढना पड़ता था। सचमुच जब से सिक्के का महत्व बढ़ गया और इसका चलन बढ़ गया तब से मुश्किलें और पेचीदगी भी बढ़ती गईं। इसीलिए अनेक विचारक सिक्के रहित समाज-व्यवस्था या अर्थ-व्यवस्था की कल्पना करते हैं और इसी में संसार का भला देखते हैं। हमारी प्राचीन प्रणाली में तो कौन कितना धनी है, यह उसके पास कितनी मुद्रा है इसकी अपेक्षा उसके पास कितनी गायें हैं या कितनी भूमि है इससे ही गिना जाता था। प्राचीन वर्णाश्रम व्यवस्था ही ऐसी थी जिसमें सिक्के को बहुत कम स्थान था। वर्णों में शायद वैश्य, शूद्र को और आश्रमों में केवल गृहस्थाश्रमी को सिक्के की जरूरत होती थी, वह भी बहुत कम। बहुत कुछ वस्तु विनिमय से ही काम चलता था। यह कहा जा सकता है कि वह असभ्यता का जमाना था। पर अब तो वर्तमान सभ्यता को महारोग भी कहा जा रहा है। हमारी समझ में तो मुद्रा को महत्व न देने वाली वह सभ्यता ही सभ्यता थी, क्योंकि उसमें लोग अधिक सुखी थे और उनकी शारीरिक, मानसिक और आत्मिक उन्नति करने का अनुकूल वायुमंडल था। इसलिए तुम्हें तो अहोभाग्य मानना चाहिये कि तुम्हें मुद्रा के झगड़े से रहित अवस्था में रखकर पाला पोसा जा रहा है, तुम्हारी सब आवश्यकतायें पूरीं की जा रही हैं। तुम यदि इस आदर्श की उत्कृष्टता को समझ जाओ तो बाहर जाकर भी यथासम्भव इसको स्थापित करने का यत्न करो। मुझे गुरुकुल के छोटे ब्रह्मचारियों में यह देखकर दुःख हुआ— इतना ही दुःख हुआ जितना कि ग्राम में गौओं के समूह को 'धन' सुनकर आनन्द

हुआ था— कि वे रुपये पैसे को महत्व देना सीख रहे हैं। मैं प्रति पूर्णिमा को छोटे ब्रह्मचारियों में जाता हूं। पिछली बार वे पूछते थे कि आपको कितनी तनख्वाह मिलती है— आप बड़े हैं तो आपको बहुत तनख्वाह मिलती होगी। मैंने उन्हें समझाने की कोशिश की कि रुपये की जरूरत ही क्या है, खेती करके अनाज और फल शाक पैदा कर लो, उसे खाओ। कपास से कात बुन के कपड़ा बनाकर पहिन लो। थोड़ा-सा बढ़ई लुहार और मकान बनाने का काम सीख लो— बस रुपये की जरूरत ही क्या है। असल में यदि गुरुकुल प्रणाली ने विस्तृत होना है तो ग्राम ग्राम में जो गुरुकुल होंगे, वे भिक्षा में रुपये पैसे नहीं किन्तु अन्न वस्त्र ही लिया करेंगे। अब भी छोटे कहलाने वाले गुरुकुल ऐसा ही कर रहे हैं। यह हमारा गुरुकुल तो शाही गुरुकुल है, अमीरों का गुरुकुल है। ब्रह्मचारी पैसे न रखें, बल्कि इस सब बड़े भारी परिवार का आन्तरिक सब व्यवहार बिना पैसे रुपये के बीच में आये हो — इस प्रणाली के पीछे जो आदर्श था उसे अब हम बिलकुल भूलते जा रहे हैं। यह बात है जिसे देखकर मुझे उस दिन दुःख हुआ जब कि मैंने उन गुरुकुल के छोटे-छोटे बालकों में भी ऐसे विचार देखे। नहीं तो छोटे बालक के लिये तो रुपये पैसे का भी तभी मूल्य है, यदि वे खाये जा सकते हों, उनके खिलौने का काम दे सकते हों। छोटा बच्चा तो नारंगी या गुड़ के मुकाबिले में पैसे, रुपये या नोट को फेंक देगा। पर जरा बड़े होकर हमारी आसक्ति को देखकर बालक भी जानने लगता है कि पैसे में तो खाने की चीजों को भी प्राप्त करा देने की शक्ति है, वह देखता है कि मिठाई बनाकर रखने वाला आदमी मांगने से उसे खाने के लिये मिठाई नहीं देता पर पैसा देने से दे देता है तो वह भी इसके महत्व को जान जाता है और खाने की चीजों की जगह अपने माँ-बाप से पैसे मांगने लगता है। एक बार तो मैंने देखा कि एक कौआ भी हमारे घर में चारपाई पर से एक चवन्नी चोंच में उठाकर ऊपर जा बैठा। पशु पक्षी भी हमारे सहवास से 'सभ्य' होते जा रहे दीखते हैं ?

सिक्का असली धन नही है, इस बात को एक बार एक गाँव के आदमी ने मजाक में अच्छी तरह प्रकट किया था। हमारे पास के गाँव में एक जमींदार का बैल सौ रुपये के नोट खा गया। नोट तो मिल नहीं सकते थे। उसके एक मित्र ग्रामवासी ने हंसते हुए पूछा कि 'तेरा यह बैल कितने रुपये का था ?' उसने कहा कि डेढ़ सौ का लिया था। "तो यह अब ढाई सौ का हो गया। डेढ़ सौ का था ही, सौ रुपये और इसके पेट में चले गये। ढाई सौ का हो गया।" अस्तु।

हर एक शक्ति का सदुपयोग भी किया जा सकता है, दुरुपयोग भी। वही बात धन-शक्ति पर भी लागू होती है। दुरुपयोग दो तरह से हो सकता है। धन का जहां उपयोग करना चाहिये, वहां उपयोग न करने से भी दुरुपयोग होता है, जैसे कि जहां नहीं करना चाहिए, वहां करने से होता है। पहली तरह का दुरुपयोग तामसी

पुरुष करते हैं और यह शायद अन्य देशों की अपेक्षा भारतवर्ष में बहुत होता है। लोग रुपये को गाड़ कर, सन्दूकों में बन्द करके या अन्य तरह रोक कर रखते है, सोचते रहते हैं पर खर्च नहीं करते। अन्त में प्राय: उनके मरने के बाद लूटा या ठगा जाकर वह बुरे उपयोग में व्यय हो जाता है।

दानं भोगो नाशः, तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य।
यो न ददाति, न भुंक्ते, तस्य तृतीया गतिर्भवति ॥

जैसे पानी जब बहता नहीं रहता तो वह सड़ांध पैदा करता है, वैसे ही धन भी रुक जाने से, न बहने से गंदगी पैदा करता है जिसके नाना रूपों से हम परिचित हैं। अत: यह केवल अनुपयोग की बुराई नहीं है किन्तु एक जगह रुका रहने से जो उस व्यक्ति तथा उसके आस पास विकार का (सूक्ष्म रूप में कहें तो ईर्ष्या, द्वेष, मोह, आसक्ति, चोरी, षड्यन्त्र आदि का) वातावरण पैदा करता है। वह एक भावात्मक बुराई है। दूसरे प्रकार का दुरुपयोग तो साफ ही है जो राजसिक लोग करते हैं। जहां जहां धन का उपयोग नहीं करना चाहिए, वहां करते हैं। एक शब्द में यह दुरुपयोग है— **शोषण** के लिये धन का उपयोग। सभी शक्तियों का ऐसा दुरुपयोग किया जाता है। यह आसुरी भाव से होता है। यदि ज्ञानी अपनी ज्ञान शक्ति का उपयोग अज्ञानियों से फायदा उठाने में करे तो वह ब्राह्मण नहीं, वह असुर है। यदि क्षत्रिय अपनी शक्ति का उपयोग निर्बलों के सताने में करे तो वह क्षत्रिय नहीं वह दानव है। इसी तरह धनशक्ति का उपयोग निर्धनों को और चूसने में किया जाय तो यह मनुष्य का काम नहीं, राक्षसी काम है। पर यह राक्षसी काम दुनिया में बहुत हो रहा है और शायद हम सब जानते हुए या न जानते हुए उसमें कुछ न कुछ सम्मिलित हैं। क्योंकि आज कल धनशक्ति का जितना व्यापक दुरुपयोग हो रहा है, उतना और किसी शक्ति का नहीं। असल में आज अन्य सब शक्तियां ही लुप्त हैं, छिपी पड़ी हैं या क्षेत्र से पीछे हटी हुई सी हैं। यह जमाना ही भौतिकवाद या धनशक्ति की प्रभुता का है। तभी तो हम देखते हैं कि बुद्धि रखने वाले, ज्ञानधानी भी अपने ज्ञान को बेच रहे हैं, क्षत्रिय अपने बल को बेच रहे हैं। वे भ्रष्ट ब्राह्मण और भ्रष्ट क्षत्रिय अपने बल को बेच रहे हैं। वे भ्रष्ट ब्राह्मण और भ्रष्ट क्षत्रिय हैं। धन के बल से दिमागों को इस काम में लगाया जा रहा है कि वे मनुष्य की हत्या करने के अधिक से अधिक कारगर तरीकों का आविष्कार करें। धन के बल से - अपने कारखानों का गोला बारूद बिक सके इस लिए—बिना जरूरत के भी लड़ने को अपने राष्ट्र को तैयार कर दिया जाता है। ब्राह्मण और क्षत्रिय के भ्रष्ट हो जाने से 'वैश्य' (वैश्य तो नहीं कहना चाहिये, धन वाले) उन पर राज्य कर रहे हैं। असल में वर्ण रहे ही नहीं हैं। वर्णों का नाम तो मैं वर्ण व्यवस्था की ठीक दिशा दिखाने के लिये

ले रहा हूँ। आज तो ज्ञान वाले, वीरता वाले और धन वाले सब मिलकर आसुरी चक्र पर चढ़े हुए यथाशक्ति दूसरे निर्बलों का (ज्ञान, बल और धन में निर्बलों का) शोषण कर रहे हैं और आसुरी सुख पा रहे हैं। पर धन इनके केन्द्र में है। अपनी आर्थिक व्यवस्था द्वारा ही, धन के जादू से ही दूसरे लोगों को वश में करके रखा गया है। दुनिया इस धन के दुरुपयोग से उत्पन्न की गई दुरावस्था से निकलना भी चाहती है। इसीलिये जो-जो नये वाद उत्पन्न होते हैं, वे मुख्यतया धन की ही किसी नयी व्यवस्था को स्थापित करना चाहते हैं—समाजवाद है, कम्यूनिज्म है, बोल्शेविज्म है। पर ये धन के दुरुपयोग को संगठित करने वाली पूँजीवाद, साम्राज्यवाद आदि की शक्तियों का अभी तक सफल मुकाबिला नहीं कर सके क्योंकि इनमें देवभाव नहीं आया, असुर भाव पूरी तरह से नहीं गया। मेरी कल्पना में तो इसका ठीक इलाज जगत्-व्यापी वर्ण व्यवस्था है। अर्थात् धनशक्ति का इतना भारी संगठित दुरुपयोग तब तक नहीं रुक सकता जब तक कि धन शक्ति पर जगत् व्यापी रूप में क्षत्रिय और ब्राह्मणों का (ऊंची भावना और ज्ञान का) अंकुश न हो। सीधी सी बात है कि यदि हम चाहते हैं कि धन का दुरुपयोग न हो, सदुपयोग हो तो ऐसा करना चाहिये जिससे धन अधिक से अधिक अच्छे आदमियों के वश में हो, बुरे आदमियों के नहीं। धनशक्ति को परिचालित करना जैसे आदमी के हाथ में होगा वैसा ही धन का उपयोग होगा। धन असुर के हाथ में जायगा तो वह आसुरी काम करेगा, गरीबों, दुखियों को और सताने के काम आयेगा। देव के हाथ में जाएगा तो वह यज्ञार्थ, उपकार, सबकी भलाई में उपयुक्त होगा। वैदिक वर्ण व्यवस्था के अनुसार ब्राह्मण और क्षत्रिय का तो जीवन यज्ञमय होता ही था किन्तु वैश्य को भी यज्ञार्थ जीवन बिताने का ही आदेश था। यज्ञ तीनों वर्णों के लिये एक समान कर्त्तव्य था। जैसे धन के सब दुरुपयोग को 'शोषण' इस एक शब्द में कहा जा सकता है वैसे सब सदुपयोग को 'यज्ञ' इस एक शब्द में कहा जा सकता है। ज्ञानी जब अपना ज्ञान अज्ञानियों को ज्ञान युक्त करने में अर्पण करता है तो वह महान ज्ञान-यज्ञ करता है। यही ज्ञानशक्ति का सदुपयोग है। क्षत्रिय जब अपने बल को निर्बलों की रक्षा में लगा देता है, निर्बल को सताये जाने से बचाने के लिए बलवान दुष्ट का दलन करने में अपनी शक्ति 'आहुत' करता है तो वह अपना यज्ञ करता है। इसी तरह वैश्य का धर्म—उसका यज्ञीय कर्म—यह है कि वह धन का ऐसा उपयोग करे जिससे निर्धनों के पास धन पहुंचे। लेकिन आज यह हो रहा है, आर्थिक व्यवस्था ऐसी बनी हुई है कि जो निर्धन है वही और सताया जा रहा है, वह दिनों दिन और निर्धन होता जाता है और जो धनी है वह दिनों दिन और धनी होता जाता है। इस तरह आर्थिक विषमता बढ़ती जाती है। एक तरफ एक आदमी है जो दिन भर तन तोड़ कर मेहनत करता है, पसीना बहाता है फिर भी उसे खाने तक को नहीं मिलता। दूसरी तरफ एक लखपति निठल्ला बैठा है जो केवल भोगता है श्रम कुछ नहीं करता। अमेरिका के एक सबसे बड़े धनी के विषय में सुना गया था कि उसे

किसी काम में एक लाख की हानि की खबर दी जाती है तो वह टेनिस खेलता-खेलता ही कह देता है—क्योंकि व्यापार पर उसका इतना एकाधिकार है—कि उस वस्तु पर एक पाई की दर से वृद्धि कर दो, बस। उसके लिए एक लाख की हानि ऐसी है जैसे हमारी एक रुपये की हानि। कभी यह भी पढ़ा था कि अमेरिका के केवल सात-आठ आदमियों के पास इतना धन है जितना अमेरिका के बाकी सब निवासियों के पास मिलाकर है। धन की यह विषमता इसीलिये हुई है क्योंकि आर्थिक नीति के द्वारा शोषण का एक ऐसा सुन्दर सहज तरीका बना लिया गया है जिससे निर्धन शोषित होकर दिनों दिन और क्षीण होता जाता है और धनी रक्त पी पीकर दिनों दिन और धनी होता जाता है। इस शोषण का सही इलाज एक ही है—यज्ञ। शोषण द्वारा असुर को तृप्त करना छोड़कर यज्ञ द्वारा देव को तृप्त करने की ओर मुँह मोड़ा जाय। सब क्रम बदल जाना चाहिये। अब तो धन वाले अपनी अधम वृत्तियों को तृप्त करने में बेसुध होकर लगे हुये हैं, इसी में धन खर्च करते हैं। ज्ञान और बल वाले भी उनकी मदद करते हैं या अपने को बेच देते हैं, सारा वायुमण्डल ही ऐसा है। चाहिये यह कि धन वाले भी अपनी ऊंची वृत्तियों को जागृत करने का यत्न करें, इस अपने मनुष्यत्व को उठाने और विकसित करने में ही धन को व्यय करके अपने धन को सफल करें, जब कि धन से ऊपर रहने वाले क्षत्रिय और ब्राह्मण ऊंची भावना और ज्ञान द्वारा उनका ठीक दिशा में संचालन करें। धन की कोई ऐसी ही यज्ञपरायण व्यवस्था, जिसमें धन अपने उचित स्थान पर ही रहे और इससे ऊपर की उच्च शक्तियों के स्वभावत: आधीन रहे, यदि प्रवर्तित हो सके, तभी धन के असह्य दुरुपयोग से पीड़ित वर्तमान जगत् को सच्ची राहत मिलेगी। इस मौलिक परिवर्तन को न कर अन्य परिवर्तनों के जोर शोर से करने से भी कुछ बनेगा नहीं।

वर्तमान शोषण परायण आर्थिक व्यवस्था की कुछ बातें ऐसी हैं, जिनसे बचने के लिए कहे बिना मैं आगे नहीं चल सकता। ये ऐसी बातें हैं जो कि जैसा प्रचार किया गया है, उसके अनुसार हमें ठीक लगती हैं। अतएव हम (प्राय: अज्ञान में ही) इसके अनुसार चलते हैं और शोषण के भागीदार होते रहते हैं। पर यदि हम सचमुच धन के सदुपयोग में ही—यज्ञ कम में ही—हिस्सा बंटाना चाहते हैं तो हमें इन धोखे की बातों से सावधानी और यत्न के साथ बचना चाहिये।

(1) कुछ बातों से—पढ़े-लिखे लोगों के मुंह से इन बातों को सुनते-सुनते—मुझे चिढ़ हो गयी है। उनमें पहली बात है सस्ते—महंगे की। 'सस्ता और महंगा' इस पर मैंने एक बार 'अलंकार' में एक लेख भी लिखा था। जैसे धन का दुरुपयोग मैंने दो प्रकार का कहा, वैसे धन का सदुपयोग भी दो प्रकार का है। जहाँ (शोषण कर्म में) धन का उपयोग नहीं करना चाहिये वहाँ धनोपयोग न करना भी उसका जरूरी सदुपयोग है। पर जब हम लोगों को, उदाहरणार्थ, विदेशी कपड़ा और मिल का कपड़ा सस्ता होने पर खरीदने से (वहाँ धन का उपयोग करने से) रोकते हैं और

खादी को महंगा होने पर भी खरीदने को कहते हैं तो हमें सुना दिया जाता है कि यह तो अर्थशास्त्र का सिद्धान्त है 'सस्ता खरीदो और महंगा बेचो'। पर, मैं कहता हूँ कि यदि अर्थशास्त्र का सिद्धान्त इतना ही है तो इसके लिये तो किसी शास्त्र की जरूरत नहीं। इतनी बात तो शास्त्रानभिज्ञ क्या, एक बिल्कुल बेपढ़ा आदमी भी, जो केवल ज़रा सी गिनती जानता है वह भी जान सकता है और जानता है। इसके लिये किसी शास्त्र की जरूरत नहीं है। शास्त्र तो वह होता है जो कुछ शासन (अनुशासन) करता है ! मनुष्य की जो स्वाभाविक सी प्रवृत्तियाँ हैं उनके अनुसार तो मनुष्य अपने आप ही चलता है, शास्त्र का काम तो यह है कि वह उसके खतरे और बारीकियों का ज्ञान कराकर मनुष्य को अपने इस चलने को यथा समय नियन्त्रित करना और ठीक दिशा में ही गति करना सिखावे। इसलिये अर्थशास्त्र की जरूरत तो इस बात के लिए है कि वह मनुष्य को ऐसी बारीकी की और खतरे से बचाने वाली बातें बता सकें कि अमुक अवस्था में महंगा भी लेने में (और सस्ता क्या,मुफ्त भी न लेने में) धन का सर्वश्रेष्ठ सदुपयोग है। सस्ता तो लो, पर सच्चा अर्थशास्त्र कहता है कि पहले देख लो कि यह चीज सस्ती क्यों है। 'घरों को आग लगा देने से कोयला सस्ता मिल सकता है या भूकम्प आ जाने से ईंटें सस्ती मिल सकती हैं।' हम सिर हिलायेंगे कि सस्ते के लिये अग्निकांड और भूकम्प तो हमें नहीं चाहिये। पर सचमुच हम जो सुन्दर-सुन्दर अति सस्ती चीजें देखते हैं, उनके पीछे ऐसी ही बर्बादी हो चुकी है तभी वे सस्ती होती हैं। सस्ता तो चोरी का माल होता है। जिसने अपने श्रम से कोई चीज बनायी है, उसे वह सस्ता नहीं दे सकता, अपनी मेहनत से भी सस्ता देते हुए उसे दर्द होगा। पर चोरी के माल के जितने भी पैसे उठ जायें उतने ही बहुत हैं अतः वह सस्ता दे सकता है। निःसंदेह अधिकांश सस्ती चीजों के सस्तेपन का कारण अन्ततः यह होता है कि उसके बनाने में श्रम करने वाले को कहीं कम मजदूरी दी जाती है, उस पैसे की चोरी की जाती है। हम यहाँ रुपये का 16 सेर दूध लेते हैं, पर मैंने अपने पास तीन-चार वर्ष से गौ पाली हैं और उसका पूरा-पूरा हिसाब रखा है। मैं तो कह सकता हूं कि इतना सस्ता दूध (दूध न हो कुछ और हो तो और बात है) बिना चोरी किये कोई नहीं दे सकता है। पूरी तरह छानबीन करेंगे तो कहीं चोरी निकलेगी। हमारे अन्दर जो अन्धाधुन्ध सस्ता ही देखने की प्रवृत्ति है, उसी का यह परिणाम है कि आजकल खाद्य पदार्थों का भी शुद्ध मिलना दुष्कर हो गया है। कहते हैं कि पहिले समय में 'असभ्य' लोग धन पाने के लिये अमीरों को जहर देते थे। पर अब की सभ्यता में और क्या हो रहा है ? कमाई करने के लिये खाद्य पदार्थों में तरह-तरह की मिलावट कर स्वास्थ्य की दृष्टि से उन्हें दूषित कर बेचना, क्या रुपये पाने के लिये दूसरों को (एक को नहीं, सैंकड़ों को) जहर खिलाना नहीं है ? घी, दूध, तेल, आटा शहद कुछ भी शुद्ध मिलना आज कठिन हो गया है। इन सबमें न जाने किन-किन बुरी चीजों की मिलावट की जाती है। जो चीज शुद्ध

होगी, जिसमें श्रमी को पूरी मजदूरी दी गई होगी, वह अपेक्षया महंगी होगी ही। अन्न और वस्त्र आजकल की हालत में अपेक्षया महंगे होने चाहियें।

जो किसान दिन भर मेहनत करके अन्न जैसी अत्यन्त उपयोगी वस्तु उत्पन्न करता है, वह आज स्वयं भूखों मरता है क्यों कि उसके श्रम की कीमत नहीं लगाई जाती है—आर्थिक अवस्था ऐसी पैदा कर दी गयी है कि उसे बाधित होकर अपने श्रम की उपज को सस्ता बेचना पड़ता है। सिक्के ने बीच में आकर सस्ते और महंगेपन के भेद को तीव्र बना दिया है। यदि किसान अनाज का ही विनिमय करे तो इतनी मुश्किल न हो। गरीबी का उसका कष्ट कुछ कम हो जाय। अब तो उसका अनाज महंगा बिकना चाहियें यही ठीक उपाय है—असल में तो कुछ ऐसा होना चाहिये—(ऐसी बात पहिले पहल विनोबा जी से सुनी थी तभी से जंच गयी है) कि मनुष्य को अपनी आमदनी का मुख्य भाग (मानो अस्सी फीसदी) खाने कपड़े में ही व्यय करना चाहिये। तभी अन्न वस्त्र आदि अत्यन्त उपयोगी वस्तु (धन) पैदा करने वालों के साथ न्याय हो सकता है। यदि मेरे परिवार में पचास रुपये मासिक खर्च होते हैं तो लगभग चालीस रुपये तो खाने कपड़े में ही व्यय होने चाहिये। इससे धन के सदुपयोग की आधार शिला रखी जायेगी। क्योंकि इससे जो अधिक से अधिक अधिकारी है, उसके पास अधिक से अधिक धन पहुँचेगा, श्रम को पूरा-पूरा प्रतिफल मिलेगा। पर हो यह रहा है कि एक सौ रुपये वेतन लेने वाला कहता है कि मेरे खाने पर तो पाँच रुपये महीना ही खर्च होता है। फिर खर्च और किस बात पर होता है? लोग दूध दो आने का पीते हैं पर उस दूध को पीने के लिये प्याली आठ आने की रखते हैं। जिन चीजों से हमें वस्तुतः कुछ लाभ नहीं होता, जो आवश्यक नहीं, बल्कि हानिकारक हैं उन्हें खरीदने में हम बहुत, बेहद, बिना किसी अनुपात के खर्च करते हैं। यही कारण है कि ईमानदारी का और सबसे आवश्यक श्रम करने वाले के पास तो कुछ नहीं पहुँचता पर केवल बोलने का श्रम करने वाले को दस-बीस रुपये प्रति घण्टा तक आसानी से मिल जाता है।

और ऐसी अन्य विलासिता की चीज जिसकी लागत दो पैसे भी नहीं होती हम खुशी से आठ आने लेते हैं, पर कुम्हार का एक घड़ा खरीदते समय उससे झगड़ते हैं। चार पैसे के भी दो पैसे देना चाहते हैं और कहते हैं कि इसका मार्केट रेट (बाजार भाव) यही है।

(2) यह दूसरा शब्द आ गया जिससे मुझे चिढ़ है। यदि मैं किसी छोटा समझे जाने वाला श्रम करने वाले को कुछ अधिक दिहाड़ी या कुछ अधिक मासिक वेतन देना चाहता हूँ तो लोग कहते हैं कि "क्या इन्हें आप मार्केट रेट से भी ज्यादा दे देंगे?" पर यह बाजार भाव (मार्केट रेट) क्या बला है, यह कभी नहीं सोचते। यह तो गरीबों पर दोहरा अन्याय करना है और अपने को धोखा देना है।

हमने कीमत या भाव ही पहिले अन्याय से बनाये हैं, अतएव गलत बनाये हैं या बनने दिये हैं। पर यदि उस गलती के सुधारने की तरफ ध्यान खींचा जाता तो

उसे ठीक कर देने की जगह 'बाजार भाव' जैसा एक और बढ़िया शब्द बोलकर अपने आपको धोखा देते हैं और गरीब के प्रति किये गये अन्याय को और आगे बढ़ाते जाते हैं। हम यह भी मान लेते हैं और कहते हैं कि बाजार भाव मांग और उपलभ्यता (प्राप्यता) (Demand and supply) से बनता हैं। पर पहले तो बाजार भाव इनसे (मांग और प्राप्यता से) स्वभावतः बनता नहीं है, कृत्रिम तौर से—धनशक्ति के दबाव से व दुरुपयोग से बहुधा बनाया जाता है। धन की अधिकता होने से धनी व्यापारी निश्चिन्त होकर अपनी चीज को कुछ काल के लिये सस्ता बनाकर (गरीब लोग तो अपनी चीज को सस्ता बनाकर जी नहीं सकते) दूसरों के व्यापार को नष्ट कर देते हैं या फिर पूर्वोक्त किसी छिपी हुई बर्बादी या चोरी के कारण देखने में सस्ता कर लेते हैं और फिर मौका पाकर महंगा कर देते हैं और कहते हैं कि यह बाजार भाव है। अन्याय पूर्ण बाजार भाव हमने ही बनाया है। अब हमें समझ आयी है और हम उसे ठीक करना चाहते हैं तो ठीक करने दो। उसे हम ठीक कर देंगे तो यही बाजार भाव हो जायेगा और वह सच्चा बाजार भाव होगा। तब उसमें बेशक मांग और प्राप्यता का सिद्धान्त भी लगाना। वैसे तो तब भी मांग और प्राप्यता को अंधे तौर पर नहीं चलने देना होगा, समाज के ऊँचे कल्याण के लिये धर्म नैतिकता और सचाई के अनुसार उत्कृष्ट चीजों की मांग को बढ़ाना (जैसे आज अधम चीजों की मांग नीची रुचि को जगाने और बढ़ाने द्वारा बढ़ाई जाती है) होगा और किसी की प्राप्यता को घटाना होगा। यह ठीक है कि बाजार भाव के सच्चे न्याय के आधार पर व्यवस्थित कर दिये जाने पर भी वहाँ मांग और प्राप्यता का नियम स्वभावतः लगेगा और वह उतने अंश में उचित भी होगा। पर पहिले तो बाजार भाव किसी न्याय पर आश्रित हो, ऐसा कुछ यत्न हमें करना चाहिये। कम से कम ऐसा कुछ तो होना ही चाहिये कि जो भी मनुष्य दिन में आठ घण्टे (या जितने घण्टे जरूरी समझे जायं) समाज की दृष्टि से कोई उपयोगी श्रम करता है तो उसके श्रम का भाव (बाजार भाव) इतना जरूर होना चाहिये जिससे वह ठीक तरह (शारीरिक, मानसिक, आत्मिक उन्नति करता हुआ) जीवन व्यतीत कर सके। मैंने गुरुकुल में एक सपरिवार व्यक्ति के लिये यह जीवन निर्वाह का भाव कम से कम पच्चीस रुपये रखा है। इससे कम किसी को नहीं मिलना चाहिये। इससे कम में (रुपयों की वर्तमान कीमत में) जीवन निर्वाह नहीं हो सकता। रुपयों की कीमत घटती बढ़ती रहती है। अतः मनुष्य की आवश्यकताओं की परिगणना की जा सकती है कि इतनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकने लायक वेतन कम से कम (सिक्कों या वस्तुओं के रूप में) प्रत्येक श्रम करने वाले को मिलना ही चाहिये। मैं यहाँ सूचना दे दूं कि गांधी सेवा-संघ ने एक उपसमिति बनाई है जो कि खोज कर यह निश्चय करेगी कि वर्तमान काल में हमारे देश में प्रत्येक परिवार की कम से कम आवश्यकतायें क्या हैं जिनकी पूर्ति उसके आठ घण्टे के अपने उचित श्रम के बदले में अवश्य की जा सके। तो तत्व बात यह हुई कि प्रत्येक श्रमी को उसके श्रम की पूरी-पूरी कीमत मिल जानी चाहिये और वही उसका बाजार

भाव होना चाहिये। आज कल का बाजार भाव तो डाका है या जुल्म है। यदि गरीब लोग मजबूर होकर डाका डालें तो वह तो समझ में आता है, पर आजकल तो अमीर लोग गरीबों पर डाका डालते हैं और मजा यह है कि उस डाके को कोई डाका समझता ही नहीं। जब अन्याय से अपने स्वार्थ के लिए किसी चीज को महंगा कर दिया जाता है तो उस सरासर डाके को बाजार भाव के नाम से छिपा दिया जाता है और दूसरी तरफ जब उसी तरह अन्याय से अपने स्वार्थ के लिए गरीब के श्रम को सस्ता कर दिया जाता है, उस सरासर जुल्म को भी बाजार भाव कह के छिपा दिया जाता है। किसी श्रम के बदले में आज हम पाँच आने देते हैं तो कुछ दिनों बाद गरीबी बढ़ जाने पर चार आने देने लगते हैं, गरीबी के मारे बेचारे चार आने पर भी राजी हो जाते हैं; फिर तीन आने कर देते हैं। इस तरह बाजार भाव बनता है। ज्यों-ज्यों गरीबी बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों हम उन्हें और सताते जाते हैं। उनका वेतन और-और कम करते जाते हैं। चाहिये तो यह कि गरीबी बढ़ने पर उनका वेतन बढ़ाया जाय। सच बात तो यह है कि वे गरीब अपनी असली शक्ति को नहीं पहचानते। असल में धन श्रम है और वह श्रम रूपी धन उनके पास है, अपने उस श्रम को वे जहाँ चाहें वहाँ दें, जहाँ न चाहें वहाँ न दें। अपने इस बल को वे नहीं पहिचानते इसलिये बेवस हैं। पर हम बड़े कहलाने वालों को तो न्याय करना चाहिये। ठीक-ठीक न्याय तो यह है कि जिससे हमने श्रम कराया है, उसे उसके श्रम की जो ठीक-ठीक कीमत है वही नहीं किन्तु उससे कुछ अधिक देना चाहिये। ब्याज भी देना चाहिए क्योंकि यदि हम यह समझ गये हैं कि असली धन उपयोगी पदार्थ ही नहीं किन्तु उपयोगी श्रम है तो हम यह भी समझ सकते हैं कि जब हम किसी का श्रम लेते हैं तो हम उसका श्रम रूपी धन उधार लेते हैं क्योंकि जब किसी दूसरे के श्रम की जरूरत है तो वह उसकी मर्जी है कि वह देवे या न देवे। हमें तो अपने ही श्रम का अधिकार हो सकता है, दूसरे के श्रम पर नहीं। पर यदि वह अपना श्रम रूपी धन दे देता है तो वह उधार देता है, ऐसा समझना चाहिये। मतलब यह है कि गरीबों के श्रम की कीमत हम कितने अन्याय से लगाते हैं इस पर हमें अपनी आंख खोलनी चाहिये।

(3) यहाँ एक और शब्द याद आ गया है—स्पर्द्धा। लोग कहते हैं कि स्पर्द्धा होनी चाहिये। पर वह स्पर्द्धा क्या है, कैसी होती है? हमें एक नौकर की जरूरत है। पन्द्रह रुपये हम देंगे। नौकर बहुत से अपने आप को पेश करते हैं। तो चौदह, बारह, या दस रुपये तक लेने को नीचे उतर आते हैं। और हमने दस रुपये मांगने वाले को रख लिया तो हम समझते हैं कि हमने बड़ा अर्थशास्त्र जानने का काम किया। नौकरों में स्पर्द्धा हुई और हमने सस्ते में काम चलाया। हमने अपने गुरुकुल में कलई करानी है और इसके लिये कई ठेकेदार ठेका लेने को तैयार हैं। तो जो कम बोली बोलता है, उसे ठेका दे देना—यह भी न देखना कि कलई उसकी कैसी है, कलई सफाई से ठीक प्रकार से हो ऐसा उसके पास प्रबन्ध है या नहीं, यह देखना

सो दूर रहा कि वह अपने नौकरों को मजदूरी भी ठीक देता है या नहीं—केवल स्वार्थ की दृष्टि से भी उचित नहीं होता। हरद्वार स्टेशन से गुरुकुल जाना हो, बहुत से तांगे खाली हों तो हम उनमें स्पर्द्धा कराते हैं और जो कम से कम पर तैयार हो उसे ले आते हैं, चाहे उसका घोड़ा अड़ियल हो और रास्ते में तंग होना पड़े, इस स्पर्द्धा से भला क्या उन्नति होती है ? किसकी उन्नति होती है ? केवल अपने कुछ पैसे बच जाते हैं। यहाँ स्पर्द्धा शब्द का प्रयोग ऐसा ही है जैसे कि अंग्रेज लोग हिन्दुस्तान को मुक्त व्यापार (Free Trade) का उपदेश देते थे। मुक्त व्यापार (Free trade) होना चाहिये, कितना सुन्दर शब्द है ! पर जब वे स्वयं अपने उद्योगों की वृद्धि करते थे तब तो उन्होंने भारत के हाथ बने कपड़ों पर भी दो सौ प्रतिशत तक रक्षा कर लगाये, तब मुक्त व्यापार नहीं होने दिया, किन्तु जब उनके तो अपने उद्योग जम गये, उनकी टक्कर में भारतीय उद्योग पनपने न पाये इसके लिये, जो अपने उद्योगों की रक्षार्थ भारतीय नेता रक्षा कर (Protection duty) लगाने की बात कहते तो उन्हें कहा जाने लगा 'नहीं, व्यापार तो मुक्त होना चाहिये।' यह सब केवल शब्द जाल है। हम गरीब श्रमियों में ऐसी स्पर्द्धा केवल इसलिए कराते हैं जिससे हमारा स्वार्थ सिद्ध हो और उनकी बेशक बर्बादी हो।

साधु कौन है ?

यह लेख 'गुरुकुल' के शुक्रवार 24 श्रावण 1993 (7 अगस्त 1936) अंक में संपादकीय टिप्पणी के साथ छपा था, जो लेख के शुरू में कोष्ठक में दी गई है।

--सम्पादक

(लाहौर निवासी जूतों के प्रसिद्ध व्यापारी, देश के महापुरुषों का आतिथ्य करने वाले, दानवीर यशस्वी श्री धनीराम जी भल्ला ने अभी होशियारपुर के जिले में अपने ग्राम बजवाड़ा के पास अपने पूज्य पिता जी की यादगार में एक साधु-आश्रम की स्थापना की है। इसका उद्घाटन पूज्य महात्मा हंसराज जी के कर-कमलों से कराया गया है और उसका प्रारम्भ चारों वेदों के पाठ के साथ होने वाले 'सर्वतोभद्र' नामक एक बृहत् यज्ञ के द्वारा किया गया जो कि 15 दिन में पूर्ण हुआ। पूर्णाहुति के बाद इस आश्रम के उद्देश्य पर बोलते हुए आचार्य देवशर्मा जी ने जो भाषण दिया वह संक्षेपतः नीचे दिया जाता है।)

भाई धनीराम जी भल्ला ने जिस आश्रम का उद्घाटन पन्द्रह दिन पहिले महात्मा हंसराज जी के कर-कमलों से कराया है और जिसका प्रारम्भ आज चारों वेदों के बड़े भारी यज्ञ की समाप्ति द्वारा हो रहा है, उस साधु-आश्रम का ठीक-ठीक मतलब हमें समझ लेना चाहिये। यज्ञ के प्रारम्भ होने से पहिली ही रात्रि को मैंने यजमान महोदय (भल्ला जी) से पूछा था कि आप किस इच्छा से, किस संकल्प से यह यज्ञ करना चाहते हैं ? इसको बिना जाने कुछ भी सहायता यज्ञ में मैं कैसे कर सकता हूं ? उन्होंने जो कुछ विस्तार से मुझे सुनाया, उससे मैंने जो तात्पर्य समझा वह एक वाक्य में यह है कि यह स्थान 'दिव्यता का केन्द्र' बने । इस स्थान पर ऐसे साधु महात्मा रहें जिनके जीवन से दिव्यता प्रवाहित हो । अतः मैं तो इस यज्ञ में इसी भावना से बैठता रहा हूँ और इसी संकल्प की सफलता की मन ही मन प्रार्थना करता रहा हूँ।

वैसे तो इस देश में बावन लाख साधु फिरते हैं जिनमें विरले ही हैं जो इस पवित्र शब्द को सार्थक करते हैं। नहीं तो इन तम्बाकू, भांग, चरस पीने वाले लाखों साधुओं द्वारा इस देश की अवस्था सुधरने की अपेक्षा गिरी ही है। असल में साधु वह है जो कि साधना करने वाला हो, किसी ऊंचे उद्देश्य को लेकर साधना में लगा हुआ हो। यों कहना चाहिये जिसे कोई लगन लगी हो, कोई आग लगी हो। साधु लोग जो यह गेरुआ कपड़ा पहिनते हैं, वह असल में अग्नि का वर्ण (रंग) है। जिस

मनुष्य का जीवन जब यज्ञ-रूप हो जाता है, तभी वह संन्यासी बनने का अधिकारी होता है। तभी वह बाहर की अग्नि को अपने अन्दर धारण (आत्मनि समाधाय) करके बाह्य अग्निहोत्र की आवश्यकता से मुक्त होता है। इसलिये साधु वह है जिसमें कोई आग समाई हुई हो। साधु का गेरुआ कपड़ा भी तो उस आग का बाहिरी चिह्न ही है, अतः चाहे उसने गेरुआ कपड़ा पहिना हो या न पहिना हो किन्तु जिसमें कोई शुद्ध यज्ञीय आग जल रही है, जिसे कोई पवित्र लगन लगी हुई है, ऐसा साधना-युक्त पुरुष ही साधु है। ऐसे ही साधुओं के लिए यह आश्रम उद्घाटित हो रहा है।

काल-चक्र की गति के कारण इस देश के साधुओं के साथ अकर्मण्यता का सम्बन्ध जुड़ गया है। जो निठल्ला नहीं पड़ा रहता, जो कुछ परोपकार का कार्य करता है, कुछ सामाजिक सेवा के कार्य में सहयोग देता है, वह तो आज साधु ही नहीं समझा जाता। साधु कहते हैं कि हम तो जंगल में अकेले बैठकर तपस्या करेंगे। पर मेरा अनुभव यह है कि आजकल जो मनुष्य सचमुच तपस्या करना चाहता है और आत्मोन्नति करना चाहता है, उसे तो वृक्षों के जंगल की अपेक्षा, इस मनुष्यों के जंगल में, मनुष्य-समाज में बैठकर तपस्या करनी चाहिये। उन बेजान दरख्तों के जंगल में अकेले रहना कुछ मुश्किल नहीं है, कुछ तपस्या नहीं है। जंगल के सांप, बिच्छू, शेर, चीतों से बचे रहना भी कुछ मुश्किल नहीं है किन्तु इस जीते जागते मनुष्यों के जंगल में तपस्या करना बड़ा कठिन है। इन लोगों के अन्दर से और अपने ही अन्दर से बड़े-बड़े भयंकर पशु निकलते हैं। जब कोई सेवक जनता के भले के लिये उन्हें कुछ कहता है तो ना-समझ या स्वार्थी लोग उसे नाना प्रकार से न केवल बार-बार निराश करते हैं, किन्तु राग, द्वेष, दलबन्दी आदि के वशीभूत होकर उसे अकथनीय कष्ट भी पहुँचाते हैं। मानों सांप बिच्छू की तरह काटते हैं चीते-बाघ की तरह चीरते फाड़ते हैं। इस सब कष्ट को अम्लान होकर, निर्विकार होकर सहते जाना और साथ ही कभी भी घबरा-कर सेवामार्ग ही न छोड़ देना यही वास्तविक तपस्या है, वह तपस्या है जिसके द्वारा आजकल का मनुष्य आत्मोन्नति प्राप्त कर सकता है। ये शेरवाले साधु यहाँ हैं जिन्हें देखने बड़ी दूर-दूर से लोग यहाँ इकट्ठे हुए हैं। पर मैं कहना चाहता हूं कि इस बाहरी शेर की अपेक्षा हमारे अन्दर रहने वाले पशुभाव, हमारे अन्दर के शेर-चीते, बहुत अधिक भयंकर हैं, उनको वश में करना बहुत ही कठिन काम है। बाहर का शेर तो अधिक से अधिक हमारे भौतिक शरीर को मार देगा, पर अन्दर के ये शेर-चीते, ये ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, प्रति हिंसा के दुर्दमनीय व्याघ्र हमारे मानसिक और आत्मिक जीवन को ही समाप्त कर देते हैं, हमें मन और आत्मा सहित ऐसा मार डालते हैं कि हम शायद अगले जन्म में भी मनुष्य नहीं बन सकते। अन्दर के भयंकर शेरों का दमन करना चाहिये। यह कार्य बिल्कुल निःस्वार्थ, बिल्कुल निरभिमान, बिल्कुल निरहंकार होकर सेवा करने से ही हो सकता है, सर्वथा यज्ञ-मय जीवन बन जाने से ही हो सकता है। यज्ञ ही है जिसके द्वारा पशु से मनुष्य और मनुष्य से देव बना

जाता है। इन अन्दर के पशुओं को जीतने की तपस्या समाज के अन्दर रह कर यज्ञीय जीवन बिताने से हो सकती है। जंगल में अकेले रहने से तो आदमी भ्रमवश समझने लगता है कि मैंने राग-द्वेष को जीत लिया किन्तु समाज में आकर जब प्रबल प्रलोभन व उत्तेजना आती है, तब भी यदि मन में राग-द्वेष न पैदा हो—तब भी मनुष्य अकेला, केवल आत्मस्थ रह सके—तभी मानना कि अन्दर के ये पशु दबे हैं, तभी मानना कि मैं साधु बना हूं। इसका मतलब यह नहीं कि एकान्त में, मनुष्य-समाज से जुदा बैठकर साधना करना किसी भी दशा में आवश्यक नहीं होता। यह भी होता है। परन्तु मैं तो यहाँ सामान्य लोगों के लिए कह रहा हूँ और संसार की वर्तमान अवस्थाओं के अनुसार कह रहा हूँ। मेरा मतलब इतना ही है कि सेवा भाव से प्रेरित होकर, निष्काम होकर कर्म करना इस समय का युग-धर्म है। आजकल हमारे देश में जो उत्तम उत्तम संस्थायें धर्म, देश व जाति के उद्धार के लिये बनती हैं, बड़े उच्च पवित्र उद्देश्य से बनती हैं, उनमें भी सेवा का नाम लेकर स्वार्थ साधन होने लगता है। यही कारण है कि हम आज तक जहाँ के तहाँ पड़े हैं। जो सचमुच निःस्वार्थ सेवक हैं, ऐसे लोग मिलते नहीं। लोग जेल आदि जाने जैसे बलिदान के कार्य भी सस्वार्थ भाव से करते रहते हैं। हमारा सार्वजनिक जीवन बहुत ही कलुषित बना हुआ है। प्रफुल्लचन्द्रराय जैसे ऊंचे पुरुष भी देश के सार्वजनिक जीवन से निराश हुए, उपराम हुए सुने जाते हैं। इस अवस्था को हम तभी दूर कर सकते हैं, जबकि हम सचमुच सर्वथा ईमानदारी से, सचाई से, राग-द्वेष को छोड़कर मनुष्य समाज की सेवा में लगें। यहाँ दीवार पर लिखा हुआ—'सेवा ही धर्म है'—यह सर्वथा ठीक है। पर सेवा करने वाले सेवक मिलते कहाँ हैं? इसीलिये जरूरत है कि साधु लोग सेवक बनें, जंगलों में जाने की जगह मनुष्य-समाज में बैठ कर तपस्या करने वाले बनें। भजन करने का अर्थ भी सेवा करना है—'भज सेवायां' धातु है।

छान्दोग्य उपनिषद् में आता है कि आचार्य ने ब्रह्मचारी सत्यकाम को सौ दुबली गौएं देकर कहा कि इन्हें ले जाओ और इनकी सेवा करो, जब ये एक हजार हो जायें तभी लौटना। न जाने कितने वर्षों तक सत्यकाम वह गौ-सेवा का कार्य करता रहा होगा। उसका फल यह हुआ कि वह जब इनके एक हजार होने पर लौटा तो उसे चार पड़ावों में चार दिन में ही ब्रह्मज्ञान हो गया। आचार्य-कुल में पहुँचने पर उसकी शक्ल देखकर ही आचार्य बोले 'तू तो ब्रह्मविद दीखता है।' उसने न कुछ पढ़ा, न लिखा, केवल गौसेवा की, इसी से उसे ब्रह्मज्ञान हो गया। आज भारतवर्ष में गौओं की जो दुर्दशा है उसे देखकर आँखों में आँसू आते हैं। आस्ट्रेलिया, अमेरिका में पन्द्रह-बीस सेर से कम दूध देने वाली गौ मुश्किल से मिलती है पर श्रीकृष्ण के इस भारतवर्ष में आज यह हाल है! तो यदि कोई लगन वाला साधु गो-सेवा में लग जाय तो कितना कल्याण हो। पर आजकल के साधु कहेंगे कि 'अरे यह साधु होकर गो-सेवा करता है!' यहाँ मैंने एक साधु को चर्खा कातना सिखाया है। वे ही कहते हैं कि मुझ पर कई साधु हंसते हैं कि वह साधु बन

कर चर्खा कातता है। परन्तु सच्चे साधु का तो आजकल कार्य ही यह है कि वह क्षेत्र संन्यास लेकर बैठ जाय कि मैं 20, 25 वर्ष इस इलाके में प्रत्येक घर को चर्खे द्वारा कपड़े में स्वावलम्बी बनाने में लगा दूंगा, इस इलाके में विदेशी व दूसरे कपड़े की जरूरत ही न रहे ऐसा बना दूंगा। किसी साधु के मन में यह लगन लग सकती है, ऐसी पवित्र आग प्रज्वलित हो सकती है कि वह निश्चय कर ले कि यहां से सौ मील के घेरे में जब तक एक भी आदमी शराब पीने वाला रहेगा, तब तक मैं चैन नहीं लूंगा। मतलब यह कि किसी भी पवित्र अग्नि के लिए अपने आपको समर्पित कर लेने की आवश्यकता है। अस्तु, यह सब मैं यह बताने के लिये कह गया हूँ कि मेरी समझ में सच्चे साधु कैसे होने चाहियें और उन्हें क्या करना चाहिये। कम से कम मेरे मन में यही रहा है कि यह साधु-आश्रम ऐसे ही साधुओं के लिये प्रारम्भ किया गया है। मैं यह भी जानता हूँ कि यज्ञ के यजमान की भी यही प्रबल इच्छा है। इसलिए अन्त में हम सब को चारों वेदों के पाठ से पवित्र हुए इस मण्डप में परमेश्वर के सन्मुख प्रार्थना करनी चाहिए, अपने हृदय-तल से प्रार्थना करनी चाहिए, कि यह स्थान दिव्यता का केन्द्र हो, यह स्थान निःस्वार्थ सेवा का धाम हो, यह स्थान सच्चे साधुओं का आश्रम हो।

जप

आचार्य जी का यह लेख प्रश्नोत्तर शैली में 'अलंकार' के जुलाई 1934 अंक में 'अध्यात्म-सुधा' स्तंभ के अन्तर्गत प्रकाशित हुआ था। —सम्पादक

एक भाई से जप के सम्बन्ध में वार्तालाप करने का अवसर हुआ। 'अलंकार' के उन पाठकों के लिए, जिन्हें ऐसी बातों में दिलचस्पी हो, मैं उसे प्रश्नोत्तर रूप में लेखवद्ध किये देता हूँ क्योंकि ऐसे प्रश्न प्रायः लोग पूछा करते हैं।

प्रश्न—तो फिर जप करना आध्यात्मिक उन्नति प्राप्त करने का सर्वोत्तम प्रकार है?

उत्तर—नहीं, मैं ऐसा नहीं कहता। एक अवस्था विशेष में (और वह अवस्था बहुत से लोगों की हुआ करती है जबकि) जप करना बड़ा लाभदायक होता है। पर जप जी लगाकर करना चाहिए और स्वाभाविक रूप से करना चाहिये।

प्रश्न—जप में जी कैसे लगे? एक ही मंत्र को, वाक्य को या नाम को बरावर एकरस बोलते जाना यह तो सचमुच बड़ा सूखा काम है।

उत्तर—इसलिए मैंने 'स्वाभाविक रूप से करना चाहिए' यह कहा है। स्वाभाविक जप सूखा या एकरस नहीं होता, उसमें तो अगली-अगली बार उसके बोलने में अधिक अधिक रस आता है। एक बार विद्यार्थी अवस्था की बात है कि एकान्त में स्वामी रामतीर्थ की पुस्तक पढ़ते हुए मुझे एक वाक्य इतना सुन्दर लगा कि मैंने पुस्तक बन्द कर दी और आँख मींचकर उस वाक्य को बार-बार दोहराता गया। मुझे याद आता है कि वह वाक्य मैंने पचास बार से अधिक दोहराया होगा। बोलने में इतना आनन्द आता था कि मैं उसे अवश होकर फिर फिर उच्चारण करता जाता था। इसका मतलब यह है कि उस वाक्य का मुझ में स्वाभाविक जप होने लगा। वास्तव में जप मंत्र, वाक्य या नाम इतना सुन्दर, इतना आनन्ददायी, इतना जीवन-रस बहाने वाला होना चाहिए कि उसे बार-बार बोलने को स्वयं जी करे। माघ कवि का प्रसिद्ध वाक्य है—

तदेव रूपं रमणीयतायाः
पुनः पुनः यन्नवतामुपैति।

अर्थात् रमणीयता या सौन्दर्य की यही विशेषता है कि वह फिर फिर नया होता जाता है। सच्चा सौन्दर्य कभी एकरस या सूखा नहीं होता। जब वह ऐसा हो

जाता है तो वह सौन्दर्य नहीं रहता। इसी तरह जप का विषय अर्थात् प्रभु नाम का सौन्दर्य या मंत्र का अद्‌भुत अर्थ जब तक इतना सुन्दर नहीं होता कि वह प्रतिक्षण नया-नया होता जाये, जब तक स्वाभाविक जप नहीं हो सकता। जैसे गीता सुनता हुआ अर्जुन श्रीकृष्ण से कहता है—

भूयः कथय तृप्तिर्हि
श्रृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्।

वैसे जप करने वाला चाहता है कि वह जिस प्रिय नाम, प्रिय वाक्य को अपने मन द्वारा उच्चारण होता हुआ सुन रहा है, उसे लगातार सुनता ही जावे, उसे सुनता हुआ वह कभी तृप्त नहीं होता। अगला अगला ओम् नाम, अगला अगला गायत्री मंत्र उसे नया नया आनन्द, जीवन और स्फूर्ति देता हुआ जाता है। इसीलिए यह भी ठीक है कि जब कोई वाक्य या नाम अपने में पूरी तरह बस जाता है, रम जाता है तो फिर उसके वाचिक जाप की आवश्यकता नहीं रहती। अस्तु।

पर यदि तुमको अभी अपने में इतना आनन्द नहीं आता जितना कि मेरे कथनानुसार स्वाभाविक जप में आना चाहिए तो भी इस आशा से और केवल इसी आशा से जाप जारी रखना चाहिए कि कुछ समय बाद इसमें अवश्य ही ऐसा ऐसा आनन्द आने लगेगा। जैसे हमें सब गोरे योरोपियन लोग एक जैसे, एक ही आकृति वाले एक रस दिखाई देते हैं किन्तु हममें से जिनका उन लोगों में अच्छा परिचय हो जाता है, उन्हें तो प्रत्येक योरोपियन अपनी भिन्न-भिन्न आकृति और प्रकृति वाला दीखने लगता है, उसी तरह जप विषय में प्रवेश हो जाने पर उसकी एकरसता या सूखापन जाता है।

प्रश्न—किसका जप करना चाहिए?

उत्तर—मेरे पहले कथन से स्पष्ट है कि जप उस मंत्र, नाम या वाक्य का करना चाहिये जिसके जपने से (अर्थ भावन से) नया नया आनन्द, नया नया जीवन मिलना अनुभव होवे। परमेश्वर के उस नाम का जप करना चाहिए जो नाम तुम्हें सबसे अधिक प्यारा लगता है, जिसे तुम बार-बार बोलते जाओ पर तृप्ति न होवे। उसी के जपने में लाभ होगा।

प्रश्न—आप किसका जप करते हैं?

उत्तर—मैंने 'ओंकार' का बहुत जाप किया है। गायत्री मन्त्र के विषय में यह भी कह सकता हूं कि इसके जप से मैंने बड़ा लाभ पाया है एवं राम नाम भी मैंने जपा है और अब भी जप लेता हूँ। कभी-कभी नारायण आदि अन्य प्रभु नाम भी पुकारने लगता हूँ।

प्रश्न—मैं कौन सा नाम जपूं?

उत्तर—इसका उत्तर तो मैं दे ही चुका हूँ पर यदि तुम मुझसे ही पूछना चाहो तो मैं कह दूंगा कि तुम अभी गायत्री जपो। आगे कुछ और जपने को बताना आवश्यक होगा तो फिर बतलाऊँगा।

एक बात सुनाता हूँ। गुरुकुल में एक डच (हालैंड निवासी) सज्जन कई वर्ष रहे थे। उन्होने अपना नाम उपेन्द्र रख लिया था। वे बड़े ईश्वरभक्त थे। वे जब एक बार मुझसे योग सीखने की इच्छा से मिले तो मैंने उन्हें एक प्रकार का प्राणायाम बताते हुए कहा कि श्वास रोकते हुए इतनी बार मन में ओम् ओम् जपिये। इस पर वे बोले कि मैं इसका अर्थ जानता हूँ। (I know its meaning)। मैंने पूछा–क्या ? उन्होंने उत्तर दिया––'इसका अर्थ है परमेश्वर किन्तु मुझे परमेश्वर का अल्लाह नाम बड़ा प्यारा लगता है।' मुझे आश्चर्य हुआ कि इस योरोपियन को 'अल्लाह' शब्द क्योंकर प्रिय हो गया। मैंने कारण पूछा तो वे बताने लगे––'दुनिया भर में मैं पैदल घूमा हूँ। जब मैं अरब में फिरता था तो वहाँ जो प्रातः और रात्रि के समय मस्जिदों में प्रायः मुल्लाओं की अज़ान की ध्वनि हुआ करती थी, उसमें भक्तिपूर्वक गम्भीर स्वर से बोला गया 'अल्लाह' शब्द मेरे हृदय में असर कर गया है। इस शब्द से मुझे एकदम परमेश्वर का ध्यान आ जाता है।' उनकी यह बात सुनकर मैं समझ गया और शर्मिंदा हुआ कि हमारे मुखों से बोला गया 'ओम्' शब्द इन उपेन्द्र जी के हृदय पर असर नहीं कर सका है। उन्होंने यह भी कहा कि आपके (गुरुकुल के) ब्रह्मचारी जो हवन करने बैठते हैं तो उससे यह नहीं लगता है कि वे कोई धार्मिक कृत्य कर रहे हैं। अस्तु। यह बात सुनाने का मेरा तात्पर्य यह है कि दूसरे से बताये गये मन्त्र व नाम के जपने में भी कुछ वैशिष्ट्य होता है, यह मैं मानता हूं पर ऐसा मन्त्रदाता या नामोपदेष्टा वही हो सकता है जिसके कि मुख से उच्चारण किये शब्द सीधे हृदय पर प्रभाव करने वाले हों, परमेश्वर अर्थ को जाग्रत कराने वाले हों। पुराने ऋषियों के दिये 'ओम्' शब्द में यह महत्व था (यद्यपि इस समय आर्य समाज में तो मुझे कोई महानुभाव नहीं मालूम होते जो इतने अधिकार से ओम् की दीक्षा दे सकते हों) जो कुछ भी हो, यही भावना है कि जिसके कारण मुझे अपनी तरफ से (गुरु के तौर पर) किसी जप को बताने में इतना संकोच होता है। मैं तो अभी तुममें यह भाव दृढ़ करना चाहता हूं कि परमेश्वर के सब नाम एक बराबर हैं जहाँ तक कि वे परमेश्वर वस्तु को उपस्थित करने में समर्थ हैं। यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए। कहते हैं कि रामकृष्ण परमहंस ने राम, रहीम, विष्णु, शिव, अल्लाह, गॉड, मुहम्मद, ईसा आदि सब मतों के ईश्वर वाचक शब्दों को जप जपकर इतना सम कर लिया था कि ये शब्द समान रूप से उनके लिए परमेश्वर को स्मरण कराने वाले हो गये थे। यदि तुम यह बात समझते हो तो कुछ कठिनाई नहीं रहती। फिर तो जो नाम तुम्हें सबसे अधिक प्रिय होवे, सबसे अधिक उद्बोधक होवे, उसी का जपना तुम्हें श्रेयस्कर होगा। साधारणतया एक हिन्दू के लिए ओम्, प्रभु आदि ऐसा नाम होगा और मुसलमान के लिए अल्लाह, खुदा आदि वह नाम होगा।

प्रश्न—ठीक है। अभी मैं गायत्री जप करता रहूँगा। गायत्री का अर्थ जो आपने बताया है ('वैदिक विनय' में स्पष्ट किया है) उसी के अनुसार भावना करता हुआ जप करूंगा। प्रत्येक गायत्री जप के साथ मुझ में 'वरेण्य भगः' आ रहा है, यह

अनुभव करूँगा। 'यज्ञानां जप यज्ञोऽस्मि' यह जो गीता में लिखा हैं, इसका तात्पर्य क्या है ?

उत्तर—इसका मतलब मैं जो समझता हूँ, वह कहता हूँ। यह तो स्पष्ट है कि इस वाक्य का तात्पर्य जप को सर्वश्रेष्ठ यज्ञ बताने का है। 'यज्ञ' उन सर्वश्रेष्ठ कर्मों का नाम है जिनके द्वारा मनुष्य परमेश्वर से ठीक सम्बन्ध में जुड़ा रहता है। इन कर्मों में जप सर्वश्रेष्ठ इसलिए है क्योंकि यह इसका स्वाभाविक उपाय है। परमेश्वर से हमारा सम्बन्ध मन द्वारा जुड़ता है और मन स्वभावतः चंचल है। मन की इस स्वाभाविक चंचलता का सहारा लेकर मन को जीतना जप द्वारा ही होता है। जप करने में जो लगातार एक गायत्री के बाद दूसरी गायत्री बोली जाती है, उससे प्रत्येक गायत्री की समाप्ति पर मन को आराम मिलता जाता है, उसका चंचलता का स्वभाव पूरा होता रहता है पर साथ ही जो बार-बार एक नया नया गायत्री का संस्कार पड़ता जाता है, उससे एकाग्रता या ध्यान का प्रयोजन भी पूरा होता जाता है। जप नामक साधन की यही विशेषता है, इसीलिये जप की बड़ी महिमा है।

प्रश्न—योग दर्शन में प्रणव जप का जो फल लिखा है अर्थात् आत्म-ज्ञान और विघ्न-विनाश। इतना भारी फल क्या केवल जपने से सम्भव है ?

उत्तर—बिल्कुल सम्भव है। उसमें मैं अक्षरशः विश्वास करता हूँ। यह तो जानते ही हो कि जप का अर्थ वहाँ 'तदर्थ भावना' बताया है। इसमें क्या आश्चर्य की बात है कि परमेश्वर वाचक शब्द द्वारा लगातार परमेश्वर अर्थ की भावना करने से यह आत्मा अपनी अन्दर की चेतना में प्रकाशित हो जाता है। यह समझने में भी मुश्किल नहीं होनी चाहिए कि व्याधि (बीमारी), स्त्यान (मन का भारीपन), संशय आदि सब विघ्न दूर हो जाते हैं। क्योंकि परमेश्वर सम है, निर्विकार है, ज्ञानस्वरूप है इसलिए उसके नाम जपन द्वारा बार-बार इसका अर्थ भावन करने से शरीर का धातु वैषम्य (व्याधि), अन्य विकार तथा भ्रमज्ञान आदि सब मनोविकार निवृत्त होना स्वाभाविक है। वास्तव में योग मार्ग पर चलने वाले लोगों की बहुत सी शारीरिक और मानसिक व्याधियाँ और बाधाएँ दूर हो जावें, यदि वे निरन्तर प्रणव जाप को जारी रखें। यहाँ 'प्रणव' शब्द से मैं आवश्यकतया 'ओम्' को ही नहीं लेता हूँ। कोई भी प्रभु की 'प्रकृष्ट स्तुति' प्रणव है। ऋषियों ने यह प्रकृष्ट स्तुति ओम् में प्राप्त की थी अतः ओंकार में ही 'प्रणव' शब्द रूढ़ हो गया है। परन्तु प्रणव जप का उपर्युक्त फल प्रभु की अन्य प्रकृष्ट स्तुतियों से भी प्राप्त हो सकता है और प्राप्त होता है, इसमें कुछ संदेह नहीं है। एवं प्रभुनाम जपने से रोग, आलस्य, संशय आदि भी निवृत्त हो जाते हैं, यह कोई अन्धविश्वास की बात नहीं है किन्तु पूर्णतया वैज्ञानिक (मनोवैज्ञानिक) बात है।

प्रश्न—क्या जप का विधान वेद में है ? वेद में तो जप का वर्णन नहीं दीखता।

उत्तर—नहीं, वेद में जप का—स्वाभाविक और सच्चे जप का—बड़ा सुन्दर और बहुत बहुत वर्णन है। यह और बात है कि जप धातु का प्रयोग वेद में न हो या

बहुत कम हो। परन्तु परमेश्वर को पुकारना, बार-बार पुकारना, निरन्तर उसका नाम लेना आदि वर्णन बहुत है। जप करना इसी का तो नाम है। वेद के निम्नलिखित मंत्रों में जप का वर्णन देखो—

'नाम नाम्ना जोहवीति पुरा सूर्यात् पुरोषसः।' —अथर्व०

सूर्योदय से भी पहले उषाकाल से भी पहले मैं नाम द्वारा तेरे नाम को बार-बार पुकारता हूँ।

'त्वा अवसे जोहवीति।' —ऋग्वेद 7–38–6

(भग को) रक्षा के लिए बार-बार पुकारता है।

'मनामहे चारू देवस्य नाम।' —ऋग्वेद 1–24–2

उस देव के सुन्दर नाम को हम लेते हैं।

'ह्वयामि शक्रं पुरुहूतमिन्द्रम्।' —6–47–11

बहुतों से पुकारे गये सर्वशक्तिमान परमेश्वर को मैं पुकारता हूँ।

'मर्त्ता अमर्तस्य ते भूरि नाम मनामहे।'—ऋग्वेद 8–11–5

मरणशील मनुष्य तुझ न मरने वाले का नाम बहुत-बहुत लेते हैं।

'सदा ते नाम स्वयशो विवक्ति।'

तेरे स्वयश नाम को मैं सदा बोलता रहता हूं।

प्रश्न—क्या जप माला से करना चाहिए?

उत्तर—यद्यपि स्वाभाविक जप में गणना की आवश्यकता नहीं है तो भी जप को स्वाभाविक बनाने के लिए और इसको इष्ट लाभ तक पहुँचाने के लिए जप को नियमित रूप से करना आवश्यक है। काल से जैसे दो घण्टे जप करना है, संख्या से जैसे एक लाख जप करना है। इस तरह का कोई नियम बिना किये जप साधन नहीं चलता है। प्रायः काल की गणना की अपेक्षा जप संख्या की गणना करना इसीलिए अच्छा होता है क्योंकि जप संख्या नियत होने से उतने जप करना और मन लगाना आवश्यक हो जाता है। मैं ऐसा किया करता था कि जिस जप में मन पूरा नहीं लगा, भटक गया, उसको नहीं गिना अर्थात् माला के अगले मनके को हाथ नहीं लगाया, उसी मनके को पकड़े रखा। ऐसा करने से मन का लगाना भी आवश्यक हो जाता था। जैसे यज्ञ-भावना से नित्य सूत कातने वाले के लिए आधा घंटा कातने की अपेक्षा 150 तार कातने का नियम बनाना अधिक सूत निकालने की दृष्टि से अच्छा है, उसी तरह अधिक जप कर लेने के लिए माला से गिनकर जपना अच्छा है। पर बढ़िया सूत कातने के लिए या अधिक ध्यान लगाने के लिये कुछ समय तक काल का नियत कर लेना अच्छा है। मैं आजकल ऐसा करता हूँ कि दोनों समय सौ सौ जप तो गिनकर करता हूँ, उसके बाद स्वच्छन्दता से करता हूँ। कम से कम आधा घंटा इसमें अवश्य लगे, इसका भी ध्यान रखता हूँ। अस्तु। मतलब यह है कि जप साधना के समय में माला या घड़ी आदि की सहायता लेना बड़ा उपयोगी होता है। यद्यपि जब जप सिद्ध (स्वाभाविक) हो जाये तो इनकी सहायता की जरूरत नहीं रहती।

पारस्परिक प्रेम

यह लेख 'गुरुकुल' के शुक्रवार 22 ज्येष्ठ 1994 (4 जून 1937) और शुक्रवार 29 ज्येष्ठ 1994 (11 जून 1937) अंकों में छपा था। लेखक का नाम था—आचार्य देवशर्मा जी।

—सम्पादक

यह देखा जाता है कि तुम ब्रह्मचारियों में कभी किन्हीं दो का विशेष प्रेम हो जाता है। यह अपने आप में कुछ बुरी चीज नहीं। यह स्वाभाविक है। तुम क्या, तुमसे जो छोटे—दूसरी तीसरी श्रेणी के (9–10 बरस के) ब्रह्मचारी हैं उनमें भी विशेष प्रेम या मैत्री हो जाती है। पर जैसे वे बचपन की मैत्रियाँ बड़ी जल्दी बनती बिगड़ती हैं वैसे ही तुम्हारे ये प्रेम और मैत्रियाँ भी कुछ स्थायी वस्तु नहीं होतीं। इसका क्या कारण है ?

विद्यार्थी काल की दो मैत्रियों का मुझे भी अनुभव है। एक मैत्री तो अपनी श्रेणी के ही एक विद्यार्थी से हुई और यह कुछ महीनों बाद ही हट गई। प्रारम्भ में उसके प्रति एक आकर्षण प्रतीत हुआ, वह बढ़ा फिर वह घटने लगा और पीछे से से तो उसके निकट होने में एक प्रकार का हटाव (घृणा) भी अनुभव होने लगा था।

दूसरी मैत्री तीन चार साल चली। महाविद्यालय में भी रही। इसका प्रारम्भ इस प्रकार हुआ कि स्वामी व्रतानन्द जी स्नातक होते समय मुझे कुछ होनहार दीखने वाले अच्छे ब्रह्मचारियों का नाम बता गये थे कि इनसे मैं मिलता रहा करूं। उनमें से एक ब्रह्मचारी मुझे विशेष प्रिय लगने लगा। उससे मिलने को विशेष इच्छा होती थी, छुट्टी के दिन भी वह मिलने न आवे तो दुःख होता था, चिन्ता होती थी, उसके विषय में नाना तरह के विचारों से मेरा मन भरा रहता था। उससे मिलूँगा तो यो कहूँगा, उसे यह वस्तु दूँगा इत्यादि चिन्तन करता था। जब उसकी प्रतीक्षा हो और वह न आवे तो मैं किसी और काम में मन नहीं लगा सकता था। छुट्टियों में उसे साथ रखने की इच्छा होती थी, उसका पत्र आता था तो उसे बार बार पढ़ता था इत्यादि। अन्त में जाकर यह मैत्री शान्त हो गई, खत्म हो गई। एक रोज शाम को कुछ विचार ऐसे उठे कि इससे मैं क्यों विशेषता रखूं ? और सब भी एक जैसे भाई हैं इत्यादि। उस विचार से हृदय कुछ हलका हुआ। ऐसा अनुभव हुआ कि मैं किन्हीं बन्धनों से जकड़ा हुआ था, उनसे मुझे छुटकारा मिल गया है, मैं खुलकर (मुक्त होकर) फिरने लगा हूँ। तभी मैंने अपने जीवन में सबसे पहले एक

कविता बनाई जिसमें इस छुटकारे और हल्केपन का वर्णन था। 'असली प्रेमभाजन कौन है ?' इस पर एक अंग्रेजी में तथा संस्कृत में निबन्ध भी लिख डाला।

यह सुनाने से मेरा तात्पर्य यह है कि मैं सब जानता हूँ कि ऐसा प्रेम हो जाया करता है और हो जाना बिल्कुल स्वाभाविक है। पर ऐसे प्रेम क्यों होते हैं ? यदि हम इसके तल में पहुँच सकें तो हम जहाँ इस मार्ग के महान खतरे को समझ सकते हैं वहाँ प्रेम की महान महिमा को भी जान सकते हैं।

मैं प्रारम्भ में ही कह देना चाहता हूँ कि प्रेम, शुद्ध प्रेम एक अत्युच्च वस्तु है। यह परमात्मा का एक स्वरूप है। 'परमेश्वर प्रेम है' यह कथन बिल्कुल सच्चा है परन्तु फिर भी जिसे इस दुनिया में साधारणतया 'प्रेम' शब्द से कहा और समझा जाता है, वह एक बड़ी ही बिगड़ी हुई, दोषयुक्त और मनुष्य को गिराने वाली वस्तु बन गई है। यह ऐसा ही है जैसे किसी जगह यदि मैला, दुर्गन्धित, खारा बल्कि विषैला पानी ही उपलब्ध होता हो और वे उसे ही इस्तेमाल करना जानते हों और पानी नाम से उसे ही पहिचानते हों तो उनके बीच शुद्ध निर्मल मधुर, स्वच्छ, जीवन-दायी जल की बात करना निरर्थक होगा। प्रेम के विषय में हमारा ऐसा ही हाल है। अतः अशुद्ध प्रेम को ही प्रेम समझे जाने के कारण यदि धार्मिक लोग हमें प्रेम में फंसने से इस तरफ मुँह उठाने से ही, सख्ती के साथ रोकें तो इसमें क्या आश्चर्य है ? उनका वह रोकना सही है, वे हमें मरने से बचाने के लिये ही रोकते हैं। इसी लिये ब्रह्मचारी के नियम हमें रूखे और कठोर से लगते हैं। पर पुराने ऋषियों ने ब्रह्मचर्याश्रम की व्यवस्था बड़ी ही दूरदर्शिता तथा समझदारी से की थी। प्रेम, आसक्ति और विषय-सेवन यह एक ऐसा रास्ता है जो कि मनुष्य को सरपट विनाश की ओर ले जाता है। अतएव विद्याध्ययन व ज्ञानोपार्जन के काल में हमारी सभ्यता ने मनुष्य को (विद्यार्थी को) ऐसे प्रलोभनों से बिल्कुल जुदा रखने की व्यवस्था की है। इसीलिये तुम शहर के प्रलोभनों से बिल्कुल जुदा रखे गए हो और यह सर्वथा उचित है। तुम अभी इस कुमारावस्था में संसार के प्रलोभनों के आक्रमणों को सहन नहीं कर सकते हो। यदि प्रलोभनों के बीच में रख दिये जाओगे तो तुम इतने अस्त व्यस्त हो जाओगे कि तुम जीवन को ठीक प्रकार प्रारम्भ ही नहीं कर सकोगे, तुम्हारा जीवन पौधा इस संसार-भूमि में जड़ ही नहीं पकड़ सकेगा, वा लड़कपन में ही तुम मुरझाने और नष्ट होने लगोगे। इसकी पूरी पूरी सम्भावना है। उस 'प्रेम' नामक बोझिल वस्तु को तुम अभी सम्भाल ही नहीं सकते। यदि कोई छोटा ब्रह्मचारी किसी बड़े बलिष्ठ ब्रह्मचारी की नकल में बड़ा भारी बोझ उठाने का प्रयत्न करे तो जैसे उसके अंग-भंग होने का खतरा है, और उसकी छाती को कोई स्थायी हानि पहुँच जाने का खतरा है वैसा ही भयंकर खतरा तुम्हें दुनियावी प्रेम के बोझ को उठाने के प्रलोभन में पड़ने देने में है।

प्रेम बेशक बहुत ऊँची चीज है। पर इस ऊँचाई पर से गिर पड़ने का उतना बड़ा खतरा भी है, विशेषतः बालक के लिये। अतः साधारण नियम यह है कि

बालक को बहुत ऊँचे चढ़ने के प्रलोभन में पड़ने से ही बचाया जाय। उसे उसके योग्य ऊँचाई तक ही चढ़ने की व्यवस्था की जाय।

मैं अपने आशय को दूसरी तरह स्पष्ट करता हूँ। सौन्दर्य की उपासना करना कोई बुरी चीज नहीं है। बल्कि शुद्ध सौन्दर्य की उपासना अत्यावश्यक है। भगवान् में ही शुद्ध सौन्दर्य की पराकाष्ठा है। अतः यदि तुममें से किसी ब्रह्मचारी को सफाई, सुथरापन, सुघड़ता, तरतीब पसन्द है, वह अपने स्थान को साफ रखता है, उसकी मेज पर पड़ी पुस्तकें यदि थोड़ी देर के लिये भी बेतरतीब हो जाती हैं तो उसे बुरा लगता है तो यह उसका बड़ा अच्छा गुण है। उसका वह गुण उसे बहुत ऊँचा ले जा सकता है। यही नहीं, मैं तो यह भी कहूँगा कि तुम में से जो अपने सौंदर्य के लिये बाल संवारना चाहते हैं, उनमें भी यही अच्छा गुण प्रकट होना चाहता है यह भी बहुत अंश में ठीक है। पर फिर भी मैं तुम्हें गुरुकुल में ऐसा करने से रोकता हूँ और रोकूंगा। मैंने यह भी कहा है कि यदि तुम थोड़े से ही ब्रह्मचारी मेरे पास होते तो मैं यह हो सकता है कि तुम्हें बाल संवारने जैसे काम की भी इजाजत (अपनी निगरानी में) दे देता, यदि देखता कि यह तुम्हारे विकास में इस समय भी सहायक हो सकता है। परन्तु चूँकि साधारणतया इस उमर में यह चीज बहुत खतरे से भरी है अतः इसे रोक देना ही उचित है। इसके रोक देने से होने वाली (किसी विषय में) सम्भावित हानि उसके सामने कुछ भी नहीं है जो कि इसके न रोकने से प्रायः निश्चित रूप से होने वाला बड़े भारी पतन का खतरा है। इसलिये सब ब्रह्मचारी बहुत छोटे बाल रखें और बाल संवारने के प्रलोभन से ही बाहर रहें, यही उचित नियम है। इससे इस तरह की बहुत सी अनावश्यक बातों में बिखरने वाली अपनी चित्तवृत्तियों को रोककर इन्हें ज्ञानोपार्जन में केन्द्रित कर सकना आसान होता है। सौन्दर्य आँख का विषय है। इसी तरह स्पर्श के, गाने बजाने के, जिह्वा रस के, गन्ध सेवन के प्रलोभनों से भी तुम्हें जुदा रखा जाता है। इनका सेवन सूक्ष्म मैथुन बतलाकर वर्जित किया है और यह बिल्कुल ठीक है। यह आसानी से समझ में आ सकता है। इसीलिये प्राकृतिक (बनावट रहित) रहन-सहन, सादा भोजन, कठोर जीवन इस समय की मुख्य बातें हैं। एक भी इन्द्रिय का विषय सेवन किया हुआ मनुष्य को रसातल में पहुँचाने को काफी है तथा इस दिशा में जरा सा दीखने वाला सुन्दर छिद्र तुम्हारे लिये कितने भयंकर रास्ते को खोल देगा, यह शायद तुम अभी नहीं समझ सकते। इसलिये अभीष्ट यह है कि जब तक तुम पुष्ट नहीं हुए हो, तब तक प्रलोभन के क्षेत्र से ही बाहर रहो। जब इस जुदा स्थान में प्रलोभनों से अनाक्रांत रहकर ब्रह्मचर्य द्वारा अन्दर बाहर का पोषण प्राप्त करके तुम निकलोगे तब तुम्हें इन प्रलोभनों के बीच में रहना भी और अधिक मज़बूत बनाने का कारण होकर लाभप्रद हो सकेगा परन्तु अब नहीं। जिस समय तुम दुनियावी प्रेम के मलिन दुर्गन्धित पानी को भी निर्मल स्वच्छ पेय जल बनाने की विद्या, युक्ति और सामर्थ्य से युक्त हो जाओगे तब बेशक तुमने उसको भी स्पर्श करना, पर अभी तो उससे दूर रहना ही ठीक है।

कच्ची उमर में प्रेम की बातों से जुदा रहने की इस तरह अत्यावश्यकता बताते हुए भी मैं फिर याद दिलाना चाहता हूँ कि असल में (शुद्ध रूप में) प्रेम बहुत ही ऊंची वस्तु है। उस शुद्ध प्रेम को बिना प्राप्त किये हमारी मुक्ति ही नहीं हो सकती। हम इसे सर्वथा त्याग कर काम चला लेंगे यह सम्भव नहीं, हमें इसे अवश्य अपनाना होगा, पर शुद्ध करके अपनाना होगा। जो ज्ञान-मार्ग के यात्री होते हैं वे **अन्त में एक ऐसी अवस्था में पहुंच जाते हैं** जबकि वे यदि प्रेम को (भक्ति को) न **अपनावें तो वे आगे नहीं बढ़ सकते।** आखिर में भक्ति और ज्ञान एक ही हो जाते हैं। इनका भेद हमें पहिले-पहिल ही दीखता है। पीछे तो भक्ति ज्ञान के हृदय के रूप में और ज्ञान प्रेम से होने वाले योग व मिलन के प्रकाश के रूप में दीखता है एवं ज्ञान और प्रेम अभिन्न वस्तु हो जाती है। परन्तु जो प्रेमस्वभाव के पुरुष होते हैं, वे प्रेम करते और भटकते हुए और भटक कर ज्ञान पाते हुए आखिर में एकमात्र भगवान से निष्काम प्रेम और स्वाभाविक प्रेम करने वाले हो जाते हैं। आत्मा का अपने परम प्रभु के प्रति प्रेमवश अपने आपको सर्वभावेन सौंप देना, यही प्रेम का परम उद्देश्य है, इसी में प्रेम शक्ति की कृतार्थता है। जगत् में प्रवाहित होने वाली प्रेमशक्ति जब हमें स्पर्श करती है, हममें प्रेम की लहर पैदा करती है, तो वह हमें इसी दिव्य, विशुद्ध प्रेम के लिये जगाने के निमित्त ही स्पर्श करती है, लहर पैदा करती है। मनुष्य अपने प्रेम द्वारा किसी को पाना चाहता है, वह निरन्तर उसी को पाने के लिये सब हरकत कर रहा है, पर वह स्वयं नहीं जानता कि वह किसे ढूंढ रहा है और वह उसे कैसे पा सकता है।

कथं वातो नेलयति कथं न रमते मनः।
किमापः सत्यं प्रेप्सन्तीर्नेलयन्ति कदाचन ।। अथर्व०

वह अपने प्रेम द्वारा किसी सत्य की प्रेप्सा में ही भटकता है। मनुष्य अपने किसी प्यारे के पीछे दौड़ता है और उन्हें कुछ देर बाद छोड़ता है, फिर दूसरे के पीछे दौड़ता है। इस तरह न जाने कितने जन्मों में भटकता हुआ वह अन्त में उस सत्य को पाकर शान्ति लाभ करता है।

हमारा अन्तरात्मा, अन्दर का पुरुष जब एक बार भी अपने भगवान् को अपने प्रेमपात्र के रूप में देख लेता है तभी उसे यह स्पष्ट हो जाता है और वह अनुभव कर लेता है कि **'अरे जिसके लिये मैं अब तक इतने देर से भटकता रहा हूं, वह मुझे अब मिल गया।'** कभी न कभी यह अनुभव पाना हरेक जीव के लिये आवश्यक है। यही शुद्ध प्रेम के मार्ग को पा लेना है।

असल में दो व्यक्तियों में जब पारस्परिक प्रेम आता है तब यह प्रारम्भ-प्रारम्भ में शुद्ध रूप ही होता है परन्तु उसका अनुभव करते व व्यक्त करते ही मनुष्य की मानसिक मलिनतायें व प्राण सम्बन्धी कमजोरियाँ उसे तुरन्त विकृत कलुषित कर देती हैं। अतः शुद्ध प्रेम को हम देख ही नहीं पाते। प्रेम तो हम में दिव्यता

को और शुभ्र वृत्तियों को जगाने के लिये आता है, पर हमारी अपवित्र मांगें बदले में कुछ पाने की कामनायें, नीचे दर्जे की तृप्ति की हमारी इच्छायें उसे गन्दा और जहरीला बना देती हैं। प्रेम तो वह वस्तु है जिसमें आसक्ति, कामना, प्राप्ति की भूख हो ही नहीं सकती। यह देना ही देना जानता है, मांगना नहीं। इसमें अनन्ततया तथा सर्वभावेन समर्पण करने की शक्ति है। यह आत्मा की अपने प्रभु से एक होने के (योग प्राप्त करने के) आनन्दमय प्रयत्न के रूप में ही अभिव्यक्त होता है। तो इस ईश्वरीय प्रेम को, शुद्र प्रेम को, वे लोग कैसे समझें जो कि स्वार्थमय लगाव को ही प्रेम करके जानते हैं। यही कारण है कि संसार के महापुरुष जिनका कि हृदय शुद्ध दिव्य प्रेम का अगाध समुद्र ही था, उनको लोगों ने सूखा प्रेमहीन और कठोर समझा। भावुकता आदि प्राण की कमजोरियों तथा मानसिक विकारों के कारण प्रेम को हम लोग जिन बाहरी चेष्टाओं द्वारा प्रकट करना चाहते हैं और करते हैं वैसे ही चिह्न हम जिस जगह नहीं देख पाते, वहाँ हम मान लेते हैं कि यहाँ प्रेम है ही नहीं। पर बात इससे उलटी है। दिव्यप्रेम में जो आत्मविस्मृति की घनता है, अपने को पूरी तरह सौंप देना है, अपने लिए किसी तरह किसी रूप में कुछ भी बचा रखने का सर्वथा राहित्य है, बदले में कुछ भी आकांक्षा रखने का अत्यन्ताभाव है, वही प्रेम का असली रूप है। इन्हीं रूप में शुद्ध दिव्य प्रेम निरन्तर अभिव्यक्त हो रहा है और होता रहेगा। इस रूप में प्रेम को विकसित करके मनुष्य अपने आप को कृतकृत्य कर सकेगा।

तो तुम कहोगे कि हमें करना क्या चाहिये ? एक तरफ आप कहते हैं कि प्रेम का रास्ता बड़ा खतरनाक है। इस उमर में उधर नहीं चलना चाहिए। दूसरी तरफ आप प्रेम का इतना माहात्म्य भी बतलाते हैं। तो हमें करना क्या चाहिये ?

जो कुछ करना है, वह यही है कि हमें किसी प्रकार ठीक रास्ते से शुद्ध सच्चे दिव्य प्रेम को प्राप्त करना है। इसीलिये मैंने शुद्ध प्रेम का चित्र खींचने का प्रयत्न किया है। इसे देखकर यदि इसे पाने की तीव्र इच्छा उत्पन्न हो जाय तो अच्छा है। सबसे अच्छा तरीका तो मैं यही समझता हूं कि तुम में शुद्ध प्रेम की प्रबल प्यास पैदा कर दी जाय। इसके लिये तुम्हें शुद्ध प्रेम और दुनियावी प्रेम में जो फर्क है, उसे अच्छी तरह समझ लेना आवश्यक है। परन्तु उसका वर्णन करने से भी पहिले मैं प्रेम की भूमि के विषय में अर्थात् प्रेम तुम्हारे अन्दर किस भूमि से उठता है, इसके विषय में कुछ कहना चाहता हूं।

जब तुम्हें किसी से प्रेम होता है तब तुम देखो क्या यह तुम में उसकी शकल सूरत बनावट आदि बाहिरी शारीरिक कारण से उठता है ? यदि यह बात है तो यह केवल भौतिक प्रेम है, यह बहुत थोड़ी देर टिकने वाला है। यह भौतिक स्थूल ऐन्द्रियिक परितृप्ति से सन्तुष्ट होने वाला होता है। यह परितृप्ति क्षणिक, अस्थायी और परिवर्तनशील होती है अतः इस पर आश्रित प्रेम लगभग पाशविक अस्थायी होता है, जरा भी शाँति देने वाला नहीं होता। यदि तुम्हारा प्रेम प्राण की भूमिका

से उठता है, अर्थात् शारीरिक बाहरी कारणों से नहीं किन्तु इच्छाओं की समता से होता है तो यह अपेक्षया गहरा होता है। यह बहुत तीव्र होता है। पर इसीलिये अस्थायी भी होता है। तीव्रता के कारण यह कई बार भौतिक प्रेम से भी अधिक खतरनाक होता है परन्तु यदि हमारा प्रेम और अधिक गहराई से निकले, मन की भूमिका उसका आधार हो, तो उसमें खतरा (पतन का, भ्रष्ट होने का खतरा) बहुत कुछ हट जाता है। अतः यह प्रेम व मित्रभाव बहुत काफी स्थिर होता है। जब तक विचारों की एकता रहती है, तब तक इसे किन्हीं बाहरी कारणों से तोड़ा नहीं जा सकता। हम देखते हैं कि विचारों की एकता के कारण दूर से दूर देश में स्थित लोगों की गम्भीर और दृढ़ मैत्री हो जाती है। इसी तरह आदर्शों की एकता से होने वाली मैत्री व प्रेम और अन्त में अन्तरात्मा के सम्बन्ध में उत्पन्न विशुद्ध, सात्विक, सर्वथा निष्काम ज्ञानमय प्रेम व मैत्रीभाव को भी हम विचार में ला सकते हैं। तात्पर्य यह कि तुम देखो कि तुम्हारा जब दूसरे से प्रेम हुआ है तो वह क्यों हुआ है, इसे खूब सूक्ष्मता में परखने की जरूरत है। यदि वह केवल बाहरी है तो उसे तुरन्त त्यागना चाहिये, परिस्थिति बदल कर या जबरदस्ती भी उससे अपने को मुक्त करने का यत्न करना चाहिये। वह दिव्य सच्चे प्रेम से बिलकुल उलटा है, दूर से दूर है। इसी तरह से प्राण सम्बन्धी प्रेम है। इन्हें सच्चाई के साथ मानसिक प्रेम का रूप देने का भी यत्न करना चाहिये। पर मनुष्य अपने को धोखा बहुत देता है। हम बहुत बार बाहरी कारण से, किसी भौतिक परितृप्ति के लिये ही, प्रेम कर रहे होते हैं परन्तु मन बहाना यह बना लेता है कि हम विचारों की एकता के कारण प्रेम सम्बन्ध से जुड़े हैं। ऐसी आत्म वंचना के दृष्टान्त मैंने गुरुकुलीय ब्रह्मचारियों में भी काफी देखे हैं। पीछे पता लगता है कि मेरी फलाने से मैत्री असल में उसके सेवाभाव आदि गुणों के कारण नहीं थी किन्तु रूपविशेष या इच्छाविशेष से थी। इसलिये मैं कहता हूँ कि हमें सूक्ष्मता से आत्म-निरीक्षण करके प्रेम की उत्पत्ति का असली कारण जानना चाहिये। हमारे शरीर प्राण मन आदि आपस में इतने मिले जुले रूप में काम करते हैं कि हमारे लिये इनका विवेचन करना कठिन होता है परन्तु यह तो हमें स्पष्ट रूप से देख लेना ही चाहिये कि यह प्रेम मेरे अन्दर कहाँ से निकल रहा है, किस भूमि से उठ रहा है। इसे पता लगाकर हमें भौतिक (शारीरिक) और प्राणिक भूमि के प्रेम को यदि वह हम पर बहुत प्रबल रूप से आवे तो जबरदस्ती उससे भागना व हटना या उसे अपने से हटाने का यत्न करना चाहिये। यदि वह बेकाबू न हो तो उसे उच्च प्रकार के मानसिक व आत्मिक प्रेम का रूप देने का सचाई के साथ यत्न करना चाहिये। यदि ऐसा यत्न किया जायेगा तो शुद्ध और अशुद्ध प्रेम के जो दो तीन भेदक चिह्न मैं तुम्हें बतलाता हूं, वे तुम्हारे कुछ काम आ सकेंगे, नहीं तो उन चिह्नों का जानना भी व्यर्थ जायगा।

शुद्ध प्रेम की पहली पहिचान यह है कि उसमें आसक्ति नहीं होती, स्वार्थमय लगाव नहीं होता, उसमें मोह नहीं होता। वह चिमटने की प्रेरणा नहीं करता।

यदि तुम्हारे प्रेम में आसक्ति है, लगाव है, चिमटना है, न छोड़ देने की दुर्बलता है तो यह शुद्ध नहीं है। प्रेम में यह विकार तब पैदा होता है जब वह तमोगुण से आक्रान्त होता है। तमोगुण के कारण प्रेम मोह व आसक्ति बन जाता है। मनुष्य उसमें अज्ञानी, किंकर्तव्य विमूढ़, समासक्त, पशु तक हो जाता है। इस अशुद्धि को दूर करने के लिये ज्ञान प्रकाश और सजीवता की आवश्यकता है। जब ज्ञान प्रकाश और जीवन-प्राण बढ़ता है तो प्रेम में वह शुद्धि आ जाती है जिससे प्रेम अनासक्त, निर्मोह और बेलगाव शुद्ध हो जाता है।

दूसरा फर्क यह है कि शुद्ध प्रेम में ज्वर नहीं होता। कह नहीं सकता कि 'ज्वर रहितता' ऐसा बोलकर मैं अपने आशय को प्रकट कर सका हूं कि नहीं। ज्वर से मेरा मतलब है एक प्रकार की व्याकुलता, गर्मी, हरारत, जिसके न होने पर शान्ति, चैन, स्वस्थता अनुभव होती है। जब तक प्रेम शुद्ध नहीं होता तब तक मनुष्य उस प्रेम के आवेग में आकर बहुत सी चिन्ता करता है, बेचैन रहता है, चंचल और व्याकुल होता रहता है।

तीसरी पहिचान यह है कि शुद्ध प्रेम निष्काम होता है, निःस्वार्थ होता है, कुछ भी मांगता नहीं, बदला नहीं चाहता किसी तरह का मूल्य नहीं चाहता, मूल्य रहित होता है, निरन्तर देने से ही वह कृतकृत्य होता है, उसमें अपार आत्म बलिदान की, हवन की, त्याग की सामर्थ्य होती है। अतएव वह डरता भी नहीं, निर्भय होता है। कायर पुरुष कभी शुद्ध प्रेम नहीं कर सकता। जो मनुष्य अपनी जान और अपना सब कुछ हथेली पर रखने वाला है, वही प्रेम को जानता है। प्रेम और स्वार्थ यह दोनों बिल्कुल उल्टी चीजें हैं। यह एक जगह रह ही नहीं सकतीं।

चौथी बात यह है कि शुद्ध प्रेम संकुचित नहीं होता, वह व्यापक होता है। वह एक आदमी के प्रति रहता हुआ भी उसी तक सीमित नहीं होता। सबसे प्रेम रखना उसके विरुद्ध नहीं जाता। अतएव वह ईर्ष्या को नहीं पैदा करता। जिससे मैं प्रेम करता हूं, उससे कोई दूसरा भी प्रेम करता है तो वह मेरी ईर्ष्या का पात्र नहीं हो सकता, शुद्ध प्रेम बंध ही नहीं सकता। वह मुक्त स्वभाव होता है, सर्वत्र फैलने वाला और असीमित स्वभाव वाला होता है।

जो सचमुच शुद्ध (दिव्य) प्रेम है, उसमें एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति से नहीं किन्तु सबको भगवान् से मिलाने की प्रवृत्ति होती है, यह हम लोग नहीं अनुभव करते। पर प्रेम के शुद्ध हो जाने पर यह अनुभव होना जरूरी है। अस्तु।

यह तीन चार चिह्न मैंने बताए हैं। यदि इन्हें ध्यान में रखोगे तो यह बातें तुम्हारे प्रेम को बुरे रास्ते जाने से रोकने की मदद करेंगी और प्रेम को दिव्य बनाने में सहायक होंगी। माता को बच्चे के प्रति जो प्रेम है, इस प्रकार के कुछ प्रेम हैं जो कि इस दुनिया के प्रेमों में शुद्धतम हैं, उच्चतम हैं और निष्कामतम माने जा सकते हैं। उनका ध्यान कर हम अपने प्रेम को शुद्ध करने में वेग प्राप्त कर सकते हैं और

अन्त में आत्मा में भगवान् के प्रति जो सहज गुप्त प्रेम है उसे प्रकट कर कृतार्थ हो सकते हैं।

अन्त में तुम्हें कहता हूं कि जब तुम में किसी के प्रति प्रेम उत्पन्न हो तो अनुभव करो कि यह जगत् में प्रवाहित होने वाली प्रेम धारा का तुम्हें स्पर्श हुआ है, यह स्पर्श तुम में दिव्य प्रेम को जगाने के लिये ही हुआ है, अतः तुम्हें अपने को इस शुद्ध प्रेम का पात्र बनाने का, इस प्रेम को ग्रहण करने और इसे अविकृत रहकर सम्भाल सकने के योग्य बनाने का प्रयत्न करना चाहिये। भगवन् की प्रेममयी यह शक्ति जो बार-बार हमसे टकराती है, हममें प्रेम जगाती है और फिर अपात्र समझ हमें बार-बार छोड़ती भी है तो यह सब दुःखभरा खेल व मखौल इसलिये हो रहा है कि एक दिन इस तरह यह हमें प्रभु-प्रेम का दृढ़ मजबूत शुद्ध पात्र बनादे, हममें एक दिन सब कुछ समर्पण कर देने की समर्थता प्रदान करदे। तब हमारा यह महान् प्रेम न तो हम में पाशविक, हिंसा भरा, स्वार्थमय रूप धारण करेगा और नहीं दूसरी तरफ कमजोर, भावुकतामय, तुच्छतापूर्ण रूप में प्रकट होवेगा। प्रेम मार्ग में इस तरह भटकना और सब कष्ट सहना सफल हो जायगा। जब यह प्रेम शरीर प्राण और मन आदि में अन्दर गहरा गहरा पहुँचता हुआ कभी अन्तरात्मा में छिपे हुए भगवत्प्रेम को जगा देगा, तब हमारा अन्तरात्मा भगवान् के प्रति प्रेम में भरकर चल निकलेगा। संसार के प्राणिमात्र को अपनी प्रेमधारा से आप्लुत करता हुआ भगवान् के प्रति चल निकलेगा। वह प्रेम शुद्ध, शान्त, निर्मल और सब तरफ फैलने वाला होगा। मोह, आसक्ति, लगाव आदि तामसिक विकारों से तथा उग्रता, स्वार्थ, टेढ़ापन आदि राजसिक विकारों से यह सर्वथा शुद्ध होगा, दुनियावी प्रेम की कुरूपताएँ और तोड़ मरोड़ करके सौंदर्य को फिर बिगाड़ नहीं सकेंगी, यह विजयी होकर चलेगा। यही हमारे अन्दर ठहरे हुए प्रेम का उद्देश्य है, इसी तरह परम कारुणिक भगवान् की प्रेमस्वरूपता हमारे लिये सार्थक हो सकती है।

दिनचर्या लेखन

यह उपदेश एक लेख के रूप में 'आर्य' के नवम्बर 1933 अंक में प्रकाशित हुआ था। —सम्पादक

जो आत्मसुधार चाहता है उसके लिए दैनन्दिनी (डायरी) लिखना आवश्यक है। दैनन्दिनी लिखना उतना ही आवश्यक नित्य कर्म है, जितना कि स्नान, संध्या, हवन आदि हैं। गुरुकुल में इसका रिवाज हट गया प्रतीत होता है। जब मैं पढ़ता था, तब ब्रह्मचारियों में डायरियाँ लिखना आम बात थी। जब कोई विद्यार्थी अपनी उन्नति के लिए आत्मनिरीक्षण करना प्रारम्भ करेगा तो वह इस परिणाम पर अवश्य पहुँचेगा कि उसे प्रतिदिन अपनी दिनचर्या लिखनी चाहिये। जैसे एक दुकानदार को अपनी दुकान की ठीक स्थिति (अपना घाटा नफा) जानने के लिए अपना हिसाब-किताब लिखना आवश्यक होता है, वैसे ही आत्म-निरीक्षण करने वाले लोग दैनन्दिनी लिखने के कार्य को बिना भूल-चूक और बिना नागा किया करते हैं। दैनन्दिनी (डायरियाँ) लिखने में अपने अनुभव द्वारा वर्गीकरण करके मैं चार प्रकार की दिनचर्यायें लिखने के परिणाम पर पहुंचा हूँ। प्रत्येक प्रकार की डायरी का क्रमशः अपने अनुभूत दृष्टांतों से स्पष्टीकरण करता हुआ इन्हें समझाता हूँ।

(1) पहले प्रकार की दिनचर्या—

अपने अवगुणों को, अपनी कमियों को जानकर उनको दूर करने के लिए उन्हें एक जगह लिख लो। उनको प्रतिदिन सायंकाल देखो कि तुमने सफलता पाई है या नहीं। अपनी उन्नति के लिए लिखी जाने वाली सामान्य डायरियों का यही रूप होता है। मुझे स्मरण आता है कि एक समय मैंने अपने दस अवगुण प्रत्येक तारीख के साथ लिखे हुए थे। प्रतिदिन सायंकाल मैं उनमें अपने को अङ्क दिया करता था। वे दस क्या बातें थीं यह तो अब पूरा-पूरा याद नहीं। किन्तु उन दस में से निम्न दो-तीन बातें थीं, यह अब तक याद आता है।

(i) बड़ों से मिलने पर उन्हें हाथ जोड़कर नमस्ते करना (मुझे यह आदत नहीं थी और एक बार एक पूज्य उपाध्याय जी द्वारा इस पर ध्यान खींचे जाने पर मैंने इस पर इस तरह ध्यान देने की जरूरत समझी थी कि इसे दैनिक दिनचर्या में लिख दिया था।

(ii) प्रातः उठने में आलस्य न करना।

(iii) साथी ब्रह्मचारियों की निरर्थक समालोचना से प्रभावित न होना (यह अवगुण मुझमें रहा था अतएव स्मरण है कि यह भी उनमें लिखा हुआ था)। रात्रि को उन दस बातों के विषय में सोचता था और अङ्क देता था कि इन बातों में मैंने आज कितनी उन्नति पाई है, कितना उत्तीर्ण हुआ हूँ। इन उदाहरणों से तुम दैनन्दिनी लिखने का यह प्रकार समझ गये होगे। तुम्हें जो व्रताभ्यास की पत्रिका प्रतिदिन भरने के लिए दी जाती है, वह यह पहले प्रकार की ही दैनन्दिनी है। इसे तुम स्वेच्छा से भरो तो निसन्देह लाभ उठा सकते हो। इसमें अपनी वैयक्तिक प्रकृति के अनुसार तुम यदि किन्हीं अन्य अवगुणों को हटाना चाहो या किसी गुण को लाना चाहो तो उसे भी तुम लिख सकते हो। एक ब्रह्मचारी को मैंने कहा था कि कातने को खाना (आज इतना सूत काता) भी तुम इसी में बना सकते हो। मतलब यह है कि दिनचर्या लिखने का सब लाभ इसे स्वेच्छा से करने में है। (यहाँ पर श्री आचार्य जी ने सुनाया कि लखनऊ कांग्रेस के बाद कैसे हम कुछ ब्रह्मचारियों में देश सेवा के लिए तैयार होने का भाव उत्पन्न हुआ और इस काम के लिए हमने कुछ तपस्या के नियम बनाये जिनका उल्लंघन करने पर प्रायश्चित किया जाता था और सातवें दिन की बैठक में यह बताना भी होता था। वे नियम बहुत से तो यह ही थे जो गुरुकुल में हैं—प्रातः चार बजे उठना, नित्य स्नान, व्यायाम आदि। पर भेद यह था कि उन्हें हम स्वेच्छा से अपने हित के लिए आवश्यक समझकर स्वयं करते थे।)

(2) दूसरे प्रकार की दिनचर्या—

अपने काम की बातों का संग्रह करने के लिए लिखी जाने वाली डायरी दूसरे प्रकार की डायरी कही जा सकती है। इस प्रकार की डायरी बनाने की इच्छा शायद प्रत्येक मनुष्य को हुआ करती है। तुम कोई ऊँचा उठाने वाला, हृदय में लगने वाला वाक्य या भजन व श्लोक सुनते हो तो उसे याद कर लेने की इच्छा स्वाभाविक है। दुःख के समय में, कमजोरी के समय में या उदासी के समय अपनी इस नोटबुक को निकालकर पढ़ने से बड़ा लाभ होता है। वे उत्तम वाक्य, सन्तवाणी या भक्तों के उद्‌गार हमारे दुःख को शान्त सुख में बदल देते हैं, हमें गिरने से बचाते हैं, हममें नव-जीवन संचार कर देते हैं। इसे भी मैं अपने एक दो दृष्टान्तों से स्पष्ट करता हूँ—

(i) एक बार सुना था।

'उठो जागो! देखो यह दुःख-ग्रस्त पापमग्न संसार तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है। यह मेरी कापी में संगृहीत था।

(ii) एक बार श्रीमान् उपाध्याय सेवारामजी ने लिखाया था। वह वाक्य अब तक याद है।

He lives in vain who does not surmount a fear every day अर्थात् उसका जीना व्यर्थ है जो कि रोज-रोज एक-एक भय पर विजय नहीं पा रहा है।

मुझे अपना उपनाम 'अभय' रखने में इस वाक्य ने भी कुछ सहारा लगाया होगा।

(iii) एक समय स्वामी रामतीर्थ जी की पुस्तकें पढ़ने का शौक मुझे रहा था। एक दिन बड़ी गङ्गा के किनारे स्वामी राम की जीवनी को पढ़ते-पढ़ते एक ऐसा वाक्य आया कि मैंने उसे पढ़ कर पुस्तक बन्द कर दी और आँख मीच कर उस वाक्य को बार-बार बोलता गया। बार-बार बोलने पर भी मेरा मन सन्तृप्त नहीं होता था। वह वाक्य यह था—

'Oh, what a sweet, what a delicious, what a blessed food is it to eat one's own Heart.

अर्थात् "ओह कितना मधुर भोजन, कितना स्वादिष्ट भोजन, कितना दिव्य भोजन यह है कि मनुष्य अपने ही हृदय को खावे।"

(iv) गीता के कुछ श्लोक हैं जो मुझ से बार-बार गाये जाते हुए मुझे आनन्द मग्न कर देते हैं, जो मुझ में नवजीवन का सञ्चार कर देते हैं। जैसे—

"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति भ्रामयन् सर्वभूतानि यंत्रारूढ़ानि मायया। तमेव शरणं गच्छ सर्व भावेन भारत तत्प्रसादात् परां शान्ति स्थानं लप्स्यसि शाश्वतम्।"

"क्लैब्यम् मा स्म गमः पार्थं नैतत्त्वय्युपपद्यते
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्तोत्तिष्ठ परंतप

इसमें 'पार्थ' की जगह "शर्मन्" व 'परन्तप' की जगह भी अपना कुछ नाम कर लेना आनन्द दायक होता है।

(मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यति) ......

(v) कई भजन हैं जो मैं अकेले में गाता हूँ और उनका गान जीवन प्रदान करता है। गिरधर दास का भजन 'अब जाग गया तो सोना क्या रे' बड़ा प्रिय है। कबीर के एक दो भजन, Tune की In tune with the infinite में लिखी शान्ति पर एक कविता आदि का उदाहरण दे सकता हूँ।

तात्पर्य यह है कि हमें अपने लिए उद्‌बोधक, उच्चतादायक, हृदयस्पर्शी वा भगवान् की तरफ ले जाने वाले वाक्यों, वाणियों, भजनों, मन्त्रों, स्तोत्रों का संग्रह करने के लिए एक नोटबुक अवश्य बनानी चाहिये।

व्याख्यानों वा उपदेशों को अपने लिए नोट लेने की आदत डालनी चाहिए। अच्छी पुस्तकों व पत्रिकाओं से तथा समाचार-पत्रों से भी अपने लिए संग्राह्य बातों को अपनी कापी में लिख लेना आवश्यक है। दुनियावी उन्नति के लिए भी यह आदत बड़ी उपयोगी है। इस तरह दूसरी प्रकार की दिनचर्या का प्रकरण समाप्त करता हूं।

(3) तीसरे प्रकार की दिनचर्या—

अपने अन्दर से उठने वाले विचारों को भी लिखने की—लिखते रहने की—बड़ी आवश्यकता होती है। इससे जहाँ अपने जीवन की जाँच पड़ताल होती रहती है, वहाँ कभी-कभी अपने ही पहिले के विचार आगे पढ़ लेने पर हमें उठाने वाले और बड़ी सहायता देने वाले साबित होते हैं। यह जरा ऊँचे किस्म की डायरी है। उन्नति-

शील पुरुष ऐसी डायरी लिखने की बड़ी आवश्यकता देखते हैं। वे दिनभर में जो कुछ देखते सुनते हैं, उससे जो कुछ विचार उनके अपने मन में उठते हैं उनमें से बहुत से विचार लिखने योग्य होते हैं, अतः वे उन्हें अपनी विचार-पुस्तिका में लिखते रहते हैं। अगले वर्षों में जाकर पिछले दो चार वर्षों के अपने विचार पढ़ना बहुत ही बोधप्रद तथा लाभप्रद होता है। ऐसी पुरानी डायरी (विचार पुस्तिका) को पढ़कर मैंने यह किया है कि उसके कुछ विचार जो कि आगे भी कुछ काम आने योग्य लगे, उन्हें फिर नई कापी में लिखकर पुरानी कापी को फाड़ दिया है।

इस दिनचर्या के लिखने में मुझे जो एक बड़ा कीमती अनुभव मिला है, वह यह है कि शब्द विचारों को पूरा-पूरा प्रकट करने में बड़े असमर्थ रहते हैं। ऐसा कई बार हुआ है कि मैंने जो एक विचार आज बड़ा नया और लिखने योग्य समझ कर लिखा, वही विचार कुछ दिनों बाद मैंने फिर बिलकुल नये विचार के तौर पर लिखा। परन्तु इस बीच में उस विचार के लिए पहिले लिखे शब्दों के पढ़ने पर भी वह विचार मेरे मन में नहीं उठता था, यद्यपि जब वह विचार फिर (एक नये विचार की तरह) उठा तो वह लिखा उन्हीं शब्दों में गया जिनमें पहिले लिखा गया था।

(4) चौथे प्रकार की दिनचर्या—

बड़े होकर भी दिनचर्या लिखने वाले मननाभ्यासी विचारशील पुरुष जो दिनचर्या लिखा करते हैं, उसे मैं चौथे प्रकार की दिनचर्या कहता हूं। उनकी इस दिनचर्या में यद्यपि मुख्य भाग तीसरी प्रकार की दिनचर्या का होता है अर्थात् वे समय समय पर अपने अन्दर उठने वाले विचारों को इसमें विस्तार से अंकित किया करते हैं, पर वैसे इस दिनचर्या पुस्तक में पूर्ववर्णित तीनों प्रकार की दिनचर्याओं की बातें यथावसर समाविष्ट होती हैं एवं यह चौथी प्रकार की दिनचर्या पहिली तीनों का (तीसरी की मुख्यतया रखते हुए) संमिश्रित रूप होता है।

मौनं व्याख्यानम्

यह लेख 'वेदसुधा' के फरवरी 1967 अंक से उद्धृत है। —सम्पादक

प्राय: लोग कौतूहल के साथ प्रश्न करते हैं—"क्या श्री माँ जब नियत दिवस पर दर्शन के लिए बाहर आती हैं तो कुछ बोलती-चालती भी हैं ? दर्शनार्थियों या साधकों को वे तब कुछ उपदेश तो देती होंगी ?" परन्तु उनमें से बहुतों को यह जानकर वस्तुत: निराशा होती है, आश्चर्य तो होता ही है कि श्रीमां दर्शन के समय भी कुछ बोलती नहीं, केवल दर्शनमात्र ही देती हैं।

"तो तुम लोग इतनी दूर से, इतना पैसा खर्च करके, केवल उनके क्षणिक और मौन दर्शन के लिए ही जाते हो ?" वे आश्चर्य से कहते हैं और उनके आश्चर्य का तब तो ठिकाना ही नहीं रहता जब उन्हें पता चलता है कि ऐसे लोग काफी हैं जो देहली, पंजाब, उत्तर प्रदेश आदि भारत के सुदूर प्रदेशों से प्रत्येक दर्शन पर (वर्ष में चार बार) दक्षिण में पांडिचेरी जाया करते हैं, तीन चार दिन की लगातार रेलयात्रा करके वहाँ पहुँचते हैं तथा ऐसे दर्शनार्थी यात्रियों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती ही जा रही है।

इन में से बहुतों का आश्चर्य तो इस विचार से शाँत हो जाता है कि भारत में अभी बहुत काफी अन्धविश्वास भरा पड़ा है, पढ़-लिखकर भी भारतवासियों के हृदय में धार्मिक अंधविश्वास छिपा ही रहता है। कुछ अधिक तीक्ष्ण बुद्धिवाले तो यह भी सोचते हैं कि पांडिचेरी के योगी तथा वहां की माताजी 'हिप्नोटिज्म' जानती हैं और इस सूत्र के लिए मानो वे अपनी बुद्धि की प्रखरता की मन ही मन प्रशंसा करते हुए एक प्रकार की आत्म-संतुष्टि का सुख लाभ करते हैं। किन्तु कुछ लोगों का आश्चर्य इतने से संतुष्ट नहीं होता, वे गहराई में जाना चाहते हैं और गंभीर विचार करना चाहते हैं।

"उन्हें हमारी तरह बोलने की आवश्यकता क्या है ?"—मैंने एक ऐसे आश्चर्य करने वाले को एक बार दर्शन से लौटते हुए रेल में कहते सुना,—"वे तो बोलने से जो किया जाता है उसे वैसे ही कर देती हैं। वे बोलती नहीं हैं, कर देती हैं।"

तभी मुझे एक बर्ष 1950 का माताजी का उपदेश या 'आदेश' (उसे उस

वर्ष की 'प्रार्थना' की जगह उस वर्ष का 'आदेश' कहना ही ठीक होगा) याद आ गया :—

बोलो नहीं, करो।
घोषणा नहीं करो, सिद्ध कर लो।

मैं सोचने लगा कि यह भी एक अन्धविश्वास ही है कि बोलना जरूरी है, कि बोलने के बिना कोई कार्य नहीं किया जा सकता है। यद्यपि यह स्पष्ट है (जैसा कि उस वर्ष के उपर्युक्त आदेश में ध्वनित है) कि कभी बोलना करने के लिए आवश्यक ही नहीं होता किन्तु उसमें बाधक भी होता है और इसीलिए बोलने को मना किया जाता है। हम जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में विविध अवसरों पर अनेक प्रकार से कुछ ऐसा अनुभव भी करते हैं कि जो कम बोलते हैं वे करते अधिक हैं अथवा ज्यों ज्यों क्रियाशक्ति पूर्ण होती जाती है त्यों त्यों बोलना कम होता जाता है। तो भी यह बोलने का अन्धविश्वास इतना अधिक हमारे मनों पर जमा हुआ है कि हम समझ नहीं पाते कि केवल मौन–दर्शन भी कुछ उपयोगी हो सकता है, कुछ समर्थ होता है, कुछ अद्भुत शक्ति रखता है।

क्या हम नहीं जानते हैं कि जब कोई वस्तु अत्यंत तीव्र गति से घूम रही होती है तब वह स्थिर प्रतीत होती है। इसलिए श्रीमाँ का मौन उनके बोलने के (उनकी वाक्शक्ति के प्रयोग के) अभाव का ही द्योतक हो, यह आवश्यक नहीं है। हो सकता है कि वे मौन दिखाई देती हैं, चुप मालूम पड़ती हैं परन्तु वास्तव में तीव्र, प्रबल, घन वाक्शक्ति का प्रयोग कर रही होती हैं।

क्या निम्न वचन कोरी 'गप्प' या 'कपोल-कल्पना' है?

गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तूच्छिन्नसंशयाः॥

(अर्थात् गुरु ने तो मौन व्याख्यान दिया और उससे शिष्यों के सब संदेह निवृत हो गये)। जब शिष्यों के संदेह गुरु के बिना बोले ही निवृत हो जायें तो उन्हें गुरु को बुलवाने की क्या जरूरत?

जब मैं प्रथम बार 1935 में श्रीअरविन्द आश्रम गया था तो वहाँ दो सौ साधक थे। पर अब वे बढ़ते-बढ़ते 1500 तक पहुँच गये हैं। सब साधक एक ऐसे गुरु के चारों ओर क्यों इकट्ठे हो गये हैं जो साल भर में चार बार कुछ क्षणों के लिए ही दीखते हैं और तब भी बोलते कुछ नहीं? क्या इन साधकों को श्रीमाँ का कोई मौन व्याख्यान सुनाई देता है? वे क्यों वहाँ पड़े हुए हैं और ऐसे संतुष्ट हैं? अथवा हजारों बाहर के लोग क्यों वहाँ जाते हैं?

आश्रम से संबंध रखने वाले एक पत्रकार श्री विजयतुंगजी ने बहुत ठीक लिखा था, कि "हमें तो श्रीअरविन्द का वर्ष में चार बार दर्शन ही काफी से अधिक है।" मानों दर्शन के एक क्षण में वे हम दर्शनार्थियों को जो बोल देते हैं, वही बहुत होता है।

उपर्युक्त संस्कृत का श्लोकार्थ तो हमारे प्राचीन भारतीयों की विशेष अनुभूति है।

जिसे हम बोलना कहते हैं वह असल में वाणी का सर्वाधिक स्थूल बाह्य और परिमित प्रयोग है। वाणी के तीन पाद तो हमारे अन्दर छिपे रहते हैं, जो कि उत्तरोत्तर अधिक सूक्ष्म, आंतर तथा सीमारहित हैं। इन्हें क्रमश: 'मध्यमा' 'पश्यन्ती' और 'परा' नाम से पुकारा गया है।

'मध्यमा' वह आँतरिक वाणी है जिसमें कोई भी ध्वनि, आवाज नहीं होती, यद्यपि वह भाषारूप में आई होती है—इसे मानसिक वाणी कह सकते हैं।

पश्तन्ती में भाषारूप में भी वह नहीं होती, यद्यपि जो कथनीय है उसे वह प्रकाशित रूप में देख रही होती है।

'परा' वाणी वह है जिसमें सब कुछ कह सकने की शक्ति गर्भित है। यह सबसे अधिक सूक्ष्म और आंतर वाणी है अतएव असीम शक्ति से युक्त है।

चौथी और बाह्य वाणी—जिसे हम साधारणतया वाणी कहते हैं—"वैखरी" कहलाती है।

श्रीमाँ वास्तव में इस बाहरी 'वैखरी' वाणी से न बोलकर दर्शनार्थियों से अन्तर की मौन किन्तु सूक्ष्म और प्रबल तथा असीम शक्ति रखने वाली वाणियों में बोलती हैं। वे दर्शनार्थी की आत्मा से आत्मिक वाणी में बातचीत करती हैं, क्षण भर में ही न जाने कितना, बिल्कुल सीधा कह देती हैं। श्रीमाँ के मुख से निकलकर और हमारे कान से प्रवेश करके वैखरी वाणी द्वारा उनकी आत्मा का जो संदेश हमारी आत्मा तक पहुँचाया जायगा वह तो सीधा नहीं पहुँचेगा और यदि पहुंचेगा भी तो अपने स्थूलबाह्य, अनघड़, मैले माध्यमों में से गुजरकर बहुत ही विकृत होकर पहुँचेगा पर आंतर वाणी अधिक सीधी और साफ पहुँचती है और अपना काम बहुत अधिक सफलता-पूर्वक करती है।

हां, यह ठीक है कि अन्दर की ऐसी वाणी सुनने के लिए अन्तःकरण (अन्दर के करण) कुछ खुले होने चाहियें, सुन सकने वाले होने चाहियें।

एक बार मेरे एक आर्यसमाजी मित्र ने (जो मुझसे पहले से आश्रम से संबद्ध हैं) दर्शन करने के बाद जो कहा वह अत्यंत आश्चर्यजनक था। इस प्रकरण की भाषा में मानों उन्होंने कहा—

श्रीअरविन्द क्षण भर में इतना कह देते हैं, इतना व्याख्यान देते हैं कि मनुष्य यही चाहता है कि काश वह उसे सहन कर सकता, उसे श्रवण कर सकता, उसे आत्मसात् कर सकता।

और दूसरी तरफ दुनिया में जो दिनरात इतना अधिक शब्द और वाणी का प्रयोग हो रहा है, उससे क्या कुछ बनता बिगड़ता है? उससे वस्तुतः जगत में कुछ होने या न होने में क्या सहारा लगता है? जगत् में जो इतना कोलाहल है—बाजारों में, कचहरियों में, रेलों में, चाय की दुकानों या भोजनालयों और सिनेमाघरों में जो

इतना शोर-गुल है तथा सभा-मंचों और धार्मिक वेदियों के व्याख्यानों तथा उपदेशों का यह जो हो हल्ला है, इन सबमें कितना अंश है जो समर्थ है, जिसका कुछ वस्तुत: प्रभाव पड़ता है ? क्या यह सब बेकार, निष्फल कोलाहल नहीं है ? महान् वाक्-शक्ति का निरर्थक, निष्प्रयोजना बिखेरन नहीं है ?

और जो इतनी पुस्तकें छप रही हैं, हजारों लाखों परचे दिन-रात बांटे जा रहे हैं, इतनी पत्र-पत्रिकायें प्रकाशित हो रही हैं, साप्ताहिक व दैनिक पत्रों के रूप में इतना कागज काला होकर प्रातः सायं बिक रहा है, अनेक प्रकार के आकर्षक 'साइन बोर्ड' हमारा ध्यान खींच रहे हैं, दीवारें भी मोटे मोटे अक्षरों द्वारा मानो कुछ बोल रही हैं यह सब बोलना भी क्या वैसा ही निरर्थक, नपुंसक व निष्प्रभाव नहीं है ?

यह सब कोलाहल किस लिए है ?

यह सब बोलकर हम क्या बना रहे हैं ?

एक विद्वान् ने सच कहा है कि संसार में जो यह इतना अधिक बोला जा रहा है वह सत्य को प्रकट करने के लिए उतना नहीं है, जितना झूठ को छिपाने के लिए। एक बार मेरे एक मित्र के पुत्र ने, जो नौ दश साल का बालक था, आकर अपने पिताजी को, उनके बिना पूछे ही, कहा—'पिताजी, मैंने पैन्सिल नहीं उठाई है।' बस, पिताजी जान गये कि पैन्सिल उसी ने ली है जहाँ वह अपनी वैसी चीजें रखता था वहाँ उन्हें वह मिल भी गई। हमारा बहुत सा बोलना इसी प्रकार का होता है, जो विज्ञापन जितना झूठा होता है, उसे उतने ही जोर से प्रचारित करने की आवश्यकता होती है। इस प्रकार के प्रचार या विज्ञापन का सिद्धान्त ही है—जैसे कि हिटलर कहा करता था—"एक झूठ को दस बार बोलो तो वह सच हो जायेगा।" आजकल हम अधिकाँश बोलना कुछ छिपाने के लिए करते हैं। कम से कम यह तो है ही कि जो हम मुंह से कहते हैं, वही हमारा आंतरिक आशय हो, यह कम ही होता है और ज्यों ज्यों लोग यह समझते जा रहे है त्यों त्यों एक दूसरे की बात में उनका विश्वास कम होता जा रहा है। हमारे कूटनीतिज्ञों की भाषा जितनी पेचीदी तथा सूक्ष्म होती जा रही है उतनी ही वह विश्वास कम पैदा करती है। प्रत्येक देश अपने को शांति का पुजारी घोषित कर रहा है तथा मानवता के ऊंचे आदर्शों की दुहाई दे रहा है परन्तु गुप्त रूप में वह युद्ध की तैयारियों में संलग्न है।

इस सब बोलने से किसका क्या कल्याण होता है ? कुछ मूर्ख और अज्ञानियों पर इसका अवश्य कुछ क्षणिक प्रभाव पड़ता है एवं बोलने वाले स्वार्थियों का कुछ तात्कालिक स्वार्थ भी सिद्ध होता है। परन्तु क्या असल में दुनिया में इससे किसी का कुछ कल्याण होता है ?

यही देखकर समझदार लोग बहुत बोलने से, और सुनने से भी, विरक्त हो जाते हैं। ऐसे बोलने और सुनने में उन्हें कुछ रस नहीं रहता। इस सब कोलाहल में उन्हें कुछ तत्त्व नहीं दिखाई देता। कभी कोई कहीं विरली आवाज ही उन्हें काम की लगती है। पुस्तकों को भी वे उनके कुछ पन्ने पलटकर या उनके शीर्षक या लेखक का नाम देखकर ही छोड़ने लगते हैं।

तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ।

"तब तू (हे अर्जुन !) जो सुना है और जो सुनने को है उस सबके प्रति विरक्ति को पा जायगा ।"—गीता 2—52

कवि लोग कहते हैं कि जब हृदय भरा होता है तब मुंह से बोल नहीं निकलता । जब घट पूर्ण होता है तब उसमें घोष उत्पन्न नहीं होता ।

कबीर साहब कहते हैं:—

जब मन मस्त हुआ तब क्यों बोले ।
हीरा पायो गांठ गठियायो, बार-बार वाको क्यों खोले ॥
हलकी थी जब चढ़ी तराजू, पूरी भई तब क्यों तोले ।
हंसा पायो मानसरोवर, ताल तलैया क्यों डोले ॥

और साधक लोग करते हैं कि बहुत बार बिना कुछ उपदेश सुने, बिना कुछ मौखिक समाधान प्राप्त किये, बिना कुछ प्रत्युत्तर पाये ही उनके दुःख एकबारगी हरे जाते हैं, उनके चिरस्थायी संशय मिट जाते हैं, उनके वेगयुक्त विकार शांत हो जाते हैं तथा उनके भौतिक संकट तक—जैसे जादू हो गया हो—टल जाते हैं, केवल गुरु के सान्निध्यमात्र से, केवल गुरु का आंतरिक संपर्क पाने से ।

प्रभावकारिणी वाणी के विषय में माताजी कहती हैं कि "दस मिनट तक सार्थक रूप से बोलने के लिए दस दिन तक मौन रहना चाहिए। उसमें मैं यह और जोड़ दे सकती हूँ कि एक दिन सार्थक रूप में कार्य करने के लिए एक वर्ष तक शांत रहना चाहिए ।"—मातृवाणी पृ० 131

श्रीमां ने कोई 'मौन'-व्रत ले रखा हो, ऐसी बात नहीं है । उन्हें मुख या जिह्वा का बोलने के लिए उपयोग नहीं करना, ऐसा भी कुछ नहीं है । वे आवश्यकता होती है तो बोलती हैं, बात करती हैं, हंसती भी हैं । परन्तु वे अनावश्यक क्यों बोलें ? विशेषकर जबकि उनके मौन दर्शन के समय भी, बहुत लोग स्पष्ट रूप में अनुभव करते हैं कि उनकी आंखें बोल रही होती हैं, उनका चेहरा दर्शनार्थियों के प्रति नानाविध रूप से कुछ कह रहा होता है । पर उनका मौन दर्शन उस समय अपने जिस व्यापक सत्य की ओर संकेत कर रहा होता है जो जगत् को वस्तुतः हिला-जुला रही है, पीछे एक मौन वाक् है जिसका स्पंदन बोलता नहीं किन्तु कर देता है, जो-जो चिंतन करती है वह हो जाता है । पीछे एक मौन व्याख्यान हो रहा है जिसमें जो कहा जा रहा है वह हुए बिना रह ही नहीं सकता ।

काश्मीर का शैववाद

यह लेख 'वेदसुधा' के अप्रैल 1967 अंक में प्रकाशित हुआ था।

—सम्पादक

भारत में कश्मीर की जैसे अन्य कई विशेषताएँ हैं, वैसे उसकी आध्यात्मिकता भी भारत के लिए या जगत् के लिए एक विशेष स्थान रखती है जो वहाँ एक विशिष्ट शैववाद के रूप में प्रकट हुई है। धार्मिक भाव से काश्मीर जाने वाले वहाँ प्रायः अमरनाथ की तीर्थ यात्रा के लिए जाते हैं। वहाँ उन्हें बर्फ के स्वाभाविक शिवलिंग के दर्शन होते हैं। श्रीनगर के पास ही शंकराचार्य का जो मन्दिर है (मुसलमान लोग 'उसे तख्ते सुलेमान' कहते हैं) वहाँ जब श्रीअरविन्द अपने बड़ौदा निवास के दिनों में पधारे थे तो उन्हें वहाँ—उन्होंने अपने दो पत्रों में लिखा है—अनन्तता की अनुभूति प्राप्त हुई थी। युवराज कर्णसिंह जी ने हमें बताया था कि यह मन्दिर उनके राज परिवार का इष्ट मन्दिर है। अमरनाथ की यात्रा का सब प्रबन्ध भी काश्मीर राज्य की तरफ से किया जाता है।

काश्मीरी पंडित प्रसिद्ध हैं। स्व० श्री जवाहरलाल नेहरू भी काश्मीरी पंडित थे। अब तक भी काश्मीर में पंडित 'गुलाम मोहम्मद' ऐसा नाम सुनने में आ जावेगा। एक समय ये पंडित लोग संस्कृत के बड़े विद्वान होते थे। काश्मीर में हुए संस्कृत के विद्वानों में महान् इतिहास ग्रन्थ 'राजतरंगिणी' के लेखक कल्हण, 'काव्य प्रकाश' के लेखक मम्मट, व्याकरण के विवृति लेखक कैयट, नयन मंजरी के लेखक जयन्त भट्ट, काव्यालंकार के लेखक इन्दुराज, अलंकार शास्त्र के लेखक भट्ट उव्वट, स्तुति कुसुमांजलि के लेखक जगधर भट्ट आदि के नाम गिनाये जा सकते हैं। यह निर्विवाद है कि एक समय काश्मीर के पंडितों ने भारत की संस्कृत भाषा के विकास में अग्रगण्य भाग लिया है। श्रीनगर से अमरनाथ जाते समय जो विजयेश्वर (विजवेहरा) तथा मार्तण्ड (मटन) स्थान आते हैं वे कभी ज्योतिष तथा पितृकर्म के प्रसिद्ध क्षेत्र रहे हैं। अब भी काश्मीर का अपना पंचांग विजवेहरा से निकलता है और मटन के पंडे आपको वहाँ पहुँचने पर घेर लेंगे।

इन सब धार्मिक रूपों के पीछे काश्मीर की एक आध्यात्मिकता है जिसे बौद्ध, मुसलमान तथा संतों ने भी अपने-अपने काल में पोषण दिया है। पर फिर भी काश्मीर का शैववाद—जैसा कि एक लेखक ने सुन्दर रूप में कहा है—काश्मीर की एक वैसी ही अपनी उपज है जैसी कि काश्मीर की केसर। इस 'वाद' में जगत् के सर्वोच्च तत्व को शिव, परम शिव या सदाशिव नाम से पुकारा जाता है। इस दर्शन की शिक्षा

देने वाले जो संस्कृत ग्रन्थ काश्मीर में बने थे, उन्हें त्रिक्शास्त्र कहा जाता है। यह एक प्रकार का अद्वैतवाद है पर तीन वस्तुओं (मनुष्य, उसका संसार, कल्याण स्थापित करने वाला शिवतत्व) से सम्बन्ध रखता है। यों कहा जा सकता है कि मनुष्य अपने संसार में असामंजस्य के कारण निरन्तर गड़बड़ पैदा करता रहता है। उसे कल्याण-कारी शिवतत्व नित्य सुधारता रहता है। काश्मीर में जब श्रीयुत् आयंगर प्रधानमन्त्री रहे, तब उन्होंने वहाँ एक बड़ा भारी कार्य किया था—वह था वहाँ एक अनुसंधान विभाग का खोल देना। उस अनुसंधान विभाग द्वारा जिन काश्मीर की पुस्तकों का आजकल प्रकाशन हो रहा है उसमें अधिकांश त्रिक्शास्त्र के ग्रन्थ ही हैं। त्रिक्शास्त्रों को तीन वर्गों में बांटा जा सकता है। पहले वे ग्रन्थ हैं जो कि मनुष्य रचित नहीं है, साक्षात् शिवजी के वचन हैं, वे शिवपार्वती संवाद रूप में भी हैं। इन्हें आगम शास्त्र भी कहा जाता है। ऊपर से आया हुआ शास्त्र। आगम शास्त्रों में सबसे मुख्य हैं शिव सूत्र। काश्मीर की प्रसिद्ध गाथा के अनुसार श्री वसुगुप्त द्वारा शैवधर्म का पुनरुद्धार स्वयं शिवजी ने कराया। वसुगुप्त महादेव शिखर के नीचे एक कुटी में रहते थे। उन्हें स्वप्न में शिवजी ने कहा कि तुम अमुक स्थान पर जाओ, वहाँ चट्टान पर शिवसूत्र लिखे हैं। कहा जाता है कि वसुगुप्त वहाँ गये तो वह चट्टान स्वयं उनकी तरफ अभिमुख हो गयी और उस पर लिखे शिवसूत्र को लेकर वसुगुप्त ने शैववाद का प्रचार किया। वह चट्टान अब भी विद्यमान है, श्रीनगर से लगभग 20 मील दूर पर है, उसको काश्मीरी लोग 'शंकर पल' कहते हैं, जो कि स्पष्ट 'शंकरोपल' (शंकर की चट्टान या पत्थर) का अपभ्रंश है पर उस चट्टान पर अब कुछ लिखा हुआ दिखाई नहीं देता है।

त्रिक्शास्त्र के द्वितीय वर्ग का नाम 'स्पन्द शास्त्र' है। स्पंद का अर्थ है गति, कम्पन, एजन। यह सब जगत् स्पन्द रूप ही है, भौतिक, प्राणिक, मानसिक सब जगत् सतत गतिशील है। सो जगत् की रचना से सम्बन्ध रखने वाले शास्त्र स्पन्द शास्त्र हैं।

तीसरे वर्ग का नाम 'प्रत्यभिज्ञान शास्त्र' है। प्रत्यभिज्ञान अर्थात् फिर स्मरण हो जाना, फिर अपने को पहचान लेना। जब मनुष्य अपने असली स्वरूप को पहचान लेता है, उसे प्रत्यभिज्ञान हो जाता है, तो वह शिव हो जाता है, कृतार्थ हो जाता है।

श्री महेन्द्रनाथ सरकार ने मुझे एक बार पांडिचेरी में कहा था कि श्रीअरविंद की 'लाइफ डिवाइन' में जो फिलासफी है, वह सब काश्मीर में पहले से विद्यमान थी। यह ठीक है कि काश्मीर का उपर्युक्त शैववाद श्रीअरविंद दर्शन से बहुत अधिक मिलता है। इस शैववाद में भारतीय छहों दर्शनों का बड़ा सुन्दर समन्वय है। इस शैववाद में जहाँ एक तरफ पूर्ण अद्वैत की कल्पना है, वहाँ दूसरी तरफ वह अत्यन्त क्रियात्मकता पर आधार रखता है। सांख्य ने 24 तत्व माने हैं जबकि असल में पुरुष और प्रकृति दो ही तत्व हैं। पर काश्मीर शैववाद में 36 तत्व हैं

जो अन्त में एक ही हैं। उस एक के स्पन्द से यह जगत् बना है जिसमें हर समय 36 तत्व कार्य कर रहे हैं, उपाय के द्वारा, योग साधन द्वारा प्रत्यभिज्ञान हो जाने से शिव रूप की प्राप्ति हो जाती है एवं श्रीअरविन्द जिसे निवर्तन विवर्तन (Involution Evolution) कहते हैं वह भी वहाँ है। इसी तरह ज्ञान, कर्म, भक्ति का समन्वय 'शिवदृष्टि' ग्रन्थ के प्रसिद्ध लेखक श्री सोमानन्द ने बड़ी सुन्दरता से किया है।

श्री सोमानन्द ने अपनी वंशावली बताते हुए कहा है (और यह काश्मीर की प्रसिद्ध परम्परागत गाथा है) कि शिवजी ने दुर्वासा ऋषि को लुप्त शैवसंप्रदाय को पुनः स्थापित करने को प्रेरणा दी तब ऋषि दुर्वासा ने एक अपना मानस पुत्र उत्पन्न किया। इसी प्रकार 14 मानस पुत्र रूप सिद्ध हुए जिन्होंने शैवशास्त्रों का प्रचार किया। पन्द्रहवां मानसिक पुत्र आगे अपना मानसिक पुत्र उत्पन्न करने में असमर्थ रहा। उसने कश्मीर में एक ब्राह्मणी कन्या से विवाह किया। अपनी भार्या से उसे जो पुत्र हुआ, उसका नाम सगमादित्य था। उसी की चौथी पीढ़ी में सोमानन्द हुए। उन सोमानन्द के शिष्य उत्पलाचार्य हुए जो बहुत से ग्रन्थों के निर्माता हैं। इस प्रकार काश्मीर में लुप्त शैव सम्प्रदाय पुनः प्रकाशमान हुआ।

हमारे महाकवि कालिदास भी शैव थे, यह उनके ग्रन्थों से स्पष्ट है। प्रत्येक ग्रन्थ में प्रारम्भिक स्तुति उन्होंने शिव रूप में ही परमेश्वर से की है। वे न केवल शैव थे किन्तु अद्वैतवादी शैव थे, यह भी कहा जा सकता है। इसके लिये रघुवंश का प्रारम्भ का श्लोक—

वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थ प्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरौ॥

प्रमाण के लिए प्रस्तुत किया जा सकता है। पार्वती और परमेश्वर की ऐसी एकता, अभिन्नता दिखलाई है जैसी कि शब्द और अर्थ में है। इसी प्रकार 'विक्रमोर्वशी' के प्रसिद्ध श्लोक 'वेदान्तेषु यमाहुरेक पुरुष व्याप्य स्थितं रोदसी' में स्पष्ट कहा है कि जिसे वेदान्त में एक पुरुष, जिसे ईश, ईश्वर जिसे मुमुक्षु अन्दर का 'आत्मा' कहकर खोजते हैं वह सब एक स्थाणु 'शिव' ही हैं।

जैसे हम कहते हैं कि चित्, चैतन्य (Conciousness) का ही यह सब कुछ विलास है तो शिव सूत्रों का पहला ही सूत्र है 'चैतन्यम् आत्मा'। ऐसे ही एक सूत्र है 'आत्मैव शिवः' इसी को उत्पलाचार्य ने अपनी कारिका में कैसा सुन्दर कहा है—

आत्मैव सर्व जन्तूनां एक एव महेश्वर।

ध्यान देने की बात यह है कि एक तरफ पूर्ण अद्वैत, अभिन्नता को मानते हुए भी जगत् की एक एक वस्तु का विस्तार से विवेचन करना, कुछ भी नहीं छोड़ना, फिर उस जगत् में से क्रियात्मक रूप से चलते हुए आत्मभूत एक महेश्वर की उपलब्धि। यह है काश्मीर शैववाद की विशिष्टता।

परमेश्वर करे काश्मीर में यह दर्शन फिर जागृत होवे और जगत् के कल्याण का साधन बने।

सच्ची शिक्षा

यह उपदेश एक लेख के रूप में 'आर्य' के आषाढ़ 1989 अंक में प्रकाशित हुआ था। —सम्पादक

तैत्तिरीय उपनिषद् में एक शिक्षाध्याय है। सम्पूर्ण ही शिक्षाध्याय विचार-मनन करने योग्य है। परन्तु आज शिक्षा का स्वरूप क्या है ? इस बारे में पुराने शिक्षा-विज्ञों (Educatioinst) की राय बताने के लिए इस अध्याय के नवें अनुवाक् के निम्न प्रसिद्ध वाक्य ही आपको सुनाता हूँ—

ऋतञ्च स्वाध्याय प्रवचने च। सत्यञ्च स्वाध्याय प्रवचने च तपश्च। स्वाध्याय प्रवचने च। दमश्च स्वाध्याय प्रवचने च। शमश्च स्वाध्याय प्रवचने च। अग्नयश्च स्वाध्याय प्रवचने च। अग्निहोत्रञ्च स्वाध्याय प्रवचने च। अतिथयश्च स्वाध्याय प्रवचने च। मानुषञ्च स्वाध्याय प्रवचने च। प्रजा च स्वाध्याय प्रवचने च। प्रजनश्च स्वाध्याय प्रवचने च। प्रजातिश्च स्वाध्याय प्रवचने च। सत्यमिति सत्यवचा राथी तरः। तप इति तपो नित्यः पौरुशिष्टिः स्वाध्याय प्रवचने एवेति नाको मौद्गल्मः। तद्धि तपस्वद्धि तपः ॥1॥

इसमें ऋत सत्य आदि एक दो चीज का नाम लेकर "स्वाध्याय प्रवचने च" यह कहा गया है। राथीतर ऋषि कहते हैं कि सत्य की शिक्षा ही सब शिक्षा है। पौरूशिष्टि ऋषि कहते हैं कि तप की शिक्षा ही सम्पूर्ण शिक्षा है। पर नाक मौद्गल्य के मत में स्वाध्याय प्रवचने च में ही सब कुछ आ जाता है। यह स्वाध्याय क्या है ? स्वाध्याय का अर्थ अपने आपका अध्ययन ऐसा होता है। मैं क्या हूँ, इसे पहचानना। इसे आत्मज्ञान कहिये। इसका मोटा अर्थ किया जाय तो यह है आत्म-निरीक्षण (Self Inspection) और आत्म-कल्याण के लिए किया गया अध्ययन-मोक्ष-शास्त्र का पढ़ना। प्रवचन है इस आत्मज्ञान का दूसरों को देना। प्रवचन पर अधिक कहने की जरूरत नहीं। स्वाध्याय प्रवचनों द्वारा असली 'स्व' का अध्ययन कर लेना, आत्मज्ञान पा लेना शिक्षा का उद्देश्य है। पश्चिम के ऋषि ने कहा है ("Know thy Self") उपनिषद् के ऋषि ने कहा है "आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो निदिध्यासितव्यः"।

वास्तव में सब शिक्षा अपने आपको पहिचानने के लिए है। यह संसार एक बड़ा भारी शिक्षणालय है। हम सब शिष्य, गुरु और आचार्यों के आचार्य सभी इस ईश्वरीय शिक्षणाल्य के छात्र हैं। हम सबने इस शिक्षणालय में एक दिन आत्म-स्वरूप को ज्ञात कर परमात्मा स्वरूपी परम गुरु का स्नातक बनना है। इस विशाल

संसार में जो हम लोगों ने असंख्यों अपने अपने शिक्षणालय खोले हैं, वे सब आखिर उसी आत्मिकज्ञान को पाने में सहायता देने के लिए हैं। संसार के जिस शिक्षणालय का उद्देश्य अन्ततः मनुष्य को मनुष्य के उद्देश्य को पूरा करने में, आत्मज्ञान कराने में सहायता देना नहीं है, वह शिक्षणालय, शिक्षणालय नहीं है, उसका असफल होना निश्चित है। संसार के शिक्षणालयों में बहुत से भिन्न-भिन्न उद्देश्यों को पूरा करने के लिए खुले हैं। कोई मनुष्यत्व के किसी अंग को विकसित करने के लिए खुला हुआ है तो दूसरा दूसरे अंग को विकसित करने के लिए खुला हुआ है। पर यह सब शिक्षणालय तब तक ठीक हैं, मनुष्यों को ठीक शिक्षा दे रहे हैं, जब तक यह सब उस उस शिक्षा के परम उद्देश्य (आत्मज्ञान) की तरफ मुंह किये हुए हैं। एक आत्मज्ञान उन्मुख होकर मनुष्य-जीवन के असंख्यों पहलुओं को पूर्ण करने के लिए असख्यों प्रकार की शिक्षा-संस्थायें खोली जा सकती हैं। उसमें कुछ हर्ज नहीं। परन्तु शिक्षा में दोष तब आता है, जब उसका सम्बन्ध जीवन से विच्छिन्न हो जाता है। अतएव वह आत्मज्ञान उन्मुख नहीं रहता।

मेरे हाथ में एक छोटी-सी पुस्तक है। जिसका नाम 'Education for life' है। इसमें हैम्टन संस्था (Hamptan Institute) के संस्थापक श्री सैमुअल चैपमैन आर्मस्ट्रोग (Samual Chapman Armstraug) के जीवन संचारक विचारों के उद्धरणों का संक्षिप्त संग्रह है। यह हर एक शिक्षा-प्रेमी के पढ़ने योग्य है। वैसे कोई इसमें नयी बात नहीं है। इसका सारांश यह है कि शरीर (हाथ) मन, और आत्मा तीनों को शिक्षा देना ही जीवन व्यापी शिक्षा देना है। आजकल की प्रचलित शिक्षा में बड़ा भयंकर दोष यह आया हुआ है कि हम हाथ की शिक्षा और आध्यात्मिक शिक्षा को भूल गए हैं, केवल मानसिक विकास के यत्न करने को ही शिक्षा समझने लगे हैं। अतएव हमारी शिक्षा अस्वाभाविक और जीवनहीन हो गई है। इस त्रुटि को Armstraug ने अनुभव किया और उसने हाथ (Hand) की और चरित्र (Character) की शिक्षा को महत्व देने के लिए अमेरिका में एक शिक्षा-संस्था खोली। हर एक सुधारक आखिरकार एक शिक्षा-संस्था खोलता है। अपने देश में देखिये, रवीन्द्रनाथ ने शान्ति-निकेतन (विश्वभारती) खोला है। महात्मा गांधी ने साबरमती आश्रम खोला है। राष्ट्रसभा ने विद्यापीठ खोले हैं। महातमा मुन्शीरामजी ने यह गुरुकुल खोला है। जब प्रचलित शिक्षा-प्रणाली किसी एक अनावश्यक अंग पर जोर देते जाने से मनुष्य-जीवन से विच्छिन्न और निर्जीव हो जाती है तो नया सुधारक नई शिक्षा-संस्था खोलने की आवश्यकता समझता है। गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली भी ऋषि दयानन्द द्वारा जीवनप्रद शिक्षा (Education for life) देने के लिए पुनरुज्जीवित की गई है। केवल मानसिक-शिक्षा को अनुचित महत्व न देकर शारीरिक और आत्मिक शिक्षा देने द्वारा सम्पूर्ण जीवन को उन्नत करने के लिए गुरुकुल खोला गया है।

संसार के प्रभाव से प्रभावित होने के कारण गुरुकुल भी अभी तक ठीक तरह

हाथ की शिक्षा और आध्यात्मिक शिक्षण की तरफ यथोचित ध्यान नहीं दे सका हैं किन्तु गुरुकुलीय शिक्षा की यह दोनों बातें परम आवश्यक अंग हैं। शिक्षा का सम्बंध सम्पूर्ण जीवन से होवे इसलिए यह शिक्षा गुरु का कुल बनाकर दी जाती है—जिसमें कि विद्यार्थियों को दिन-रात गुरु के साथ रहना होता है। विद्यार्थियों का चौबीसों घण्टों का जीवन गुरु सम्पर्क को प्राप्त करता है और फिर विशाल सांसारिक जीवन से मनुष्य तीन तरह सम्बद्ध है—आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक तौर से। इन तीनों संसारों के लिए मनुष्य यदि शिक्षित न होवे तो भी उसकी शिक्षा सम्पूर्ण जीवन की शिक्षा न होगी। अतः गुरुकुलीय वैदिक शिक्षा के अनुसार तीन समिधायें रखकर ब्रह्मचारी इन तीनों लोकों की शिक्षा पाता है। आधिदैविक जगत् के साथ अनुकूलता पाना प्रकृति से सम्बन्ध स्थापित करना है। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए गुरुकुल जंगल में रहते हुए तथा स्वाभाविक प्राकृतिक नैसर्गिक जीवन बिताते हुए चलाया जाता है। अग्निहोत्र का अनुष्ठान भी किसी आधिदैविक जगत् से अपने को जुड़ा रखने के लिए ब्रह्मचारी का नित्य कर्म होता है। इस द्वारा वह आधिदैविक देवों की भी तृप्ति करता है। आधिभौतिक जगत् में सुशिक्षित होने के लिए उसे बड़े कुटुम्ब में रखते हुए समाज सेवा की शिक्षा दी जाती है। शिक्षा के इस अंग की पूर्ति के लिए मैं ब्रह्मचारियों को कम-से-कम सप्ताह में एक बार समाज सेवा के कार्य के लिए जाने का आग्रह कर रहा हूँ। आध्यात्मिक जगत् के लिए शिक्षित होने के लिए गुरुकुल का संध्या, हवन, प्रार्थना, ब्रह्मचर्य आदि है। इस ईश्वर-भक्ति का, आध्यात्मिकता का जीवन व्यापी और आत्मज्ञान उन्मुख अभी तक गुरुकुल में नहीं है। पर यदि हम गुरुकुल शिक्षा के इस आदर्श को सम्मुख रखेंगे तो हमारी यह कमियाँ धीरे-धीरे पूर्ण हो जायेंगी। इतना तो हमें अभी अनुभव करना चाहिए कि केवल मानसिक शिक्षा, किताब रटन्त की शिक्षा, कितनी अधूरी, अस्वाभाविक और हानिकर है और हाथ की स्वाभाविक शिक्षा को, सेवा की शिक्षा को तथा आध्यात्मिकता को अपने यहाँ बढ़ाने की कितनी सख्त जरूरत है। इसके बिना हमारी शिक्षा सच्ची शिक्षा नहीं हो सकती।

उपनिषदों में जो वैदिक सच्ची शिक्षा के नमूने दिखाई देते हैं, उनमें सत्य काम और उपकोशल की कथायें मुझे बड़ी शिक्षाप्रद लगती हैं। इन कथाओं में प्रदर्शित आदर्श गुरुकुल-शिक्षा का आदर्श होना चाहिये।

सत्यकाम शिक्षित होने के लिए (आत्मज्ञान पाने के लिए) गुरु ढूंढ़ता है। उस समय की प्रथा के अनुसार ब्राह्मण गोत्रवाले को साधारणतया ऐसी शिक्षा का अधिकारी समझा जाता था, पर सत्यकाम को अपना गोत्र पता न था, उसने सहज़ स्वभाव से यही कह दिया कि मैं जबाला का पुत्र हूं और मुझे या मेरी माता को भी गोत्र का पता नहीं। उसकी इस सत्य शीलता और सरलता ने ही उसे ब्राह्मणगोत्र का बना दिया, हरिद्रुम आचार्य के कुल में प्रवेश होने का अधिकारी बना दिया। ऊपर मैं कह चुका हूं कि ऋत और सत्य को उपनिषद् के शिक्षाध्याय में शिक्षा की

पहली वस्तु बताया है और रार्थीतर ऋषि-शिक्षा-विज्ञ (Seer-Educationist) के मत में सत्य ही एक मात्र शिक्षणीय वस्तु है। ऊपर गीता में वर्णित ज्ञान लक्षणों में भी आर्जव सरलता का नाम लिया गया है। अतः ऋषि ने उसमें सत्य निष्ठा और सरलता देखकर ही उपनयन संस्कार कर अपने कुल में ले लिया।

वहाँ रहकर उसने क्या पढ़ा? उसे पतली दुबली चार सौ गौवें देकर आचार्य ने कहा कि इन्हें चराने लेजा और जब वह चलने लगा तो कहा कि ये हृष्ट-पुष्ट हो जावें और बढ़कर एक हजार हो जायँ तब मेरे पास लेकर आना। उसने गुरु की आज्ञा पाली और आगे कथा है कि गुरु निर्दिष्ट यह गौ-सेवा करते-करते ही वह ब्रह्मज्ञानी (आत्म-ज्ञानी) हो गया। जब वह गौवें एक हजार हो गयीं तो उसे समिदाधान करके ध्यान करते समय उनके ऋषभों ने कहा कि 'हम एक हजार हो गई हैं, हमें आचार्य-कुल पहुँचा दो और ब्रह्म के एक पाद का उपदेश किया'। वहाँ से आचार्य-कुल चार पड़ाव था। कथा है, इन चारों दिन सायंकाल उसे ब्रह्म के एक पाद का ज्ञान मिलता गया और अब आचार्य्य के पास पहुँचा तो आचार्य ने देखते ही कहा कि तू ब्रह्मज्ञानी दीखता है। इस कथा द्वारा उपनिषत्कार क्या सिखाना चाहते हैं?

एक दूसरी कथा सुनिये। यही सत्यकाम जब आचार्य हो गया तब की निम्नोक्त कथा उपनिषद् में संग्रह की गई है। आचार्य सत्यकाम का एक शिष्य उपकोशल था। वह आचार्य की आज्ञानुसार बारह वर्ष से बड़ी श्रद्धाभक्ति से अग्नि-परिचर्या करता था, बड़े यत्न से वह सब कुछ करते रहने पर भी आचार्य उसे स्नातक नहीं बनाता था। वह इस वास्ते बड़ा दुःखी था कि मुझे ब्रह्मज्ञान क्यों नहीं मिलता है और मैं स्नातक क्यों नहीं बनने पाता। आचार्य पत्नी के भी कहने पर उसकी शिकायत की तरफ कुछ ध्यान न देकर आचार्य कुल से बाहर चले गये पर उपकोशल के हृदय में यह मनोभावना कि मेरे इतनी अच्छी तरह अग्निपरिचर्या करते रहने पर भी मुझे ज्ञान क्यों नहीं मिलता, वह इतनी प्रबल थी कि उसने उस व्याकुलता में खाना भी छोड़ दिया। आचार्य पत्नी ने समझाया पर उसने कुछ न खाया। कहते हैं, इसी अवस्था में उसे अग्नि की तरफ से उपदेश मिला 'प्राणे ब्रह्म, कं ब्रह्म खं ब्रह्म आदि।' उसे आत्मज्ञान मिल गया। आचार्य ने लौटकर आकर देखा तो वे बोल पड़े कि "तू तो ब्रह्मज्ञानी दीखता है।" तब आचार्य ने उसको अग्नियों से मिला ज्ञान सुना और उसमें जरा सा कुछ और बताकर उसकी कसर पूरी करके (Finishing Touch) देकर उसे स्नातक बना दिया।

इन दोनों घटनाओं में बिना गुरु के कुछ पढ़ाये-लिखाये, बिना आचार्य के भौतिक संग में रहे ही दोनों को आत्मज्ञान मिल गया। यह कैसे हुआ! सत्यकाम तो गुरुनिर्दिष्ट प्रकार से गो-सेवा करते-करते ही सब ज्ञान को पा गया। उपकोशल अग्निसेवा करते-करते इसी कार्य से ब्रह्मज्ञानी हो गया।

उस समय गो सेवा, गोवंश की वृद्धि बड़ी भारी राष्ट्रीय सेवा या सामाजिक

सेवा थी। इसे ही गुरु आज्ञा से, निष्काम भाव से करने से गुरु का सब ज्ञान शिष्य को मिल गया।

इन उदाहरणों में उपनिषद् ने हाथ से भक्तिपूर्वक सेवक कार्य करने का ही वर्णन करके और उसी से शिक्षा के फल की प्राप्ति दिखला कर बतलाया है कि शिक्षा का उद्देश्य आत्मज्ञान की प्राप्ति है और उसकी प्राप्ति के लिए अक्षर ज्ञान तथा पढ़ने लिखने तक की आवश्यकता नहीं है। पूर्ण भक्ति-श्रद्धा के साथ अपने समय की माँग पूरा करने वाली कोई सेवा करने ही से शिक्षा का फल मिल सकता है। इन कथाओं की याद कर मेरे जी में आया करता है कि गुरुकुल के ब्रह्मचारी अपने कार्य-क्षेत्र के लिए चुने हुए जिले में इस व्रत को धारण करके प्रविष्ट होवें कि इस जिले भर में एक भी मनुष्य मद्य पीने वाला न रहे या जिले भर में एक भी अछूत न रहे और इस साधना को बीस या तीस वर्षों में भी पूरा करके वे सच्चे प्रतिष्ठित स्नातक बनें। आज भी आचार्य किसी जिज्ञासु को कह सके कि "यह लो चर्खा और यह लो धुनकी और इस इलाके (इस ज्वालापुर के परगने में) इतनी अच्छी तरह घर-घर में चर्खों का संदेश पहुँचा दो कि कभी किसी को एक कतल भी देशी या विदेशी मिल का कपड़ा न लेना पड़े, न लाना पड़े, वस्त्र की दृष्टि से इस परगने को बिल्कुल स्वावलम्बी बना दो और फिर मेरे पास आओ तुम्हें आत्मज्ञान मिलेगा।" जैसे कि तक्षशिला-विश्वविद्यालय से स्नातक बनाने की परीक्षा में जीवक से पूछा गया था कि चारों तरफ एक योजन के घेरे में घूमकर बतलाओ कि यहाँ कोई ऐसी बूटी तो नहीं है जिसके कि गुण तुम नहीं जानते, वैसे गुरुकुल में वाचस्पति वालों से पूछा जाना चाहिए कि चारों तरफ के गाँवों में क्या कोई ऐसी कुरीति है जिसके दूर करने का धार्मिक उपाय तुम नहीं जानते। हारिद्रुम जैसे आचार्य बनने की मेरी इस महत्वकांक्षा को तो अभी परमेश्वर पूर्ण करते नहीं दीखते कि मेरे बताये कठिन सेवा व्रत को पूर्ण करके कोई मेरे शिष्य आत्म-ज्ञानी बन निकलें। पर हम कुछ स्नातक यदि रुड़की तहसील के सौ ग्रामों को बीस वर्ष लगाकर भी सुसंगठित, धार्मिक, अपनी पंचायत द्वारा सुशासित, साफ, लड़ाई-झगड़े रहित बना देवें तो मुझे विश्वास है कि आत्मज्ञान के वे रहस्य जिन्हें हम अब पढ़ते-सुनते हुए भी नहीं पढ़ते-सुनते हमारे लिए खुल जायेंगे और हमें वह सुख मिलेगा जिसके लिए दुनियाँ तड़पती फिरती है।

मैं लम्बा कह गया। कहना यह था कि जो शिक्षा आत्मज्ञान की ओर नहीं ले जाती, जो स्वाभाविक सेवा कार्य करना नहीं सिखाती, वह सच्ची शिक्षा नहीं। इस पर मैंने उपनिषद् की बातें सुनाई। पर अन्त में मैं कहना चाहता हूं कि गीता भी स्पष्ट शब्दों में इसकी गवाही देती है। क्या कभी गीता में आपने पढ़ा है कि सच्चा ज्ञान क्या है? लोग किताब पढ़ने को या वेदमन्त्र याद कर लेने को ज्ञान समझते हैं। पर गीता के पाँच श्लोक (अध्याय 13 के नवें से ग्यारहवें तक) तो प्रत्येक विद्यार्थी को याद कर लेने चाहियें जिससे उन्हें ज्ञान का अर्थ सदा याद रहे।

दीक्षित जीवन

गुरुकुल सूपा में दीक्षारंभ संस्कार पर किया गया यह भाषण लेख रूप में 'अदिति' के अगस्त 1944 अंक में प्रकाशित हुआ था। —सम्पादक

'दीक्षा' यह अति प्राचीन शब्द है। यह वैदिक समय से आ रहा है। पीछे इसका अर्थ 'व्रतग्रहणं दीक्षा' इस तरह किया गया है। अर्थात् दीक्षा का मतलब है व्रत का ग्रहण करना। यजुर्वेद में आया है—

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ।। य० 19/30

तात्पर्य यह है 'व्रत से दीक्षा होती है और यह दीक्षा दक्षिणा और श्रद्धा द्वारा अन्त में सत्य को प्राप्त कराती है।' एवं वेद के अनुसार भी किसी सत्य को पा लेने के लिए व्रत ग्रहण कर लेना, व्रती हो जाना ही दीक्षा पाना है। गुरुकुल भी किसी सत्य के लिए खड़ा हुआ है और उसी को पाने के लिए यहाँ दीक्षा दी जाती है।

गुरुकुल में ब्रह्मचारी जिस सत्य को पाने के लिए, जिस लक्ष्य को पाने के लिए यहाँ दीक्षित जीवन व्यतीत कर रहे हैं वह है वैदिक धर्म को अपने जीवन में उतार लाना। गुरुकुल इसी कार्य के लिए है। गुरुकुल क्या वस्तु है? इस पर जब जब मैंने गम्भीर विचार किया है, तब तब पाया है कि गुरुकुल इन चार तत्वों का बना हुआ है—गुरु, कुल अर्थात् गुरुशिष्य-सम्बन्ध या कुलभावना, ब्रह्मचर्य, वैदिक धर्म। इनमें से एक भी कम हो जाय तो गुरुकुल का गुरुकुलत्व जाता रहता है। इन चारों तत्त्वों को एक वाक्य में कहें तो गुरुकुल का ध्येय है गुरु के आधीन, उसके कुल में कुलभावनापूर्वक शिष्य रूप से रहते हुए, ब्रह्मचर्य द्वारा वैदिक जीवन को सिद्ध करना। पर गुरुकुलीय ध्येय के इन चार तत्त्वों पर कुछ विस्तार से विचार करना उत्तम होगा।

गुरु—सब से पहली वस्तु है गुरु। गुरु के बिना गुरुकुल नहीं हो सकता। गुरुकुल जिसका होता है वह गुरु है। गुरु का अर्थ है महान्। प्राचीन समय में जो असाधारण व्यक्ति, किसी सत्य का साक्षात्कार कर उसकी शक्ति से शक्तिशाली हो महान् होते थे, वे गुरु कहलाते थे और उनके चारों ओर उनसे आकृष्ट हो, उनसे

वह सत्य ज्ञान पाने के लिए जब बहुत से शिष्य इकट्ठे हो जाते थे तभी स्वभावतः गुरु का कुल, 'गुरुकुल' बन जाता था, क्योंकि गुरु अपने शिष्यों को अपने कुल, परिवार की तरह रखते थे। सब शिष्य उनके पुत्र की तरह होते थे, बल्कि पुत्र की भी अपेक्षा अधिक निकट और अधिक पवित्र सम्बन्ध से जुड़े होते थे। ऐसा एक कुल, ऐसा एक नये प्रकार का परिवार, आध्यात्मिक परिवार जिसके इर्दगिर्द इकट्ठा हो जाता था, वह गुरु था। गुरु ने कुछ बड़ी वस्तु पाई होती थी, उसके पास कोई आध्यात्मिक निधि होती थी, इसे उससे लेने, ग्रहण करने को शिष्य आते थे। कुछ देने योग्य बड़ी वस्तु रखना ही गुरु का गुरुपन है। सो पहले तो किसी गुरुकुल में कोई ऐसा गुरु होना चाहिये, तभी वह असली गुरुकुल बनेगा, तभी वहाँ दीक्षित जीवन का कुछ मतलब होगा। कम से कम यह बात तो स्पष्ट है ही कि किसी गुरुकुल के गुरु (आचार्य) या गुरुवर्ग जिस कोटि के होंगे, उसी कोटि का वह गुरुकुल बनेगा। यह बात वैसे तो बहुत ठीक है कि अन्त में गुरु परमेश्वर ही है, परम गुरु भगवान् ही है, हमें यह हमेशा स्मरण भी रखना चाहिए। इसी तरह यह भी ठीक है कि भगवान् की किसी अव्यक्त शक्ति को या अव्यक्त आदर्श को भी गुरु माना जा सकता है, पर इसका यह मतलब नहीं कि मनुष्य-गुरु का कुछ महत्त्व नहीं है। सच तो यह है कि सीधे परमेश्वर के शिष्य हो जाने वाले तो कोई विरले ही होते हैं, साधारणतया तो मनुष्यों के लिए ऐसे गुरु का ही सब महत्त्व है जो मनुष्य होता हुआ दिव्य हो, जिसने मनुष्य होते हुए भगवान् को अपने अन्दर थोड़ा या बहुत व्यक्त किया हो। ऐसे मनुष्य-गुरु से ही मनुष्य आसानी से निकटतया जुड़ सकता है। निःसन्देह हमारे देश में जो गुरुमहिमा गाई गई है, वह मिथ्या नहीं है। 'नयी रोशनी' के प्रभाव में आकर उसे मिथ्या समझना बड़ी भारी गलती करना होगा। भगवान् की ज्योति को अपने जीवनों में ज्वलन्त रूप से प्रकट करने वाले गुरुओं की सदा जरूरत रही है और सदा जरूरत रहेगी। जगत के छोटे-बड़े और जगत्-गुरुओं तक की आवश्यकता होती है। अस्तु, गुरु के विषय में मैं अधिक नहीं कहना चाहता। मुझे तो शिष्य कोटि की बातें करना अधिक शोभा देता है। इस विषय में तो इतना ही कहना था कि गुरुकुल या दीक्षित जीवन के लिए सबसे पहली और अपरिहार्य आवश्यकता है गुरु की।

कुल—दूसरी वस्तु है कुल, जो कि गुरु के शिष्यों द्वारा बनता है। गुरु और शिष्य परस्पर एक कुलभावना से रहते हैं। ये दोनों एक पवित्र सम्बन्ध से जुड़े होते हैं। गुरुशिष्य-सम्बन्ध के विषय में मैं क्या बोलूं? यह एक ऐसा सम्बन्ध है कि इसके आन्तरिक तौर पर याद आ जाने से ही मेरे नेत्रों में अश्रु आ जाते हैं। यह ऐसा ही सच्चे प्रेम का सम्बन्ध है, ऐसा ही पवित्र सम्बन्ध है। शायद यह दुनियां में जितने भी सम्बन्ध हैं, नाते हैं, इनमें पवित्रतम है, निकटतम है, दिव्यतम है। इसमें अन्य सब सत्य सम्बन्ध समा जाते हैं। यदि मैं कहूं कि इस सम्बन्ध में सचमुच दो आत्माओं

का मेल होता है, दो आत्माओं का स्पर्श होता है, गुरु की ज्योति से शिष्य का आत्म-प्रदीप जल उठता है, एक शक्ति का संचार हो जाता है, शिष्य का सचमुच नया जन्म होता है, वह दिव्य जन्म पाता है, तो इस सबको सच मानो। इसका वर्णन कर सकना कठिन है। यह अनुभवगम्य ही है। जो सच्चे गुरु और सच्चे शिष्य होते हैं, वे इसे परस्पर अनुभव करते हैं। मैं ब्रह्मचारियों से कहूंगा कि तुम इस पवित्रतम सम्बन्ध को प्राप्त करने का यत्न करो और इसे स्वयं अनुभव करो।

इस सम्बन्ध को स्थापित करने के लिए यह आवश्यक है कि शिष्य पूरी तरह से अपने को गुरु के प्रति समर्पण करे। समर्पण का मतलब केवल एक बार समर्पण-संकल्प करना नहीं है, केवल बाहरी शारीरिक समर्पण भी कुछ काम की चीज नहीं है। यदि आत्मिक ध्येय प्राप्त करना है तो अन्दर तक का, प्राण मन के अन्तिम कोनों और छोरों तक का समर्पण करना होगा। हमारे अन्दर अन्तरतम वस्तु जो हृत्पुरुष है, उसका स्वाभाविक धर्म ही समर्पण है। वह सदा भगवान् को समर्पित है। उस अन्तरतम से समर्पण करना होगा। तभी वह समर्पण भगवान् तक पहुँचेगा। आजकल लोग कहते हैं कि मिलिटरी डिस्सिप्लिन होनी चाहिये। एक सज्जन गुरुकुल कांगड़ी में कहा करते थे कि discipline तो मिलिटरी होनी चाहिये, मिलिटरी (अर्थात् विद्यार्थियों में अनुशासन सैनिकों जैसा होना चाहिये)। मैं इस बात पर हसा करता था कि देखो आज शिष्यों को अनुशासन (डिस्सिप्लिन) सिखाने के लिए सैनिकों को आदर्श माना जाने लगा है, जबकि डिस्सिप्लिन शब्द का अर्थ ही असल में शिष्यभाव है। Disciple का अर्थ है शिष्य, उसी से discipline निकला है और इस का अर्थ शिष्यभाव व शिष्यता होकर शिष्य के मुख्य गुण के तौर पर अनुशासन हो गया है। इसलिये असल में तो सैनिकों को कहना चाहिये कि उनका अनुशासन शिष्यों जैसा हो, न कि शिष्यों को यह कहना चाहिये कि उनका सैनिकों जैसा हो। पर बात यह कि आजकल लड़ाई चल रही है इसलिये हमारी आँखों में सैनिकों का discipline (अनुशासन) भरा हुआ है। पर हम भूल जाते हैं कि हमारे देश के शिष्यों का अनुशासन कितना कमाल का रहा है। 'कैसेबीयांका' की आज्ञा-पालन की बात तो हमें बताई जाती है पर महाभारत में जो शिष्यों के वर्णन आये हैं, शिष्य अपने गुरु के कठोर अनुशासन में बड़े गौरव के साथ रहे हैं या अपने गुरुओं की आज्ञा-पालन में उन्होंने जितने जितने कष्ट सहे हैं उन आश्चर्यजनक बातों को हम भूल जाते हैं। धौम्य ऋषि के शिष्य उद्दालक, उपमन्यु, वेद आदि की कथाएं पढ़कर इस भाव को हम फिर ताजा कर सकते हैं। असल में इस बात में सैनिकों का शिष्यों के साथ मुकाबला ही नहीं हो सकता है क्योंकि शिष्य का समर्पण बहुत ही आन्तरिक होता है। सेनापति अपने सिपाहियों पर अधिक से अधिक भौतिक ही नियन्त्रण रख सकता है, सिपाही उसे सैनिक कार्य के समय अधिक से अधिक अपने शरीर ही सौंप सकते हैं। पर शिष्य तो अपने प्राण, मन और जीव को भी गुरु को सौंप देता है एवं गुरु का शिष्य के अन्तरतम भाग पर भी प्रेमपूर्ण अधिकार होता है। वह उससे जैसा

चाहे करा सकता है। करा सकता क्या है, कराता है क्योंकि गुरु और शिष्य तब अभिन्न हो जाते हैं। गुरु की इच्छा ही शिष्य की इच्छा हो जाती है, गुरु की मति ही शिष्य की मति हो जाती है। भेद नहीं रहता। वहाँ किसी बाह्य आज्ञा, कमांड या हुकुम की जरूरत नहीं होती। शिष्य अपने अन्दर से ही, अपने आप ही वही चाहता, सोचता और करता है जो कि गुरु चाहता है और उत्तरोत्तर उन्नति करता जाता है। वहाँ सब अनुशासन अन्दर से होता है और प्रेमपूर्ण होता है, इसीलिए यह इतना प्रभावशाली और समर्थ होता है। यह गुरु शिष्य-सम्बन्ध की पूर्ण अवस्था आती है सच्चे समर्पण के द्वारा। इसलिए मैं विद्यार्थियों को कहता हूं कि तुम समर्पण करो, पूरा और सच्चा समर्पण करो। जितना समर्पण कर सकोगे, उतना ही तुम गुरु से पा सकोगे। मैं तो यहाँ तक कहूंगा कि तुम्हारा समर्पण यदि आदर्श होगा तो तुम भगवान् की कृपा से वह भी पा लोगे जो कि तुम्हारे गुरु में भी नहीं होगा। बस यह याद रक्खो कि तुम्हें गुरु से जोड़ रखने वाली डोर बल्कि गुरु द्वारा भगवान् से जोड़ रखने वाली डोर भी समर्पण ही है। यही गुरु शिष्य-सम्बन्ध का रहस्य है।

ब्रह्मचर्य—पर, समर्पण का मतलब पड़े रहना, निष्क्रियता, तामसिकता नहीं है, न ही इसका मतलब कुप्रवृत्तियों को, निम्न गतियों को भी मान लेना, स्वीकृति देना है। तुम ठीक प्रकार से समर्पण तभी कर सकोगे जब ब्रह्मचारी होओगे। ब्रह्मचर्य का साधारण अर्थ है अपने को नीचे ले जाने वाली विषय-वासनाओं, कुत्सित भावनाओं से अपने आप को बचाये रखना। ब्रह्मचारी वह है जो प्राण, मनके नीचे दर्जे के आवेगों और विचारों के कभी वशीभूत नहीं होता है। हमने समर्पण गुरु को करना है, भगवान् को करना है, दिव्य गुणों और ऊँची प्रवृत्तियों के प्रति करना है, न कि आसुरी गुणों के प्रति और नीची प्रवृत्तियों के प्रति। सो अपनी शक्ति, वीर्य को नीचे नहीं गिराना किन्तु ऊपर ले जाना यही ब्रह्मचर्य है। यह शक्ति को बिखेरने की जगह शक्ति का संचय करना है। शारीरिक वीर्य ही नहीं किन्तु प्राणगत और मनोगत वीर्य को भी उत्तेजनावश नष्ट करने की अपेक्षा इन वीर्यों का शान्तिपूर्वक संचय करना है। इसलिए तुम्हें बाहर के उत्तेजनामय वायु-मण्डल से जुदा करके यहाँ गुरुकुल के शान्त वायुमण्डल में रखा गया है जिससे कि तुम यहाँ शांति में भविष्य के शक्तिपूर्ण जीवन के लिए शक्ति संचय कर सको।

कुछ समय हुआ, गुरुकुल कांगड़ी में युक्तप्रान्त के गवर्नर के सलाहकार श्री पन्नालाल जी पधारे। वे जब घूमघाम कर सारे गुरुकुल को देख रहे थे तो ब्रह्मचारियों के आश्रम में पहुँचकर जब उन्होंने वहां ब्रह्मचारियों की दिनचर्या के नियम लिखे हुए पढ़े, जो डचोढ़ी में ही बड़े कृष्णपट्ट पर लिखे हुए थे तो उनके साथियों में से एक ने हंसी में कहा 'क्या यह इण्डिया डिफेंस एक्ट में नही आता ? यह preparation in peace है, उन्होंने वह बात कही तो हंसी में थी किन्तु

वह बड़ी सच्चाई को ध्वनित करती थी। असली शक्ति शान्तिपूर्वक तैयारी के बाद प्रकट होती है। जितना ही बड़ा शान्ति का आधार होगा उसके ऊपर उतनी ही बड़ी शक्ति काम कर सकेगी। जितना बड़ा ब्रह्मचर्य होगा, उतना ही विशाल शक्ति का भंडार वहाँ संचित होगा। यह कहने की जरूरत नहीं कि ब्रह्मचर्य को हमें इसके विस्तृत अर्थ में ही लेना चाहिये, संकुचित अर्थ में नहीं। तो हम देखेंगे कि हमारा ब्रह्मचर्य स्वाभाविक और आन्तरिक होगा, न कि कृत्रिमतया किया गया और केवल बाह्य नियमों पर आश्रित। वेद में वर्णित ब्रह्मचर्य बहुत ही विशाल वस्तु है। वहाँ ब्रह्मचर्य का अर्थ 'ब्रह्म' के लिए, भगवान् के लिए 'चर्या करना', जीवन बिताना है। तुम यदि भगवान् के लिए, केवल भगवान् को पाने के लिए, केवल भगवान् के अभिमुख, भगवान् के प्रति चलोगे, जीवन बिताओगे तब तुममें सब दिव्य शक्तियाँ संचित होती चली जायेंगी, तुम ऊर्ध्वगामी होवोगे और शक्ति के भंडार होवोगे। असली वैदिक ब्रह्मचर्य यही है जिसकी कि महिमा अथर्ववेद के ब्रह्मचर्यसूक्त में गायी गई है।

वैदिक धर्म—गुरु के आधीन उसके कुलपुत्र बन कर ब्रह्मचर्यपूर्वक जिस उद्देश्यप्राप्ति के लिए तुम्हें रहना है वह है वैदिकधर्ममय जीवन। उसे आर्य जीवन भी कहा जाता है। वेद में उसे दिव्य जीवन भी कहा है। यह जीवन पाना बड़ा कठिन है। इसे पाने के लिए वस्तुतः युद्ध करना पड़ता है। मैंने जो अभी सैनिकपन और शिष्यपन की तुलना की है और शिष्यपन की अति उत्कृष्टता बताई है, वह यथार्थ है। तुम गुरुकुल के विद्यार्थियों ने, ब्रह्मचारियों ने अपने को आर्य बनाना और जगत् को आर्य बनाना है। 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' तुम्हारा आदर्श है। पर इसके लिए एक बड़ा भारी युद्ध करना होगा और उसमें विजय पानी होगी। वह युद्ध न तो भौतिक हथियारों से लड़ा जाता है और न वह भौतिक जय पाने के लिए होता है। वह तो धार्मिक या आध्यात्मिक हथियारों से लड़ा जाता है और उससे, वैदिक शब्दों में कहें, तो स्वः, दिव्यता, अमरत्व को जीता है। तभी तुम असल में अपने ध्येय को प्राप्त करोगे, जगत् को आर्य बनाने लायक बनोगे। श्रद्धा और ब्रह्मचर्य तुम्हारे दिव्य हथियार होंगे।

तीन चार वर्ष हुए चीनी विद्वान् श्रीयुत तानयुनशान (जो कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के विश्वभारती शान्ति निकेतन में चीनी विभाग के अध्यक्ष हैं) श्रीअरविन्द आश्रम पांडीचेरी के दर्शनार्थ आये थे। एक दिन आश्रम के एक साधक ने उनसे हंसी में कहा कि आपके चीन को तो जापान खतम किये जा रहा है, खतम कर डालेगा। तो श्री तानयुनशान ने कहा 'नहीं, चीन को जापान नहीं जीत सकता, चीन अजेय है।' पर फिर गम्भीर होकर वे बोले कि जापान तो चीन को कभी जीत ही नहीं सकता। हाँ, दो हजार वर्ष पहले बुद्ध भगवान् ने जरूर चीन को जीता था,

या अब श्रीअरविंद जीतेंगे ।' सो यह है विजय, जैसी विजय के सैनिक बनने के लिए तुम तैयार किये जा रहे हो, न कि जापान जैसी विजय के। यह है जिस के लिए गुरुकुल के बच्चों का गीत बना था—

'हम दयानन्द के वीर सैनिक बनेंगे ।'

संसार भर को आर्य बनाने के लिए, संसार भर में धर्म का राज्य या ईश्वर का राज्य स्थापित करने के लिए तुम एकान्त में साधना कर रहे हो। यह इतना बड़ा ध्येय है कि बहुत से लोग तो इसे असम्भव ही समझेंगे। यह बहुत ही कठिन है, इसमें तो सन्देह ही नहीं। पर उत्कृष्ट आत्मायें तो कठिन काम के लिए ही जन्म लेती और दीक्षित होती हैं और परमेश्वर की कृपा के सम्मुख तो कुछ भी कठिन नहीं, बल्कि कुछ भी असम्भव नहीं। तो तुम स्वभावतः पूछोगे कि इस दु:साध्य कार्य को कैसे सिद्ध किया जाय या उस परमेश्वर की कृपा को कैसे प्राप्त किया जाय। बस, इसी सम्बन्ध में योगिराज श्रीअरविन्द के एक बचन को सुना कर मैं अपना कथन समाप्त करूँगा। श्रीअरविंद ने 'माता' पुस्तक में एक बात कही है जो कि दिव्य जीवन के साधकों को सदा स्मरण रखने योग्य है। गुरुकुल का उद्देश्य भी अन्त में वही है जो कि श्रीअरविन्द के योग का ध्येय है। श्रीअरविंद कहते हैं कि भगवान् की शक्ति हममें पूर्णतया काम करने लगे, भगवान् की कृपा व प्रसाद हमें मिले, इसके लिए तीन प्रकार का प्रयत्न हमने ही करना है। यह त्रिविध प्रयत्न है अभीप्सा, अस्वीकार या परित्याग और तीसरा समर्पण। ये तीन कार्य यदि हम करते रहें तो बाकी सब भगवान् की शक्ति कर देगी। अभीप्सा है अपने ध्येय को प्राप्त करने की आत्मप्रेरित आन्तरिक सच्ची आकांक्षा या लगन। दूसरा प्रयत्न है कि जो कुछ भी हमारे ध्येय के विपरीत है, विरोधी है, बाधक है, उसका सतत अस्वीकार करना, त्याग करना। तीसरा यत्न है समर्पण, उस ध्येय के प्रति पूरी तरह समर्पित होना। तुम यदि उस वैदिक जीवन या दिव्य जीवन को पाने के लिए अपने अन्दर अभीप्सा सदा बनाये रखो, जो तुम्हारे मन, प्राण, शरीर में इसके विरोधी विचार, भाव या गतियाँ आती रहती हैं उन्हें सतत अस्वीकृत कर त्यागते जाओ और समर्पणभाव में निरन्तर रहो तो बाकी सब महान् अति दुष्कर कार्य भगवती माता की कृपा से बड़ी आसानी से हो जायेगा। पर ये तीन काम, ये तीन प्रयत्न तुम्हें ही करने हैं, उन्हें तुम्हारे लिए कोई और नहीं करेगा। ये भी तुम्हारी जगह भगवान् ही कर देंगे यह मानना भयंकर मूर्खता है।

यह ऐसा ही है जैसा कि यदि तुमने यहाँ से पांडीचेरी जाना हो तो तुम रेल में बैठकर वहाँ आसानी से पहुँच सकते हो, पर तीन काम तुम्हें अपने आप करने होंगे। एक तो पांडीचेरी की गाड़ी जब जाती है तब स्टेशन पर पहुँच जाओ, यानी वहाँ जाने वाली गाड़ी को ही पकड़ो, यह हुई अभीप्सा। घर का त्याग करो

तथा टिकट खरीदने में जो रुपये देने चाहियें उन्हें दे दो, यह हुआ त्याग। और फिर उस गाड़ी में ठीक तरह बैठ जाओ, अपने आपको उसे समर्पित कर दो। ये तीन कार्य तुम स्वयं कर लोगे तो बाकी का सब काम अपने आप हो जाएगा। गाड़ी तुम्हें तीन दिन में ही 40 मील प्रति घन्टे की रफतार से दौड़ती हुई पांड़ीचेरी पहुँचा देगी, जहाँ कि तुम यदि अपने आप पैदल चलते तो तीन महीने में भी पहुंचना कठिन होता। यह याद रखना चाहिए कि ये तीन प्रयत्न केवल प्रारम्भ में एक बार ही नहीं किन्तु लगातार करने हैं, जब तक कि तुम पांडीचेरी न पहुँच जाओ। तुम में लगातार यह अभीप्सा रहनी चाहिए कि तुम ने पांडीचेरी पहुँचना है, नहीं तो रास्ते में बहुत से जंकशन आते हैं, तुम यदि कहीं दूसरी जगह जाने वाली गाड़ी में बैठ जाओगे या कहीं जब गाड़ी बदलनी हो तब यदि गाड़ी बदलने में गलती करोगे तो पांडीचेरी नहीं पहुँचोगे। इसी तरह तुम्हें रेल यात्रा की विरोधी बातों का त्याग भी लगातार करना होगा, रेलवे के अनियमों को छोड़ना होगा, जैसे यदि तुम कहीं पानी लेने उतरो पर सीटी बजने पर फिर चढ़ न जाओ, या यदि जब टिकट दिखाना है तब टिकट न दिखाओ या कुछ और अनियम करो तो तुम बीच में ही रह जाओगे या उतार दिये जाओगे। और फिर यदि तुम गाड़ी को समर्पित नहीं किये रहोगे, रेल में ठीक तरह बैठे नहीं रहोगे, उछल-कूद करोगे या मूर्खतावश दरवाजे खोल दोगे तो तुम चलती गाड़ी में से गिर पड़ोगे और तुम्हारी हड्डी-पसली का भी पता न चले, ऐसे विनाश को प्राप्त हो जाओगे। सतत समर्पण न किये रखने का ऐसा भयंकर परिणाम भी हो सकता है। जितनी ही तेज सवारी का तुम आश्रय ले रहे हो उतने ही अधिक समर्पण किये रहने की आवश्यकता है। पर यह ठीक है कि पांडीचेरी जाने की अभीप्सा, अनियमों का त्याग और रेल पर ठीक तरह बैठे रहना केवल तीन प्रयत्न ही यदि तुम करो तो बाकी सब अपने आप हो जायगा। जहाँ-जहाँ लाइनें बदलती हैं, वहाँ काँटे अपने आप बदल दिये जायेंगे, जिससे तुम्हारी गाड़ी सदा ठीक दिशा में जाय। रास्ते में आने वाले सैंकड़ों स्टेशनों के झंडी दिखाने वाले से लेकर स्टेशन मास्टर तक, सबके सब कर्मचारी तुम्हारी सेवा में तुम्हारे बिना जाने सब कार्य करते रहेंगे, कोयला झोंकने वाला और ड्राईवर और गार्ड दिन रात तुम्हारे लिए सब काम करते रहेंगे, तुम्हें अन्य कुछ भी फिकर नहीं करनी होगी। तुम रास्ते के दृश्यों को देखते हुए बढ़ते चले जाओगे। इसी तरह भगवान् की असीम कृपा से, भगवती माता की अनन्त शक्ति से बाकी सब कुछ अपने आप होता जायगा, जिसकी तुम कल्पना भी नहीं कर सकते, जिसे तुम समझ भी नहीं सकते, वह सब तुम्हारी अनुकूलता में लगातार होता जायगा, यदि तुम केवल अभीप्सा, त्याग और समर्पण ठीक तरह करते रहोगे। इसलिये इन तीन बातों को अच्छी तरह अपना लो।

गुरुकुल-जीवन के जो पहले तीन अंग हैं (चौथा जो ध्येय है उसे अंग रूप

से न गिनना ठीक ही है) उनके द्वारा तुम श्रीअरविन्द के कहे इन तीनों प्रयत्नों का स्मरण रख सकते हो। गुरु तुम्हें तुम्हारी अभीप्सा का सतत स्मरण कराने वाला हो। तुम्हारा गुरु से सम्बन्ध अर्थात् तुम्हारी शिष्यता साक्षात्समर्पण रूप हो और ब्रह्मचर्य तुम्हें विरोधी शक्तियों का त्याग कराता जावे। इस तरह यदि तुम यह त्रिविध प्रयत्न जारी रखोगे तो भगवान् की कृपा से जिस दीक्षा का आज तुम आरम्भ कर रहे हो, वह अवश्य सफलतापूर्वक पूर्ण होगी। तुम्हारी दीक्षा सत्य को प्राप्त कराने वाली होगी। परमेश्वर तुम पर कृपा करें।

आचार्य का संन्यास

यह लेख 'गुरुकुल' के 13 मई 1938 अंक में छपा था। इसके लेखक श्री पंडित केशवदेव जी ज्ञानी (मद्रास) हैं। इसमें है आचार्य जी के संन्यास आश्रम में प्रवेश का आँखों देखा हाल।

—सम्पादक

जीवन में कभी-कभी कुछ क्षण ऐसे आते हैं जिन्हें हम लाख कोशिश करें, नहीं भुला सकते। ऐसे ही क्षण उस दिन आए जिस का वर्णन यहाँ करने लगा हूँ।

13 अप्रैल। प्रथम वैशाख कुम्भ का दिन। मेषसंक्रान्ति। प्रातः काल सूर्योदय से कुछ पूर्व। गंगा के उस पार और हिमालय की छाया में। शान्ति का अखण्ड साम्राज्य था। समीप बहती हुई गंगा की धारा भी निःशब्द थी। ऐसे शुभ मुहूर्त में आचार्य देवशर्मा जी ने श्री स्वामी सत्यानन्द जी द्वारा संन्यासाश्रम में प्रवेश किया।

यों तो मुझे लगभग दो तीन मास से इस बात का पता था कि श्री आचार्य जी कुम्भ पर संन्यास लेंगे। परन्तु………। हां! जब उत्सव के दिनों में श्री आचार्य जी को कुछ दिनों के लिए मौन धारण करते तथा केवल दुग्ध पान करते देखा तब उनकी तैयारी का पूरा भान हुआ। उन दिनों वे एक विशेष मानसिक अवस्था में से गुजरते हुए प्रतीत हुए। शान्ति तो थी परन्तु उसके साथ कुछ "बोझ" (Depression) सा भी प्रतीत हुआ। संभव है यह मेरा भ्रम हो और शायद प्रत्येक महान् परिवर्तन से पूर्व ऐसी अवस्था स्वभावतः आती हो। अस्तु।

यथाविधि अग्निहोत्र के पश्चात् श्री आचार्य जी ने निम्न वाक्य का उच्चारण किया—

"पुत्रैषणा वित्तैषणा लोकैषणा मया परित्यक्ता। मत्तः सर्वभूतेभ्योऽभयमस्तु स्वाहा"

अर्थात्, मैंने पुत्र की इच्छा, धन की इच्छा तथा कीर्ति की इच्छा छोड़ दी है। मुझसे सब प्राणियों को अभय हो।

पुनः नाभिमात्र जल में प्रवेश करके गायत्री जाप और "भूः" "भुवः" "स्वः" द्वारा तीनों लोकों को साक्षी करके समस्त प्राणियों को अभय दान का वचन दिया।

फिर जो पूर्वाश्रम के चिह्न शिखा व यज्ञोपवीत थे, उन्हें जल देवता के अर्पण कर दिया।

तत्पश्चात् श्री स्वामी सत्यानन्द जी ने उन्हें जल से बाहर निकाला और नवीन वस्त्र पहिनने को दिये।

इस दिन से श्री आचार्य जी संन्यासी हुए। अब तक जिस अग्नि का उन्होंने बाहर प्रज्वलन किया, अब वह अन्दर जलेगी। शायद उसी की प्रतिच्छाया संन्यासी के काषाय वस्त्रों में दिखाई देती है।

श्री आचार्य जी ने तुरीयाश्रम के लिये अपना नाम 'अभय देव' चुना। सामान्यत: संन्यासियों के नाम 'आनन्द' अन्त वाले होते हैं परन्तु शायद उन्हें आनन्द की अपेक्षा देव-पद-प्राप्ति में अधिक पूर्णता प्रतीत हुई हो।

समाप्ति पर श्री स्वामी सत्यानन्द जी ने निम्न कुछ शब्द कहे—

"अभय देव! आज तुमने संन्यासाश्रम में प्रवेश करते समय तीन एषणाओं को छोड़ने की प्रतिज्ञा की है। विवाह तुमने किया नहीं था इसलिये पुत्रैषणा छोड़ना तुम्हारे लिये आसान है। धन की कामना का त्याग भी तुम्हारे लिए इतना कठिन नहीं। परन्तु लोकैषणा के छोड़ने में प्राय: कुछ कठिनता अनुभव होती है। न जाने किन-किन रूपों में यह अन्तर्निहित होती है। विशेषत: संस्थाओं के कार्य करते समय इसके प्रबल होने का अधिक भय है। तुम समझदार हो। मुझे आशा है तुम अपनी प्रतिज्ञाओं का पालन करोगे। मंगलमय भगवान् तुम्हें बल दें, तुम्हारी सहायता करें।"

समाप्त करने से पूर्व कुछ स्मृतियाँ लिखने की इच्छा है ताकि वह देश काल के अनेक प्रस्तरों के नीचे दब कर सदा के लिए खो न जाएँ।

प्रथम—पं० वेदव्रत जी तन्मय होकर पुरुषसूक्त का पाठ कर रहे थे। श्री आचार्य जी दत्तचित्त होकर सुन रहे थे। मैं आहुति दे रहा था। जिस समय—

"वेदाहमेतं पुरुषं महान्त मादित्य वर्णं तमसः परस्तात्।"

का मन्त्र आया मैंने आँखें उठाकर श्री आचार्य जी के मुख की ओर देखा। वहाँ एक ज्योति थी। उसी आदित्य वर्ण महान् पुरुष की आभा थी। अन्त: अग्नि भली-भाँति प्रज्वलित हो चुकी थी और बाहर भी सूर्य भगवान् हिमालय के पीछे से अपनी सुनहरी किरणें चारों दिशाओं में फैला रहे थे।

द्वितीय—मुझे गंगा से विशेष प्रेम है और हरिद्वार तथा ऋषिकेश से तो जन्म-जन्मान्तर का सम्बन्ध प्रतीत होता है। गंगा का किनारा हो। हिमालय का दामन हो। उषाकाल का समय और शान्त मूर्ति 'अभयदेव' का सामीप्य। इस पर भी संन्यास की प्रक्रिया। एक-एक करके पंच प्राण, पंच इन्द्रिय, अन्त:करण आदि की शुद्धि। तीनों एषणाओं का त्याग। प्राणिमात्र को अभय दान और फिर पुरुष सूक्त के पाठ द्वारा भगवान् के विराट् रूप का दर्शन। क्या समां था! क्या दशा थी! मंत्र आया—

"यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञ मतन्वत।
वसन्तोऽस्यासी दाज्यं, ग्रीष्म इध्म, शरद्धविः।"

अर्थात् विराट् पुरुष की हवि से देवताओं ने यज्ञ किया उसमें वसन्त घृत बना, ग्रीष्म ऋतु समिधायें तथा शरत् काल सामग्री।

यों तो इस मंत्र का अनेकों बार पाठ किया है परन्तु उस समय यह मंत्र ऐसा प्रतीत हुआ मानों यह एक अद्भुत कल्पना है। ऋषि की दृष्टि कितनी विशाल है! वह कितना ऊपर उठ चुका है! व्यष्टि की सीमाओं को पार करके समष्टि में समा गया है। मेरा यह छोटा सा पक्षी भी अपने घोंसले से निकलकर विशाल अन्तरिक्ष में उड़ने लगा। कुछ समय के लिए सुध-बुध भूल सी गई। एक अद्भुत शान्ति व आनन्द का अनुभव सा हुआ। परन्तु पक्षी अभ्यास न होने के कारण जल्दी ही वापिस लौट आया और अब बारबार वहाँ जाने के लिए छटपटाता है।

तृतीय—संन्यास के समय श्री आचार्य जी के पिता जी भी हमारे साथ थे। वे एकाग्र होकर सारी 'विधि' को देख रहे थे। उनके दिल पर क्या बीती होगी, इसे तो वे ही जानें परन्तु इतना स्पष्ट था कि उन्हें अपने सुपुत्र पर गौरव है। संभव है उनके हृदय में भी लहर उठी हो कि संन्यास तो पहिले मुझे लेना चाहिये था। फिर भी उन्हें सन्तोष था कि जिस महान् कार्य को मैं नहीं सम्पन्न कर सका, उसे श्री अभयदेव ने किया।

संन्यास की दीक्षा समाप्त हुई। हम सब उठे। आचार्य जी अभी बैठे थे। मानो कुछ देर और वहीं बैठे रहना चाहते हैं। उनके चेहरे पर आनन्द था। आंखों में मस्ती थी। पिछले दिनों का 'बोझ' (Depression) जिसका मैंने ऊपर जिक्र किया है, अब उठ चुका था। उसके स्थान पर एक असीम शान्ति का राज्य था। श्री स्वामी सत्यानन्द जी कुम्भ की शाहियों की धूमधाम देखना चाहते थे परन्तु श्री आचार्य अभयदेव जी को अन्दर ही एक अजीब नजारा दिखाई दे रहा था इसलिये वे हमसे विदा होकर, वन-भ्रमण करते हुए गुरुकुल की पुरानी भूमि की ओर चले गये।

बना,

ऐसा
है !
समा
रिक्ष
त व
पिस

थे।
गी,
भव
था।
उसे

थे।
ांखों
जिक्र
ा।
रन्तु
लिये
वले

